TEXT CROSS WITHIN THE BOOK ONLY

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_186443

UNIVERSAL
LIBRARY

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H579.95412 V64B Accession No. H3245

Author વિદ્યાર્થી, કાનેતા પ્રસાદ

Title વિદ્યા તે આંદોલન

This book should be returned on or before the date last marked below.

[सामाजिक एवं सांस्कृतिक शोध परिषद् द्वारा आयोजित सेमिनार के आधार पर प्रस्तुत]

बिहार के आदिवासी

"सामाजिक एवं सांस्कृतिक अध्ययन"

सम्पादक

डा० ललिता प्रसाद विद्यार्थी

सहायक मण्डल

डा० डी० एन० मजूमदार

श्री सच्चिदानन्द

श्री जगदीश त्रिगुणायत

प्रकाशक—

कॉलेज सेंटर

पटना—४

Published by:—
T. N. Dube
for M/s College Centre
Bookseller & Publisher
Patna—4

All right reserved. This book or parts there of, may not be reproduced in any form, by mimeograph or any other means without permission in writing. Application with regard to reproduction should be made to the editor.

Printed by :—
Indian News papers & Publication
(Private) Ltd., Patna.
&
Sant Mudranalaya, Kadamkuan,
PATNA—3.

बिहार केशरी डा० श्रीकृष्ण सिंह

को

सादर समर्पित

प्राक्कथन

मानव इतिहास के आदिकाल से ही मनुष्य जाति का अध्ययन एक रोचक विषय रहा है। हमेशा से यह जानने का दिलचस्प विषय रहा कि मनुष्य क्या सोचता है, नाना प्रकार की वस्तुओं के प्रति क्या धारणा बनाता है और अपनी संस्कृति को किस प्रकार उत्तरोत्तर विकसित करता जाता है।

मानव विज्ञान हमें मानव जाति की संस्कृति की उत्पत्ति और विकास से अवगत कराता है। यह हमें बतलाता है कि किन-किन लोगों के द्वारा मानव संस्कृति का निर्माण हुआ है, किन-किन श्रेणियों से संस्कृति गुजरी है और एक संस्कृति विशेष की कौन-कौन मुख्य मूलभूतताएँ हैं।

प्रकृति ने जिस अवस्था में 'होमो सेपियन' का जन्म दिया, यह दूसरे पशुओं से अधिक भिन्न नहीं था। प्राणी-संसार के विकास क्रम में कितने प्राणी पैदा हुए और कितने लुप्त भी हो गए। जो जीवित भी हैं, वे ठीक उसी अवस्था में अभी तक प्रवृत्त हैं जिसमें प्रकृति ने उन्हें पैदा किया था तथा उसी वातावरण में हैं जिसमें प्रकृति ने उन्हें रखा था। परन्तु 'होमो सेपियन" जो हमारे पूर्वज हैं प्रकृति प्रदत्त साधनों को दक्षतापूर्वक उपयोग में लाए। उन्होंने अपनी प्राकृतिक अवस्थाओं में एवं भौगोलिक वातावरण में उत्तरोत्तर परिवर्तन लाए। मनुष्य की विशेषता एवं पराक्रम इसी में निहित है कि प्रकृति ने जो कुछ भी दिया, उसमें अपनी मानसिक योग्यता एवं दक्षता के बल पर उसमें परिवर्तन लाया और अपनी सांस्कृतिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उसका उपयोग किया। इन्हीं विशेषताओं के कारण वह अन्य पशुओं से भिन्न है। प्राणियों की विकास श्रेणी में बुद्धिमान समझे जाने वाले पशु जैसे बंदर, लंगूर

नोट—सामाजिक एवं सांस्कृतिक शोध परिषद्, बिहार के उद्घाटन समारोह पर किये गये भाषण।

आज भी वैसी ही अवस्था में हैं जैसे हजारों हजार वर्ष पूर्व थे। परन्तु मनुष्य ने जो प्राणी विज्ञान के अनुसार इन पशुओं का उत्तराधिकारी समझा जाता है, अपने शारीरिक तथा मानसिक साधनों को कुशल बनाने में इतनी बुद्धि की है कि वह एक अपनी संस्कृति का निर्माण करने में सफल हुआ है। इसीलिए मनुष्य का अध्ययन प्राणी-विज्ञान के दृष्टिकोण से रोचक होते हुए भी विशेषकर उसका सांस्कृतिक रूप ही है जो सबसे ज्यादा महत्वपूर्ण है तथा मानव शास्त्रज्ञों द्वारा विशेष अध्ययन का विषय है।

मानव संस्कृति के वैज्ञानिक अध्ययन का प्रारम्भ अन्य विषयों की अपेक्षा हाल ही में प्रारम्भ हुआ है। यह कहा जा सकता है कि जहां विद्वान बाह्य एवं भौतिक वस्तुओं के अध्ययन में बहुत आगे बढ़ गये उन्होंने अपनी तथा अपने अन्दर की चीजों जैसे अपनी चेतना का वैज्ञानिक अध्ययन देर से शुरू किया है और इस क्षेत्र में पिछड़े हैं।

मैंने संस्कृति, सभ्यता, उत्थान तथा इसी प्रकार के महत्वपूर्ण शब्दों, जो मनुष्य के द्वारा अभी तक पंजीयित समझी जाती है, उनकी कितनी परिभाषायें तथा वर्णन देखे हैं। वस्तुतः संस्कृति तथा सभ्यता की परिभाषा देना कठिन है। अपने स्वाभाविक साधन, बाहरी तथा भीतरी, दोनों को कुशलतापुर्वक चलाकर, पशु जीवन के मूल सिद्धान्तों में कोई भी वृद्धि लाकर आत्म कथन तथा आत्म निर्वाह के लिए जो कुछ मनुष्य बनाने में सफल हुआ, संस्कृति का मापदंड कहा जा सकता है। यही सब योग संस्कृति है, चाहे यह जिस क्षेत्र तथा जिस किसी भी रूप में हो। चूंकि संस्कृति का अर्थ प्राकृतिक शक्तियों तथा साधनों की दक्षता है इसलिए यह कुछ मात्रा में यंत्र तथा विषय और वृद्धि का निश्चित और सचेत उपयोग स्वीकार करता है। वस्तुतः सभी संस्कृति, बाहर की विशेषताओं तथा अपने भीतर की चेतना शक्ति के द्योतक हैं।

शताब्दियों तक मनुष्य ने यही सोचा, कि वह विश्व का केन्द्र-विन्दु है, उसका निर्माण स्वतन्त्रतापूर्वक अपने आप हुआ है तथा दुनिया उसके लिये एक भोग की वस्तु है। परन्तु लगभग गत दो सौ वर्षों से और विशेषतः डारविन के "जातियों की उत्पत्ति" (औरीजिन ऑफ स्पीसीज) के प्रकाशन के पश्चात् उस अनुकूल

अन्ध विश्वास का अन्त हो गया। मनुष्य अब जान गया है कि विकास के क्रम में वह सबसे अधिक बिलम्ब से आनेवाला एक नया जीव है, तथा वह न केवल पशुओं के ही बल्कि वनस्पति राज्य के कन्धों पर खड़ा है, अर्थात् उसका सबसे ऊँचा स्थान है। अब तक उसे इसका बोध हो गया है कि जीवन अवश्य ही "अभिनो तेजाब" से शुद्ध हुआ होगा जो अब "प्रोटीन" के निर्माण का एक मूल वस्तु समझा जाता है।

मनुष्य के ज्ञान में और भी अधिक वृद्धि हुई है तथा समाज-शास्त्र और नृत्तत्व विज्ञान इसी के द्योतक हैं। फिर भी, शताब्दियों तक मनुष्य ने यही सोचा कि समाज तथा सामाजिक सम्बन्ध आक्समिक है। परन्तु अब मनुष्यों को यह विदित हो गया है कि कुछ ऐसे नियम हैं जिसके अनुसार समाज का निर्माण हुआ और इसका विकास भी नियमों के आधार पर ही होता है। उसी प्रकार अब हमलोगों ने यह भी जान लिया है कि जिसे हमलोग "अपनी संस्कृति" होने का दम्भ करते हैं उसका उद्गम आदि मनुष्य से हुआ था। यह हजारों वर्षों से एक अत्यन्त उद्यमशील तथा कष्ट साध्य कालक्रम रहा है तथा हमलोग, जो कि अब इस क्रम के अन्त में स्थित हैं अपने को "सूर्यास्त का सभ्य जीव" कहते हैं। इसलिये कहना चाहिये कि हमलोग, सभी आदिमजातीय तथा दूसरी प्राचीन संस्कृतियां जो अधिकतर बीत चुकी है तथा जो अब भी दुनियां के कुछ प्रकीर्ण प्रदेशों में अध्ययन के लिये मिलती है, उन सभी के ऊपर खड़े हैं। यदि डारविन के सिद्धान्त को यथार्थता हमलोगों को यही बतलाती है कि हमलोगों का सभी जीवों से निकटतम सम्बन्ध है तो नृत्तत्व विज्ञान को भी यह स्पष्ट कर देना चाहिये, कि प्रत्येक आदिम जाति आत्मा तथा बुद्धि की दृष्टि से हमलोगों के सगोत्र हैं तथा "होमो सेपियन" वैज्ञानिक रूप से मनुष्य और मनुष्य के बीच कोई विभाजन स्वीकार नहीं कर सकता।

यह एक ऐसी विचारधारा है जो हमलोगों को नृत्तत्व विज्ञान का एक अच्छा छात्र बना सकती है। जब तक हम इस मूल दृष्टिकोण को न समझेंगे इस विषय का निष्पक्ष तथा वैज्ञानिक अध्ययन असम्भव है। इसके बिना हमलोगों का मानसिक दृष्टि-

कोण, निजी विचारधारा, चरित्र सिद्धान्त की निजी धारणायें, भौतिक तथा नैतिक स्तर तथा सबसे बढ़कर 'आत्म श्रेष्ठता ग्रन्थि" दूषित होती रहेंगी।

हमने पाया है कि नृत्तत्व विज्ञान द्वारा मनुष्य और उसकी प्राचीन संस्कृति का अध्ययन न केवल रोचक बल्कि लाभदायक भी रहा है। यह हमारी आधुनिक संस्कृति पर भी काफी प्रकाश डालता है जिसे हम सबसे ऊँचा कहते हैं। मानव शास्त्रज्ञों के लिए यह भी पूर्णतः विचारणीय है कि यदि कुछ शताब्दियों के बाद मनुष्य जातियों में एक नयी संस्कृति का आविर्भाव होता है तो हमलोग एक प्रकार की निम्न सभ्यता के रूप में देखे जायेंगे। उस सभ्यता की दृष्टि में हमारी वर्त्तमान सभ्यता वह समझी जायगी जो मुरदे पर ही पलती थी, जो कुछ के लिए लाखों को गुलाम बनाती थी, जो अहम्-भावना से परिपूर्ण थी, तथा जो प्राकृतिक नियमों का बिना किसी प्रयोजन के ही तरह-तरह से उल्लंघन करती थी। क्या हमलोग अपने पूर्वजों को जो मनुष्यों की बलि, पाखंडियों की मनुष्य यंत्रणा तथा खून को सर्द कर देनेवाले नर संहार में लगे रहते थे, घृणा की दृष्टि से नहीं देखते? हमें आश्चर्य नहीं करना चाहिये, यदि कुछ वर्षों में ही मनुष्य जाति हिरोशिमा की बमवारी जैसे कार्यकलापों को मानवता के विरुद्ध सबसे घोर और गर्हित पाप के रूप में देखने लगेगी।

इसलिए नृत्तत्व विज्ञान का अध्ययन न केवल हमलोगों को वर्त्तमान मानसिक सुझाव देने के लिए, प्रत्युत् यह प्रभावपूर्ण विचार भी देने के लिए हो कि हमलोग भी जीवन नाटक के एक भाग हैं तथा यह नये प्रकार के विकास होने पर समाप्त हो जायगा।

इस प्रकार संस्कृति एवं जीवन को एक क्रम समझना चाहिये तथा हमारे वे भाई-बन्धु जो आज पिछड़े हुए समझे जाते हैं, हमारे अपने सगे सम्बन्धी हैं, जिनकी वृद्धि कुछ ऐसी परिस्थिति के कारण रुक गई है जिसपर उनका कोई नियंत्रण नहीं था। हमलोगों को हमेशा यह याद रखना चाहिये कि हमलोग भी उसी अज्ञात तथा अचेतन के हाथ में उसी प्रकार एक पुतली मात्र हैं जिस प्रकार हमारे वे भाई-बन्धु।

यदि कोई, आदिवासी कहे जाने वाले लोगों का अध्ययन करता है तो उसे यह पता चलेगा कि उनलोगों के जीवन में बहुत सी ऐसी महत्वपूर्ण वस्तुएँ हैं जिसे हमलोग तथाकथित सभ्यता की वेदी पर बलिदान कर चुके हैं तथा उसी में हमें इतना गर्व होता है। उनलोगों के पास बहुत से अवरोध भी हैं परन्तु उनमें बहुत तरह की वैसी रुकावटें नहीं होती हैं जो हमारे मस्तिष्क को विचारों तथा धारणाओं का द्वन्द युद्ध क्षेत्र (अखाड़ा) बनाते हैं, तथा जिसका हमलोगों ने स्वयं निर्माण किया है और जिनके हाथों अपने को बेच भी दिया है। सचमुच विचारों की गुलामी मानव इतिहास में सबसे गर्हित गुलामी रही है। उसी प्रकार जीवन का सरल आनन्द और प्यार तथा नृत्य और गीत जिसे आदिवासी इतनी आसानी और स्वाभाविक रीति से प्रकट करते हैं, हमलोगों, सभ्य मानव ने, खो दिया है। यह अध्ययन इसी प्रकार के और भी बहुत से महत्व-पूर्ण दृष्टिकोण से उपयोगी समझा जाता है। यह अध्ययन न केवल मनुष्य और उसकी संस्कृति के ऐतिहासिक विकास के लिए ही, बल्कि विकास के इन नियमों के दृष्टिकोण से भी अत्यन्त महत्वपूर्ण है। विकास की ऐसी जानकारी ही, हमें मानव मस्तिष्क, तथा भूत, वर्त्तमान. और भविष्य में उनके विकास के रहस्यों पर प्रकाश डाल सकती है।

—आर० आर० दिवाकर
भूतपूर्व राज्यपाल
बिहार

बिहार * आदिवासी

जनसंख्या घनत्व का मानचित्र

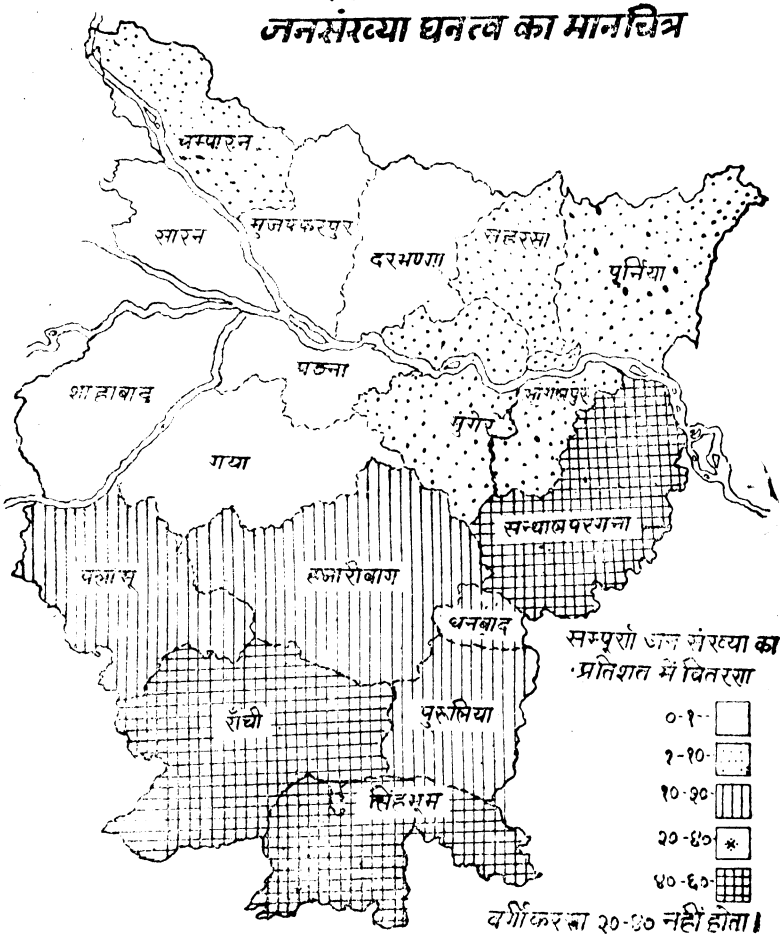

भूमिका

कई वर्षों से मेरी इच्छा थी कि बिहार की जनजातीय संस्कृति सम्बन्धी एक पुस्तक लिख कर, जनसाधारण को इनकी विशेषताओं से अवगत करूँ। परन्तु, इतने आदिवासियों से और उनके अनेकानेक पहलू पर किसी एक व्यक्ति का अधिकार सम्भव नहीं। अतएव सामाजिक एवं सांस्कृतिक शोध परिषद् में यह निर्णय किया गया कि बिहार की जनजातियों पर एक सेमिनार किया जाय और बिहार की विभिन्न जनजातियों से सम्बन्धित विद्वानों को इस सेमिनार में निबंध पाठ करने के लिए आमंत्रित किया जाय। परिषद् के तत्वावधान में १९५५ की जुलाई में एक सप्ताह के सेमिनार की आयोजना हुई। इस सेमिनार में लब्धप्रतिष्ठ मानव शास्त्रज्ञों के अतिरिक्त सरकारी कर्मचारी, समाज सेवी, पत्रकार तथा अन्य विषयों के प्राध्यापक वृंद ने सक्रिय सहयोग प्रदान किया।

श्री रंगनाथ दिवाकर उस समय के बिहार के राज्यपाल ने इस सेमिनार का उद्घाटन किया। श्री कृष्णवल्लभ सहाय, भूतपूर्व मंत्री बिहार सरकार, श्री भोला पासवान, मंत्री कल्याण विभाग, श्री वीरचन्द्र पटेल, श्री दिगम्बर राम, श्री बी० एस० गुहा, निर्देशक, जनजातीय शोध संस्थान, राँची तथा प्रोफेसर निर्मल कुमार बोस इत्यादि विभिन्न बैठकों के सभापति रहे। इनके अलावा श्री के० के० ल्यूवा, असिस्टेन्ट कमिश्नर आफ सेड्यूल्ड कास्ट्स एण्ड ट्राइब, भारत सरकार; श्री नारायण जी, मंत्री आदिम जाति सेवा मंडल; डा० जे० एन० सरकार, भूतपूर्व अध्यक्ष इतिहास विभाग, रांची कालेज; श्री वृंद विहारी वर्मा, सहनिर्देशक बिहार जनजातीय शोध सस्थान; श्री डोमन साहु सम्पादक, होड़ सोम्बाद; श्री प्रोफेसर सच्चिदानन्द, भूतपूर्व अध्यक्ष मानव विज्ञान, विभाग, श्री जगदीश त्रिगुणायत, श्री ए० बी० शरण, श्री सच्चिदानन्द सहाय, (स्ट्रेटसमैन, राम रतनराम, एम० एल०ए० आदि ने अपने वक्तव्यों या निबन्धों द्वारा सेमिनार की सफलता में योगदान दिया। डा० डी० एन० मजूमदार, अध्यक्ष मानव विज्ञान,

विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय और दुमका से श्री गोपाललाल वर्मा विशेष कारणवश सेमिनार में उपस्थित तो नहीं हो सके परन्तु उनके निबंध सेमिनार की सफलता में योगदान दिया।

तो प्रस्तुत पुस्तक अधिकांशतः उसी परिषद् में पढ़े गए निबंधों का संग्रहमात्र है। मैंने उन निबन्ध-पुष्पों को चुनकर एक माला में गुम्फित मात्र किया है।

यों तो प्रत्येक निबन्ध की अलग-अलग विशेषताएँ हैं जो लेखक विशेष के क्षेत्रिय अनुभव, विषय की गहनता और उनकी शैली के परिचायक हैं। परन्तु जहां तक सम्भव हो पाया है इन लेखों को सरल, सरस और वैज्ञानिक सूक्ष्मताओं से मुक्त रखा गया है। यद्यपि प्रत्येक लेख मौलिक हैं और क्रमशः विषयों के विशेषज्ञों द्वारा लिखे गये हैं, फिर भी लेखकों ने पूर्व लिखित उपयुक्त साहित्य से सहायता ली है। सम्भवतः विषादग्रस्त प्रश्नों तथा ऐतिहासिक समस्याओं पर विशेषतः न कोई विचार किया गया है और न उन पर निजी मत ही प्रकट किए हैं। हाँ, उनकी ओर संकेत तो कर ही दिया गया है।

अन्त में मैं उन सभी मित्रों और शिष्यों को हृदय से धन्यवाद देना चाहता हूं जिन्होंने परिषद् के सेमिनार की व्यवस्था और फिर इस पुस्तक की पांडुलिपि तैयार करने में सहायता प्रदान की है। विशेषतः मैं श्री केशरी नन्दन सहाय एम० ए० और श्री वैद्यनाथ सरस्वती एम० ए० का आभारी हूं, जिन्होंने अंगरेजी के कुछ लेखों के अनुवाद करके हमें विशेष सहायता पहुंचायी है। मैं उन सभी लेखकों और सज्जनों का ऋणी हूं जिन्होंने अपने बहुमूल्य निबंध और समय देकर इस पुस्तक के निर्माण में योगदान दिया है और परिषद् के कार्य-क्रम को आगे बढ़ाया है।

राँची
२—७—६०

{ सम्पादक
ल० प्र० विद्यार्थी

संक्षिप्त परिचय

डा० डी० एन० मजुमदार : लगभग दो सौ शोध निबन्धों और ग्यारह पुस्तकों के लेखक धीरेन्द्र नाथ मजुमदार, लखनऊ विश्वविद्यालय के मानव विज्ञान विभाग के अध्यक्ष थे। इन्होंने १९३५ में केम्ब्रीज विश्वविद्यालय से पी-एच० डी० की उपाधि प्राप्त की और १९४० ईस्वी में नेशनल इंस्टीच्यूट के 'फेलो' निर्वाचित हुए। मानव विज्ञान सम्बन्धी विषयों पर महत्वपूर्ण शोध करने की प्रशंसा में इन्हें कितने स्वर्ण पदक प्रदान किए गये। इन्होंने कितने ही अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों में भाग लिये और कार्नल तथा लंदन विश्वविद्यालयों में दर्शक प्रोफेसर के पद पर रहे।

डा० मजुमदार की प्रमुख पुस्तकों में 'अफेर्य आफ ए ट्राइब्स' एक हैं जो बिहार की 'हो' जन जाति के बारे में लिखी गयी है। डाक्टर मजुमदार को हाल ही में (१९५८) एशियाटिक सोसाइटी आफ बंगाल ने उनके महत्वपूर्ण वैज्ञानिक शोध की प्रशंसा में स्वर्ण पदक प्रदान किया है। प्रोफेसर मजुमदार का देहान्त ३१ मई को हुई।

१. श्री सच्चिदानन्द एम० ए० (लंदन) : श्री सच्चिदानन्द इस समय भारत सरकार के सामुदायिक विकास मंत्रणालय के अन्तर्गत समाज शिक्षा आयोजन प्रशिक्षण केन्द्र [जनजातीय] के निर्देशक हैं। बी०ए० और एम०ए० में प्रथम स्थान पाने वाले और पांच स्वर्ण पदकों के प्राप्तकर्त्ता श्री सच्चिदानन्द इतिहास में एम० ए० की डिग्री लेने के बाद ही १९४८ में पटना कालेज में प्राध्यापक नियुक्त हुए। १९५० में ये मानव विज्ञान के अध्ययन के लिए बिहार सरकार द्वारा लंदन भेजे गये जहाँ इन्होंने नृत्तत्व विज्ञान में एम० ए० की उपाधि प्राप्त की। लंदन से लौटने के बाद श्री सच्चिदानन्द राँची कालेज के मानव विज्ञान के अध्यक्ष नियुक्त हुए। १९५७ में इन्होंने मुंडा और उराँव के बीच सांस्कृतिक परिवर्त्तन नामक विषय पर शोध का निर्देशन भी किया।

श्री सच्चिदानन्द ने रांची के आदिवासियों विशेषतः मुंडा के बीच क्षेत्रीय अध्ययन किया है और उनके शोध निबन्ध मैन इन इंडिया, जरनल आफ बिहार रिसर्च सोसाइटी, इस्टर्न अन्थ्रोपोलोजिस्ट, बन्य जाति, समाज और जर्नल आफ सोशल रिसर्च में प्रकाशित हुए हैं।

२. डा० ललिता प्रसाद विद्यार्थी : इस समय बिहार विश्वविद्यालय के मानव विज्ञान विभाग के अध्यक्ष हैं। मानव विज्ञान की स्नातकोत्तर शिक्षा के लिए बिहार सरकार ने इन्हें छात्रवृति देकर लखनऊ विश्वविद्यालय में अध्ययन के लिए भेजा। वहां इन्हें सर्वोत्तम शोधपत्र लिखने के लिए १९५३ में इन्द्रजीत सिंह स्वर्ण पदक प्रदान किया गया और उसी वर्ष ये बिहार विश्वविद्यालय में मानव विभाग के प्राध्यापक नियुक्त हुए। १९५६ में प्रोफेसर विद्यार्थी को अमरीकी सरकार द्वारा फुलब्राईट–स्मीथमंड नामक फेलोसीप शिकागो विश्वविद्यालय में मानव विज्ञान अध्ययन करने को मिला जहाँ से इन्होंने १९५८ में डाक्टर ऑफ फिलासफी की सर्वोत्तम डिग्री प्राप्त की।

डाक्टर विद्यार्थी ने बिहार के आदिवासियों का, विशेषतः सांवरिया, पहाड़िया, संताल, बिरहोर, असूर और उरांव के मध्य क्षेत्रीय अध्ययन किया है और इन जनजातियों सम्बन्धी कितने महत्वपूर्ण लेख मैन एन इंडिया, इस्टर्न आन्थ्रोपालाजिस्ट, जर्नल आफ बिहार रिसर्च सोसाइटी सांवरिया आन्थ्रोपॉलाजी टुमोरो [शिकागो] नामक शोध पत्रों में प्रकाशित किये हैं। हिन्दू सभ्यता के विशेष अध्ययन के सिलसिले में डाक्टर विद्यार्थी ने गया तीर्थ स्थान तथा वहाँ के पंडों का बड़ा रोचक अध्ययन किया है जो एशिया पब्लिसिसींग हाउस से प्रकाशित हुई है।

डा० विद्यार्थी अमेरिकन अन्थ्रोपॉलोजिकल अशोसिएशन के विदेशी 'फेलो' निर्वाचित हुए हैं और इनके वैज्ञानिक अध्ययन को प्रशंसा में शिकागो विश्वविद्यालय के सिगमा आनर सोसाइटी ने इन्हें इसकी सदस्यता प्रदान की है।

श्री अनिरुद्ध बिहारी शरण : श्री शरण को १९५२ में दिल्ली विश्वविद्यालय से मानव विज्ञान में एम० एस० सी० की डिग्री मिली और फिर उन्होंने पुनः १९५५ में इंडियाना विश्वविद्यालय से भौतिक मानव विज्ञान के विशेष अध्ययन के साथ एम० ए० की डिग्री ली। श्री शरण बिहार विश्वविद्यालय के मानव विज्ञान में १९५५ में प्राध्यापक नियुक्त हुए।

श्री शरण ने स्नात्तकोत्तर छात्र के रूप में टेहरी गढ़वाल की संस्कृति का क्षेत्रीय अध्ययन किया और उसी के आधार पर उन्होंने सोमल स्टडीज में दो लेख भी प्रकाशित किए। जर्नल ऑफ बिहार रिसर्च सोसाइटी में भी इनके एक लेख 'ए स्टडी ऑफ लैंगवेज एण्ड सिमबॉलिज्म इन हिन्दू रेलिजन' प्रकाशित हुआ है।

श्री शरण शारीरिक मानव विज्ञान के विशेषज्ञ हैं और प्रस्तुत लेख में उन्होंने बिहार के आदिवासियों की वंशीय परम्परा पर प्रकाश डाला है।

श्री जगदीश त्रिगुणायत : मुंडा क्षेत्र के खूंटी हाई स्कूल में अध्यापक हैं। इन्होंने मुंडा लोक गीतों का एक सुन्दर संग्रह 'बांसुरी बज रही है' नामक पुस्तक में प्रकाशित किया है। इस पुस्तक पर इन्हें कितने पुरस्कार मिले हैं। श्री त्रिगुणायत इस समय मुंडा लोक कथाओं के संग्रह में संलग्न हैं। हिन्दी में इनकी अन्य पुस्तकें भी प्रकाशित हुई हैं। इनके लेख साहित्य सम्मेलन पत्रिका आजकल, अवंतिका, समाज, विशाल भारत आदि पत्रिकाओं में प्रकाशित होते रहे हैं।

श्री डोमन साहु समीर : बिगत बारह वर्षों से बिहार सरकार के जन सम्पर्क विभाग की ओर से प्रकाशित संताली भाषा के साप्ताहिक समाचार पत्र होड़ सोम्वाद के आदि सम्पादक हैं। संताल ग्राम के निवासी श्री समीर को खेलने-खाने, रहने सहने नाचने-गाने, पहनने ओढ़ने, बोलने-चालने आदि से लेकर जन्म संस्कार पर्व-त्योहार, पूजा-पाठ, शादी-व्याह, मृतक संस्कार इत्यादि तक में संतालों के निकट सम्पर्क में रहने का मौका मिला है। जब ये श्री डब्लू० जी० आर्चर के सम्पर्क में आये तो संतालों के मध्य क्षेत्रीय अध्ययन का

इन्हें बिशेष अवसर और प्रेरणा मिली और तत्पश्चात् संताल को संस्कृति एवं भाषा सम्बन्धी सैकड़ों निबन्ध हिन्दी के प्रमुख पत्रिकाओं में प्रकाशित किए। इनकी प्रकाशित पुस्तकें हैं : संताली प्रवेशिका [दो भाग] संताली रामायण, संक्षिप्त राम कथा, महात्मा गांधी की जीवनी, संताली साहित्य, (गद्य-पद्य) आकिल मारसाल। (पाठ्य पुस्तक,) सोदाय गाते, (बयस्क शिक्षा सम्बन्धी) इत्यादि।

श्री वृन्द बिहारी वर्मा : दिल्ली विश्वविद्यालय से मानव विज्ञान में एम० एस-सी० की डिग्री प्राप्त करने के बाद, उरांव जन जाति के मध्य शोध करते रहे। इस समय ये बिहार सरकार द्वारा स्थापित जनजाति शोध संस्थान के सहायक पदाधिकारी हैं। उरांव के अतिरिक्त इन्होंने पहाड़िया के बीच भी क्षेत्रीय अध्ययन किया है। उरांव संस्कृति सम्बन्धी कुछ लेख इन्होंने शोध पत्रिकाओं में प्रकाशित किया है।

श्री गोपाल लाल वर्मा : श्री वर्मा बिहार सरकार शिक्षा विभाग के एक रिटायर्ड कर्मचारी हैं। १९१८ के बाद से इन्होंने बिहार के विभिन्न जिलों में निरीक्षक तथा बिहार सचिवालय के शिक्षा विभाग में सहायक लोक शिक्षा निर्देशक (योजना) इत्यादि पदों पर कार्य किये हैं। सन् १९५१ ई०में सरकारी सेवा से निवृत होने के बाद श्री बर्मा अपनी पुरानी कर्म भूमि संथाल परगने में आकर बस गये है और जीवन का सारा समय आदिवासियों तथा हरिजनों की सेवा में अर्पित कर रह हैं। संथाली भाषा पर इनका पूरा अधिकार है और इस भाषा को प्रवेशिका परीक्षा में स्थान दिलवाने का श्रेय इन्हीं को है। श्री वर्मा १९४१ ई० में ठक्कर बाप्पा के सम्पर्क में आए और तत्पश्चात् संथाल पहाड़ियाँ सेवा मंडल, देवघर की योजना बनायी जो संस्था आज भी श्री गौरीशंकर डालमिया के मंत्रित्व में आदिवासी सेवा सम्बन्धी महत्वपूर्ण काम कर रही है। श्री वर्मा का पहाड़िया जन जाति पर विशेष क्षेत्रीय अध्ययन है। इन्होंने १९५२ ई० में पहाड़िया कल्याण योजना तैयार की जिस पर बिहार सरकार कई लाख रुपए प्रतिवर्ष खर्च कर रही है।

श्री के० के० ल्यूबा : इस समय भारत सरकार के असिस्टेन्ट कमिश्नर, (क्षेत्रीय) आफ सेड्यूल्ड कास्ट्स एण्ड सेड्यूल्ड ट्राइबस के पद पर हैं। बचपन से ही ये ठक्कर बाप्पा के सम्पर्क में रहकर आदिवासियों एवं हरिजनों के बीच समाज सेवा का कार्य करते रहे हैं। बरोदा स्टेट में ये पिछड़ी जाति के लिए ऑफिसर के पद पर काम किये हैं और १९५३ ई० से इनकी नियुक्ति वर्तमान पद पर हुई है। श्री ल्यूबा आदिवासी कल्याण सम्बन्धी कितने निबन्ध पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित किये हैं।

श्री धरणीधर प्रसाद सिन्हा : राँची कलेज के मानव विज्ञान विभाग के प्राध्यापक, उत्साही क्षेत्रीय शोध कर्त्ता, शोध पत्रों के लेखक और बिहार के उद्दीयमान मानव शास्त्रज्ञ हैं। इन्होंने बिरहोर और आदिवासी हाट का विशेष अध्ययन किया है।

श्री अखिल विनय:—एक उत्साही एवं कर्मठ समाज सेवक और "हमारी आदिम जातियाँ" के एक लेखक।

विषय-सूची

विषय	लेखक	पृष्ठ
प्रथम भाग		
१ बिहार की जनजातियों की सांस्कृतिक आकृति	डा० ललिता प्रसाद विद्यार्थी	१
२ बिहार में आदिवासी संस्कृति का अध्ययन और उनकी संभावनाएं	डा० ललिता प्रसाद विद्यार्थी	१४
३ बिहार के आदिवासियों के प्रजातीय तत्त्व	श्री अनिरुद्ध बिहारी शरण	२६
४ आदिवासी साहित्य और कला	श्री जगदीश त्रिगुणायत	३५
द्वितीय भाग		
५ संताल	श्री डोमन साहु समीर	५१
६ उरांव	श्री वृन्दावहारी वर्मा	७७
७ मुंडा	श्री सच्चिदानन्द	८६
८ हो	डॉ० डी० एन० मजुमदार	१११
९ खड़िया	श्री सच्चिदानन्द	१२६
१० पहाड़िया	श्री गोपाल लाल वर्मा,	१४३
११ बिरहोर	डा० ललिता प्रसाद विद्यार्थी	१५६
तृतीय भाग		
१२ आदिवासी और उनकी समस्याएं	डा० डी० एन० मजुमदार	१८०
१३ बिहार में आदिवासी की कल्याण योजनाएं	श्री के० के० ल्यूबा,	१९७

विषय	लेखक	पृष्ठ

परिशिष्ट

१ बिहार की अनुसूचित जनजातियां : एक संक्षिप्त परिचय।	श्रीधरणीधर प्रसाद सिन्हा	२१२
२ बिहार के आदिवासियों के भाषीय सम्बन्ध	श्री अखिल विनय	२१६
३ पुस्तक सूची	बिहार के आदिवासियों सम्बन्धी	२२२
४ पारिभाषिक शब्द कोष	इस पुस्तक सम्बन्धी	२२८
५ विषय अनुक्रमणिका		२३७

बिहार की जनजातियों की सांस्कृतिक आकृति

बिहार में आज मुख्यतः तीन सांस्कृतिक स्तर के लोग रहते हैं । उत्तरी और दक्षिणी बिहार के निवासी अधिकांशतः ग्रामीण हैं जिनका मुख्य पेशा कृषि है । उनका रहन-सहन, उनका आचार-विचार, उनकी रीति-नीति में सरलता है, सीधापन है अथवा दूसरे शब्दों में यों कहें ग्रामीणता की छाप है । दूसरी आबादी आदिवासियों की है । ये अधिकांशतः छोटानागपुर और संताल परगने की पहाड़ियों, पठारों एवं जंगलों में निवास करते हैं । साधारणतः इनकी सामाजिक व्यवस्था, राजनीतिक संगठन, धार्मिक विश्वास तथा रीति-रिवाज अन्य ग्रामीण जातियों से कुछ भिन्न हैं । यंत्रीकरण के कारण एक तीसरी प्रकार की, सभ्यता यंत्र-तंत्र जोर पकड़ती जा रही है जिसे "शहरी सभ्यता' कहा जा सकता है । शहरी जीवन में औद्योगिकरण की अधिक छाप है, सामाजिक उतार-चढ़ाव का आधिक्य है तथा पश्चिमी सभ्यता की विशेषताओं का बाहुल्य है । पिछली कई सदियों से, आवागमन एवं अन्य सुविधाओं के फलस्वरूप, इन तीनों सांस्कृतिक स्तरों के बीच आदान-प्रदान बढ़ता जा रहा है, सांस्कृतिक सम्पर्क जोर पकड़ता जा रहा है और एक श्रेणी की विशेषताएँ दूसरे से मिश्रित होती जा रही है ।

बिहार में, भारत के सभी राज्यों से अधिक, जनजातियों की आबादी है । १९४१ की जन गणना के अनुसार यहाँ छोटी-बड़ी ३९ जनजातियाँ हैं जिनकी आबादी ३५,६१०५९ है । १९५१ की जन गणना के अनुसार बिहार राज्य में इन जनजातियों की कुल आबादी ४०,४९१८३ है जिनमें पुरुषों की संख्या २०, १७, ४१४ तथा स्त्रियों की संख्या २०, ३१७ ६९ है । उक्त जन गणना में बिहार राज्य की कुल आबादी ४, ०२२-५९४७ है । इस प्रकार बिहार में जनजातियों की आबादी का अनुपात कुल आबादी का १०.०६ प्रतिशत पड़ता है ।

आर्थिक व्यवस्था

विकासवादी नृतत्वज्ञों का मत है कि जब तक आदिवासियों का सम्पर्क आधुनिक सांस्कृतिक समूहों से नहीं हुआ था, उनकी आर्थिक व्यवस्था की

रूपरेखा आज की व्यवस्था से भिन्न थी। उनमें व्यक्तिगत अधिकार के स्थान पर सहकारिता की प्रणाली बलवती थी। जंगल या जमीन का अधिकारी कोई व्यक्ति नहीं, पूरी जाति होती थी। प्रत्येक कार्य-कलाप में गाँव भर के नर-नारी, बाल-युवा-वृद्ध सहयोग देते थे। विनिमय के साधन सिक्के नहीं, अन्न, पशु अथवा अन्य ऐसी ही वस्तएँ हुआ करती थी। उनकी आवश्यकताएँ कुछेक थी, उनकी अभिलाषा का स्तर निम्न था, गरीबी उन्हें अखरती नहीं थी, नाच-गान के अतिरेक में, आशावादिता के लहर में, आधुनिक सभ्यता की चमक-दमक की ओट में मस्ती से वे हंसते-हँसते जीवन यापन किया करते थे। परन्तु विकास की दौड़ में, वे भी आगे बढ़े, उन्होंने भी युग की आवाज सुनी और उनकी भी आर्थिक व्यवस्था परिवर्तित होती गयी। आज उनकी आर्थिक व्यवस्था पहले के समान न विचित्र है और न सरल ही। वे हमसे अधिक भिन्न नहीं, हाँ, पिछड़े अवश्य हैं।

आर्थिक विकास के दृष्टिकोण से बिहार की जनजातियों को चार श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है। ये चारों श्रेणियाँ आर्थिक विकास के चार स्तर की द्योतक हैं। प्रथम श्रेणी ऐसी जनजातियों की है जो अभी तक जंगल में घूमती हैं और जानवरों के मांस, कंद-मूल तथा साक भाजी खाकर जीवन यापन करते हैं। इस श्रेणी में बिरहोर का नाम उल्लेखनीय है जो हजारीबाग और रांची के जंगलों में शिकार तथा अन्य खाद्य पदार्थों की खोज में एक स्थान से दूसरे स्थान में घूमते रहते हैं। ये वृक्ष की डालियों और पत्तियों की बनी छोटी-छोटी झोपड़ियों में रहते हैं, मिट्टी के बर्तन में खाना बनाते हैं, पत्ते के दोने में अक्सर खाना खाते हैं, चटाई पर सोते हैं तथा वस्त्र के नाम पर कमर में "लंगोटा" नामक एक टुकड़ा पहने रहते हैं। इनके अतिरिक्त, बिरहोर की झोपड़ी में बन्दर पकड़ने के जाल, रस्सी तथा काठ की वस्तुएँ बनाने के औजार देखने को मिलते हैं। जानवरों में वे कुत्ता, बकरी और मुर्गे इत्यादि पालते हैं। इन्हीं सामग्रियों के साथ बिरहोर एक स्थान से दूसरे स्थान में जीविकार्जन के हेतु भटकते फिरते हैं। एक स्थान पर वे एक साल से चार साल तक ठहरते हैं। इनके अस्थायी गाँवों को टंडा कहते हैं जिनमें छः से पन्द्रह झोपड़ियाँ हुआ करती हैं। प्रत्येक प्रातःकाल में ऐसे टंडा के पुरुष झुंड बनाकर जंगल में शिकार करने, रस्सी के लिए चोप तथा काठ की वस्तुएँ के लिए लकड़ी

लाने जाते हैं। शिकार में, बन्दर पकड़ने के लिए यह जाति विशेष प्रसिद्ध है। इनके शिकार के लिए, बिरहोर विशेष प्रकार के जाल बनाते हैं। इसीका मांस उनका प्रिय खाद्य पदार्थ है। जंगल से वे किसी तरह के कंद-मूल, फल-फूल तथा साकभाजी भी खोजकर लाते हैं। बिरहोर का दूसरा मुख्य व्यवसाय रस्सी बनाने का है। पुरुष जंगल से रस्सी के लिए चोप लाता है और घर पर स्त्री-पुरुष सभी मिलकर रस्सी बनाते हैं। इन रस्सियों को वे गाँव-गाँव घूमकर अथवा हाट में जाकर बेच आते हैं। रस्सी के अलावा बिरहोर को लकड़ी की वस्तुएँ बनाने की कला भी मालूम है। वे लकड़ी से अधिकतर उखली, समाठ, मादर, ढ़ोलकी, कठौत इत्यादि बनाकर बिक्री किया करते हैं। पिछले पचास वर्षों में कुछ बिरहोर घूमने की आदत छोड़कर स्थायी रूप से बसने भी लगे हैं। ऐसे बिरहोर को "जांघी" बिरहोर की संज्ञा दी गयी है। जांघी बिरहोर की संख्या बहुत ही कम है। वे खेती करने लगे हैं। बिरहोर के अलावा सिंहभूमि के "हिल खड़िया" भी शिकार और जंगली कंद-मूल खाकर रहते हैं। उनमें से कुछ "झुम प्रणाली" द्वारा अब स्थायी खेती भी करने लगे हैं।

दूसरी श्रेणी में बिहार की ऐसी जनजातियां हैं जो जंगल और पहाड़ी क्षेत्र में रहती है, परन्तु शिकार और कंद-मूल के अलावा अपनी जीविका के लिए एक प्रकार की अस्थायी खेती भी करती हैं। ऐसी जनजातियों में संताल परगने का सौरिया पहाड़िया विशेष उल्लेखनीय हैं। ये जंगल जलाकर खेत तैयार करते हैं, कुछ वर्षों तक उसमें अन्न पैदा करते हैं, और फिर उसे छोड़कर दूसरे क्षेत्र में जंगल जलाकर खेत तैयार करते हैं। वे किसी तरह के हल का उपयोग नहीं करते हैं। बीज रोपने के लिए वे लोहे के नूकीले छड़ का उपयोग करते हैं। ऐसी जमीन पर जाकर, बाजरा, मकई तथा घंघरा और बसटी नामक फसल होती है। सौरिया की इस खेती पद्धति को 'खूरो' या "कुरूआ" कहा जाता है। इस प्रकार की प्रथा के कारण इस जिले में जंगल का ह्रास हुआ है। धीरे-धीरे सरकार द्वारा इस पद्धति पर प्रतिबंध लगाया जा रहा है। इस जिले के दक्षिण में रहने वाली माल पहाड़ियाँ जनजाति इस पद्धति को छोड़कर स्थायी खेती करने लगी है। छोटानागपुर की भी कुछ जनजातियाँ, "झूम" प्रणाली द्वारा खेती करती थीं, परन्तु अब उन्होंने इस प्रथा को छोड़ दिया है। हाँ, पलामू के कोरवा छिटपुट इस तरह की स्थायी खेती करते हैं।

तीसरी श्रेणी में ऐसी जन जातियाँ है जो सम्भवत: कभी शिकार या "झूम" प्रणाली पर अपनी जीविका के लिए आश्रित रही होंगी परन्तु अब वे मुख्यत: स्थायी रूप से खेती करके अपनी जीविका अर्जन करती हैं। स श्रेणी में बिहार की मुख्य और बहुसंख्यक जनजातियाँ जैसे संताल, ऊरांव, खड़िया, हो, भूमिज इत्यादि रखी जा सकती हैं। ये जनजातियाँ बिहार के अन्य ग्रामीणों की तरह खेती करती हैं। वे हल, पशु-पालन, सिंचाई प्रणाली तथा खाद्य की महत्ता से भलीभांति परिचित हैं। खेती करने के अलावा वे मजदूरी भी करते हैं। शिकार और मछली मारना तो उनका अब गौण काम हो गया है। वर्ष में केवल दो-तीन बार पर्व के अवसर पर दूर के जंगल में गाँव के सभी लोग मिलकर शिकार करने जाते हैं। शिकार की तैयारी के अवसर पर गाँव में काफी चहल-पहल रहती है।

चौथी श्रेणी में ऐसी जनजातियाँ आती हैं जो अपनी जीविका के लिए गृह-उद्योग पर आश्रित हैं। इन जनजातियों में लोहरा, चीक बड़ाइक, महली, करमाली विशेष उल्लेखनीय हैं। इन जनजातियों के लोग छिटफुट ऊरांव, मुंडा, तथा संताल के गांवों मे रहते हैं और अपनी बनाई वस्तुओं को इनके हाथ बेचकर जीविकार्जन करते हैं। करमाली और लोहरा लोहे के कृषि संबंधी औजार बनाते और पुराने औजारों की मरम्मत करते हैं। चीक बड़ाइक, मुंडा और उरांव द्वारा पहने जाने वाले कपड़े (करिया परिया) तैयार करते हैं। महली टोकरियाँ बनाता है। इसी श्रेणी में असुर का नाम भी उल्लेखनीय है जो इस समय नेतरहाट के पठार पर रहते हैं और कुछ वर्षों पहले लोहे का उद्योग धंधा ही इनका एकमात्र व्यवसाय था। एक जमाना था कि वे लोहा, पत्थर गलाकर शुद्ध लोहा निकालते थे, लोहे के औजार बनाते थे और सारे छोटानागपुर में इन्हीं के औजारों का उपयोग किया जाता था। मध्य प्रदेश के "अगेरिया" की तरह इन्हें भी लोहा उद्योग की पूरी विधि मालूम थी परन्तु कितने कारणों से इनके परम्परागत उद्योग-धन्धे का एकदम ह्रास हो गया और इन्हीं कारणों से इनकी आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं रही। आजकल वे अपने जीविकार्जन के लिए खेती, शिकार और मछली मारने पर आश्रित हैं। इसी तरह अन्य जनजातियाँ भी जो उद्योग-धन्धे पर आश्रित थे, धीरे-धीरे अपना परम्परागत व्यवसाय छोड़कर मजदूरी और कृषि की शरण में आ रहे हैं।

इस तरह, बिहार की जनजातियों की आर्थिक स्थिति पर विहंगम दृष्टि डालने से स्पष्ट हो जाता है कि यद्यपि साधारणतः उन्हें चार श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है परन्तु अपने मुख्य पेशा के अलावा प्रत्येक जनजाति गौणरूप से दूसरे-दूसरे व्यवसाय भी करने लगी हैं। यदि बिरहोर शिकार की श्रेणी में हैं तो साथ-साथ वे रस्सी बनाने का भी व्यवसाय करते हैं और कुछ खेतिहर मजदूर भी हो गये हैं। उसी तरह यदि सौरिया पहाड़िया झूम प्रणाली से खेती करते हैं। कुछ लोग स्थायी खेती भी करने लगे हैं। फिर, कृषि श्रेणी के आदिवासियों ने भी एक ओर अभी तक मछली मारना नहीं छोड़ा है और दूसरी ओर चाय बगानों, खान और कारखानों में मजदूरी करते दिखाई देते हैं। पढ़-लिख जाने पर कितने आदिवासी गांव के युवक-युवती, शहरों के दफ्तरों में तरह-तरह के काम करते नजर आते हैं। इसका निष्कर्ष यह निकला कि सांस्कृतिक सम्पर्क, शिक्षा-प्रचार और ज्ञान-प्रसार से जनजातियों की आर्थिक स्थिति में दिनानुदिन परिवर्तन होता जा रहा है।

सामाजिक व्यवस्था

बिहार की जनजातियों का सामाजिक संगठन भी बड़ा मनोरंजक है। प्रत्येक जनजाति कितने कबीलों में बंटी है। रिजले के अनुसार उरांव तेहत्तर और संताल तिरानवे कबीलों में विभक्त हैं। डा० मजूमदार ने 'हो' के कुछ कबीलों के नाम टिर्की (चुहिया), होरो (कछुआ), तिड़ु (सियार, मेंगरा (घोड़ा), सोनै (पत्थर), टोप्नो (पक्षी विशेष) इत्यादि हैं। इसी तरह के कबीले सौरिया पहाड़िया को छोड़कर बिहार के प्रायः सभी जनजातियों में है। जिस जानवर, वृक्ष अथवा पदार्थ के नाम पर कबीले का नाम रहता है वह जानवर या वृक्ष उस कबीले के सदस्य के लिए आदर की वस्तु हो जाती है। वे इन्हें कभी भी न कष्ट देते हैं और न उनकी जान ही मारते हैं। वे उस फल या पशु-पक्षी को कभी भी किसी रूप में नहीं खाते हैं। जनजाति की इस विभाजन प्रणाली को तत्वज्ञों ने "टोटेम" या "इष्ट चिह्न" की संज्ञा दी है। यही "टोटेम" छोटानागपुर की जनजातियों के सामाजिक जीवन की आधार शिला है। उनके अधिकांश सामाजिक रीति-रिवाज के मूल में इष्ट चिह्न की भावना छिपी रहती है। वे किसी तरह का यौन संबंध अपने कबीले के सदस्यों से नहीं कर सकते। इस नियम की रक्षा वे प्राण तक देकर करते हैं। यदि

कोई इस नियम का उल्लंघन करता है तो उसे सामाजिक बहिष्कार से कम को सजा नहीं मिलती है और उसके लिए उस समाज में रहना असम्भव हो जाता है। बिहार की जनजातियों का परिवार पितृसत्तात्मक है। संतान अपने पिता का गोत्र पाती है, माता का नहीं। लड़की की शादी होने पर वह अपने पति का गोत्र धारण कर लेती है। सम्पत्ति का अधिकारी पुरुष ही होता है। पिता के देहान्त के पश्चात् पारिवारिक सम्पत्ति का अधिकारी उसके पुत्र ही होते हैं। एक परिवार में साधारणतः पति, पत्नी, उनकी संतान तथा पति के बूढ़े मां-बाप रहते हैं। जनजातीय समाज में स्त्रियों का स्थान बहुत महत्वपूर्ण है। वे परिश्रम के सब काम करती हैं और पारिवारिक जीवन की रीढ़ हैं। आदिवासी स्त्रियाँ अधिक परिश्रमी हैं, तेज, स्वस्थ और सहनशील होती हैं। कहीं-कहीं इसके फलस्वरूप पुरुष आलसी हो गये हैं और स्त्रियों के हाथ काम टाल कर वे अवकाश के आनन्द उठाते हैं।

बिहार की सभी जनजातियों के बीच जन्म, विवाह और मृत्यु संबंधी संस्कार प्रचलित हैं। बच्चे की पैदाइश का अवसर परिवार के लिए आनन्द का अवसर होता है और इस मौके पर काफी खुशियाँ मनाई जाती हैं। बच्चे होने पर साधारणतः तीन दिनों से बारह दिनों तक छुत माना जाता है। संताल में तो किसी परिवार में बच्चा होने पर सारे गाँव में छुत माना जाता है। प्रसव के समय पति का काम बढ़ जाता है। यह उसका कर्त्तव्य है कि अपनी पत्नी को सभी तरह की सहायता पहुँचाये। घर या गाँव की अनुभवी तथा बूढ़ी औरत ही इस अवसर पर दाई का काम करती है। आदिवासी महिलाएँ प्रसव के लिए न अस्पताल जाती हैं और न धाई की सहायता लेती हैं। अधिक कष्ट होने पर "नमाइन" को बुलाती है।

नामकरण के अवसर पर भी गांव के सभी लोग इक्कट्ठा होते हैं और विधिपूर्वक नाम चुना जाता है। अब बच्चा माँ की गोद में धीरे-धीरे बढ़ने लगता है। उसका अधिकांश समय माँ के स्तन पर बन्धकर दूध पीने अथवा बहन इत्यादि की पीठ पर कपड़े में बन्धकर बीतता है। बड़ा होने पर लड़के-लड़कियाँ सभी मिलकर आपस में तरह-तरह के खेल खेलते हैं। दौड़ना, गुलेल चलाना, पेड़ पर चढ़ना, नृत्य का अनुकरण करना इत्यादि उनके प्रिय खेल हैं। कुछ जनजातियों विशेषतः उराँव में बारह वर्ष के बाद लड़का-लड़की युवागृह के सदस्य हो जाते हैं और उन्हें इसी स्थल पर

परम्परागत शिक्षा मिलती है । उरांव के युवा-गृह जिसे धुमकुरिया कहा जाता है वस्तुतः ऐसी परम्परागत पाठशाला है जहाँ लड़के तथा लड़कियों को अपने-अपने व्यापार, आर्थिक व्यवसाय, तथा अपने मुखिया और बूढ़ों की आज्ञा का पालन करने की शिक्षा मिलती है । वे इस संस्था के सदस्य उस समय तक बने रहते हैं जबतक उनकी शादी नहीं हो जाती है ।

बिहार की जनजातियों में शादी की उम्र लड़के के लिए २०–२५ वर्ष और लड़की के लिए १६–२० वर्ष है । इधर कुछ बाल विवाह भी होने लगे हैं । उनका मत है कि विवाह प्राकृतिक मिलन के लिए आवश्यक है । विवाह केवल मानव समाज के लिए ही आवश्यक नहीं अपितु प्राकृतिक वस्तुओं का भी होना अनिवार्य है । "हो" में तो मानव विवाह का कार्य प्राकृतिक वस्तुओं के विधिवत विवाह के बाद प्रारम्भ होता है ।

आदर्शतः आदिवासियों का यौनजीवन विवाह से प्रारम्भ होता है । कृषि कार्य के समय तथा शिशु-जन्म के दो-तीन वर्षों तक उनका स्त्री-मिलन प्रतिबंधित रहता है परन्तु साधारणतः जीवन में ये नियम नहीं निवह पाते हैं । बिहार के लगभग सभी जनजातियों में एक पत्नी विवाह प्रचलित है परन्तु बहु पत्नी विवाह पर कोई प्रतिबंध नहीं है । पत्नी की मृत्यु के बाद साधारणतः उसकी छोटी बहन से शादी करना लगभग सभी जनजातियों में प्रचलित है । मृतक ज्येष्ठ भाई की पत्नी से विवाह करना भी इनके बीच पाया जाता है । परन्तु इस तरह के विवाह को न अच्छा समझा जाता है और न इस अवसर पर किसी तरह का उत्सव मनाया जाता है ।

साधारणतः लड़के या लड़की का विवाह इसके माता-पिता के द्वारा ही तय किया जाता है । हाँ, यदि किसी लड़के को किसी ल की विशे से प्रम है और वह उसे अपनी जीवनसंगिनी बनाना चाहता है तो वह अपने मित्रों को अपने माता-पिता से पैरवी करने के लिए आग्रह करता है । यदि माता-पिता इस संबंध को सामाजिक रूप से संभव समझते हैं तो फिर उसके विचार के अनुकूल शादी निर्णय की जाती है । लड़कियों की भी अनुमति ली जाती है, किन्तु वस्तुतः वे इस मामले में निस्सहाय ही रहती है ।

विवाह के निर्णय "गोनोंग" या कन्या मूल्य की भी चर्चा चलती है। परम्परागत नियम के अनुसार गोनोंग के रूप में कन्या के पिता को एक गाय दी जाती थी किन्तु अब नगद रुपये भी दिये जाने लगे हैं। ऊरांव के बीच कन्या के संबंधियों को कपड़े तथा अन्य वस्तुओं के अतिरिक्त

सात से पचीस रुपये तक नगद दिये जाते हैं। परन्तु मुंड़ा, हो, संताल के बीच कन्या मूल्य बहुत अधिक बढ़ गया है। चावल, गाय, तथा कपड़े के अतिरिक्त ३०० रूपया तक नगद देना उनलोगों के बीच साधारण बात हो गयी है। वस्तुतः इस गोनोगं की भयंकर प्रथा से आदिवासी की सामाजिक व्यवस्था पर बहुत बड़ा आघात पहुँचा है। अविवाहित लड़के और लड़की की संख्या दिनोंदिन बढ़ती जा रही है।

"हो" और "मुंड़ा" की परम्परागत वैवाहिक प्रथा को "अड़न्दी" की संज्ञा दी गयी है। ऐसे विवाह से पूरा कन्या मूल्य लिया जाता है तथा विधिपूर्वक धूम-धाम से विवाहोत्सव मनाया जाता है। इसके अलावा अब दूसरी तरह की विवाह प्रथा "हरण" विवाह और राजी-खुशी भी खूब प्रचलित हो गयी है। गोनोगं के आधिक्य के कारण इस प्रकार के विवाहों का प्रचलन बढ़ता जा रहा है। डा० मजूमदार के अनुसार "हो" जनजाति में लगभग ५५ प्रतिशत विवाह अड़न्दी प्रथा द्वारा और ४५ प्रतिशत विवाह हरण और राजी खुशी के द्वारा सम्पन्न होते हैं। इनके अलावा सेवा विवाह और आदान-प्रदान विवाह की संख्या भी बढ़ती जा रही है।

विवाहोत्सव प्रधानतः फसल कट जाने के उपरान्त मनाया जाता है। इस समय उनके पास पूरा अवकाश और पर्याप्त अन्न होता है। निर्धारित समय पर बारात के सदस्य, गाते-बजाते, दुल्हिन के गांव के समीप पहुँचते हैं। जब दुल्हे की बारात गाँव की सीमा पर आती है, उसी प्रकार से सजधज कर दुल्हन की ओर से उनका स्वागत करने के लिए दूसरी बारात चलती है। संगीत और नृत्य के मादक वातावरण में दो दल मिलते हैं और घंटों आनन्दविभोर हो मस्ती से नाचते गाते रहते हैं। इस मादक मिलन में एक "कौतुक युद्ध" भी छिड़ता है जिसमें दुल्हे को दुल्हन के घर वाले लेकर भाग चलते हैं और बारात "डेरे" में जाकर विश्राम लेती है। उसके बाद अपनी विधि के अनुसार विवाह होता है।

यदि किसी के घर में विवाह होता है, समस्त गांव उस उत्सव में सम्मिलित होता है। भोज, नाच-गान, और मधु पान द्वारा खुलकर आनन्द उठाया जाता है। विवाहोपरान्त आदिवासी पुरुष अपना उत्तरदायित्व समझने लगता है।

इस तरह कमाते खाते वह वृद्ध हो चलता है। उसे बीमारियाँ सताने लगती हैं। बीमारियाँ प्राकृतिक भी हो सकती हैं और डायनों, जादूगरों तथा

दुष्ट प्रेतों के चलते भी होती हैं। वह स्थानीय "ओझा" और "मति से उसके निराकरण की चेष्टा करवाता है परन्तु मानव शक्ति तो सीमित ठहरी। वह मृत्यु के घाट उतर जाता है। सारा परिवार और संताल में तो सारा गांव छूत हो जाता है। उसके अंतिम संस्कार की तैयारी होने लगती है। इस अवसर पर गाँव के सभी स्त्री-पुरूष इक्कट्ठे होते हैं और उसकी लाश को यथा नियम गाड़ दिया जाता है अथवा जला दिया जाता है। इस समय लगभग सभी जनजातियों में दोनों प्रकार की प्रथा प्रचलित है। यह कहना कि दोनों में से कौन परम्परागत है, कठिन है। छूत छः दिनों से दस दिनों तक जारी रहता है। अंतिम दिन सामूहिक भोज के बाद मृत्यु संस्कार की इति श्री हो जाती है।

धर्म व्यवस्था

धार्मिक दृष्टिकोण से बिहार के आदिवासियों को मूलतः "बोंगामता-वलम्बी" कहा जा सकता है। उनके धार्मिक विश्वास एवं उनके पर्व त्योहार की आधार शिला, 'बोंगा" ही है। "बोगा" क्या है यह सही-सही निर्णय करना कठिन है। श्री शरतचन्द्र राय, हांफमैन, पी० ओ० बोडिंग, डा० मजूमदार इत्यादि विद्वानो ने बोंगा शब्द के संबंध में अपनी धारणाएँ प्रस्तुत की हैं। श्री राय ने 'बोंगा" शब्द का प्रयोग आदिवासियों द्वारा पूजे जाने वाले देवता और भूत दोनों के लिए किया है। बोडिंग ने तो उन सभी शक्तियों को बोंगा शब्द की संज्ञा दी है जिनकी पूजा संताल किया करते हैं। हांफमैन के अनुसार "बोंगा" एक शक्ति है, बल है, बिजली है जो उन चीजों में व्याप्त है जिनकी पूजा छोटानागपुर के आदिवासी किया करते हैं। वहां के आदिवासियों के अनुसार यह वह शक्ति है जो सभी जगह वर्त्तमान है। समय, स्थान, व्यक्ति विशेष इसे सीमित नहीं कर सकते। संतालों से पूछने पर कि तुमने बोंगा को देखा है, अधिकांश लोग कह उठते हैं वह तो हवा है, उसका न रूप है, और न आकार और न रंग है।

परन्तु शक्ति के अनुसार इन बोंगाओं का वर्गीकरण करते हुए उनका नामकरण भी किया गया है। सर्वप्रथम, सिंह बोंगा सर्वशक्तिशाली देवता है। वही संसार के जीव और निर्जीव सभी वस्तुओं का सृजन कर्त्ता और रक्षक है। बिहार की सभी जनजातियों में इस तरह के प्रमुख देवता वर्त्तमान हैं जिनके नाम भिन्न-भिन्न हैं। यदि मुंडा, संताल, हो, बिरहोर उसे सिंगबोंगा (सूरज) कहते हैं, जो माल पहाड़िया, उराव और खड़िया ने

उसे "धर्श" या "धर्म" की संज्ञा दी है और हिल खडिया उसे "गिरीगं" कह कर पूजा करते हैं। हांफमैन का मत है कि प्रधान देवता का नामकरण आदिवासियों ने हिन्दुओं के प्रभाव में आने पर किया है।

आदिवासियों के दूसरे प्रमुख देवता "ग्राम देवता" हैं। ग्राम देवता के भी कितने नाम हैं: हातुबोंगा, देसाउली बोंगा, चाण्डी बोंगा। ग्राम देवता का मुख्य काम है ग्राम की रक्षा करना। वे ही ग्रामीणों को अच्छी फसल और शिकारियों को पूरी सफलता प्रदान करते हैं। तीसरा नम्बर गृह देवता का आता है। "मुंडा" और "हो" उन्हें ओड़ाबोंगा कहते हैं। ये उनके पूर्वज होते हैं जो मरने पर गृह में निराकार रूप में निवास करते हैं। इन पूर्वजों की वेदी पर समय-समय पर बलिदान दिये जाते हैं। गृह देवता के समक्ष बलिदान परिवार का वृद्ध व्यक्ति देता है। अन्य देवताओं के समक्ष बलिदान करने का काम पाहन या देवरी को है जो उस गांव का धार्मिक मुखिया होता है।

इनके अलावे इन आदिवासियों को कुछ प्रकृति संबंधी बोंगाओं में विश्वास है जैसे पहाड़ (बुरू) बोंगा, इकीर बोंगा आदि। उनका विश्वास है कि ये बोंगा उन्हीं प्राकृतिक वस्तुओं के साथ सम्बद्ध हैं। इन बोंगाओं के नाम पर भी कितनी बार पाहन द्वारा बलि प्रदान किया जाता है। गांव के बाहर "सरना" नामक स्थान देवताओं का मुख्य निवास स्थान समझा जाता है। सरना का द्योतक वृद्ध होता है जो मूल जंगल का अवशेष समझा जाता है। यहीं अधिकांश बलि दी जाती है।

धार्मिक बलि एवं पूजन इत्यादि के लिये प्रत्येक गांव में एक पाहन होता है। पाहन की नियुक्ति कहीं निर्वाचन से और कहीं वंशपरम्परा के अनुसार की जाती है। पाहन को गांव की ओर से कुछ जमीन भी मिलती है। पाहन की सहायता करने के लिए "पुजार" या पनभरा की भी नियुक्ति होती है। इनका मुख्य काम बोंगा को प्रसन्न रखने और धार्मिक बलि देने इत्यादि का रहता है।

आदिवासी गाँवों में पंचायत प्रणाली सभी जगह पायी जाती है। उराँव में साधारणतः पाहन ही ग्राम पंचायत का मुखिया होता है। परन्तु मुंडा, हो, तथा संताल के गाँवों में ग्राम पंचायत का मुखिया अलग होता है जिसे मुंडा, या प्रधान कहा जाता है।

आदिवासियों के जीवन में धर्म के साथ-साथ उस पर आश्रित पर्व त्योहारों का भी बहुत महत्वपूर्ण स्थान है। उनके पर्व की धार्मिक महत्ता के साथ-साथ आर्थिक महत्ता भी सम्बद्ध है। रोपनी, कटनी, तथा अन्य ऐसे अवसरों पर उनके कितने पर्व होते हैं। इनके अलावा उनके कुछ पर्व पूर्वजों की यादगारी में भी मनाए जाते हैं। इन पर्वों के अवसर पर आदिवासी गाँवों में उत्साह, उमंग और मस्ती की बाढ़-सी आ जाती है। नृत्य, गान और संगीत की त्रिवेणी में नर-नारी, बाल-वृद्ध डूबने उतरने लगते हैं। इनके मुख्य पर्व माघी, बाहा, कर्मा, सोहराई आदि जिनका वर्णन जनजातियों के सविस्तार वर्णन के साथ किया गया है।

बिहार के आदिवासियों की राजनैतिक व्यवस्था साधारणत लोकतांत्रिक कही जा सकती है। इनके गाँवों में परम्परा से पंचायत की प्रणाली चली आ रही है। दस पन्द्रह ग्राम पंचायतों पर एक "पाठा पंचायत" होती है। पाठा पंचायत का काम ग्राम पंचायतों की शिकायतों पर "अपील" सुनना और दो-तीन गाँवों के बीच झगडा निपटाना होता है। संतालों में भी इस तरह की प्रणाली है। दो-चार गाँवों पर एक पंचायत होती है जिनका मुखिया मांझी कहलाता है। परन्तु कहना न होगा कि बाह्य शासन प्रणाली के प्रचार के साथ-साथ आदिवासियों की परम्परागत "पंचायत" और "पाढ़ा" संस्थाओं को काफी धक्का पहुंचा है और उनका प्रायः ह्रास ही हो चुका है।

उनकी अमूल्य थाती

छोटानागपुर की ये जनजातियाँ अपनी विपन्नता के बावजूद भी एक क्षेत्र में इतनी धनी हैं जिसकी समता करना दूसरों के लिए कठिन है। वह है इनकी कला और उनके प्रति इनका अटूट प्रेम। मुस्काते हुए चांद और सितारों की छाया में, छुटफुट पहाड़ियों के पार, गूंजते हुए इनके लोक गीत, इनके मनोहर वाद्य और नृत्य न केवल कला के चरमोत्कर्ष के सजीव उदाहरण हैं, प्रत्युत इनके निष्कलुष जीवन के प्रतिबिंब भी हैं जो हमें आदिम जीवन की ओर आकृष्ट करते हैं। सभी अवसरों एवं उत्सवों विवाह, कर्मा, माघी, सोहराई, वसंतोत्सव के लिए अलग-अलग प्रकार के नृत्य हैं और उनके साथ अलग-अलग धुन के गाने भी। वाद्य-यंत्र में भी वे कम धनी नहीं हैं। नगरा, मांदर, मुरली, बांसुरी, ढ़ोलकी आदि तो इनके दिन-प्रतिदिन के सहचर हैं। जब युवतियां नाचने को उतरती हैं,

लगता है जैसे प्रकृति या वासंती स्वयं भूतल पर मूर्त्त हो गयी है। उनके साज-शृंगार, उनके हाव-भाव कितने स्वाभाविक, कितने नैसर्गिक हैं। उनके गीतों में भी कवित्व की बहुलता भी कम महत्वपूर्ण नहीं। उनमें भावाभिव्यंजन की अद्भुत शक्ति है। उपमा, उपमेय, भावों की चपलता और कलित कल्पनाएँ हृदय में एक गुदगुदी पैदा कर देती है। नृत्य गान इनके जीवन-का एक अभिन्न अंग बन गया है।

सांस्कृतिक सम्पर्क: उनकी नई दिशा

इस तरह सदियों से संताल, ऊरांव, मुंडा, हो, पहाड़ियों, बिरहोर, खड़िया इत्यादि आदिवासी छोटानागपुर और संताल परगने के ऐसे जंगली, पहाड़ी, ऊसर पठारों पर रहते आए जहाँ आम लोगों का पहुँचना कठिन था। इस तटस्थता, और एकान्त जीवन के फलस्वरूप इनकी सभ्यता दूसरे के सम्पर्क से बहुत दिनों तक अछूती रही। ये प्रकृति के पुजारी थे, परम्परागत आदर्शों के भक्त थे, बड़े लोगों की बात ही इनके आदर्श थे और किसी तरह जीविका पालन करना ही इनके जीवन का लक्ष्य था।

पिछले दो शताब्दियों में धीरे-धीरे आदिवासी वाह्य संस्कृति के सम्पर्क में आने लगे। विदेशी पादरी धार्मिक प्रचार और सेवा भाव से प्रेरित होकर छोटानागपुर और संताल परगने के जंगलों में अपना-अपना केन्द्र स्थापित करने लगे। वे आदिवासियों के बीच शिक्षा के प्रकाश के साथ-साथ अपना धार्मिक पाठ भी पढ़ाने लगे। इसके अलावा छोटानागपुर अब विहार का ही नहीं, सारे भारत का औद्योगिक खजाना समझा जाने लगा। कितनी तरह के खनिज पदार्थ और उन पर आश्रित उद्योग-धंधे खुलने लगे। आवागमन की सुविधा दिनानुदिन बढ़ती गयी। लाह के उद्योग इन जिलों के जंगलों में जोर पकड़ने लगे। शासकों का भी दमन-चक्र चलता ही रहा, व्यापारी और ठेकेदार अलग उनका शोषण करने लगे, तथा सरकार की जंगल-नीति भी उनके आर्थिक जीवन पर अलग हथौड़े की चोट करने लगी। विश्व युद्ध के समय, उन आदिवासियों के गांवों के पास सैनिक छावनी बनाई गयी। वे निरीह, सरल, साधारण, निष्कपट, दीन-हीन आदिवासी इन अन्धाधुन्ध सांस्कृतिक सम्पर्कों के कारण चकाचौंध में पड़ गए। उनकी मान्यताएँ, उनके जीवन संतुलन, उनकी नैतिक प्रवृत्तियाँ, उनके परम्परागत विश्वास बिखरने लगे और कालान्तर में सामाजिक अव्यवस्था का काल आरम्भ हुआ। उनकी

सांस्कृतिक विशेषताएँ मिटनी शुरू हुई। जातीय जीवन में घुन-सा लग गया, कितने पहलुओं से उनका नैतिक पतन होने लगा।

आज, बिहार के आदिवासी इसी अव्यवस्थित अवस्था में हैं। उनकी संस्कृति की विशेषताएँ भी मिटती-सी जा रही है। परन्तु अब सरकार और वैज्ञानिकों ने अपना ध्यान उनकी ओर दिया है। वे भी अब सम्हल रहे हैं और आशा है कि वे स्वस्थ दिशा की खोज में सफल होंगे।

बिहार में आदिवासी संस्कृति का अध्ययन और उनकी भावनाएँ

भारत में मानव एवं उनके समाज का अध्ययन किसी न किसी रूप में मनु के समय से ही प्रारम्भ हो चुका था। परन्तु प्रामाणिक एवं वैज्ञानिक ढंग पर, उनका अध्ययन हाल में ही प्रारम्भ हुआ है। अंगरेज शासकों ने अपनी शासनसत्ता की जड़ मजबूत करने के लिए जातियों एवं जनजातियों की संस्कृति का ज्ञान रखना आवश्यक समझा और इसी दृष्टिकोण से उनका अध्ययन १८वीं सदी के अंश से प्रारम्भ किया, जिसके कारण भारतीय नेतृत्व विज्ञान को एक दिशा मिली। सांस्कृतिक अध्ययन के प्रोत्साहन एवं प्रश्रय प्रदान करने के लिये दो-एक अनशीलन परिषदों का जन्म हुआ, कुछ विद्वत्तापूर्ण पत्रिकाएँ निकाली गईं तथा कितने शासकों द्वारा मोटी-मोटी पुस्तकें लिखी जाने लगीं। जब बिहार और बंगाल एक प्रान्त था तभी विलियम जोन्स के सभापतित्व में एक एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल का निर्माण हुआ। जिसके तत्त्वावधान में इस प्रान्त (उस समय बंगाल और बिहार एक ही प्रान्त थे) का सांस्कृतिक अध्ययन प्रारम्भ किया गया। इस सोसाइटी के पत्र में कितने सांस्कृतिक सम्बन्धी खोजपूर्ण लेख प्रकाशित होने लगे। १७८४ से १८८३ के बीच में ही नृतत्व सम्बन्धी सौ से अधिक लेख प्रकाशित हुए परन्तु खेद का विषय है कि उनमें से केवल तीन ही छोटे-छोटे लेख भारतीय विद्वानों द्वारा लिखे गये थे। इस काल के बाद संस्कृति सम्बन्धी लेख अधिक प्रकाशित होने लगे तथा भारतीय विद्वानों की कलम भी इस विषय पर पहले की अपेक्षा अधिक उठने लगीं।

सोसाइटी के इस "जर्नल" में बिहार के आदिवासियों के बारे में काफी चर्चा मिलती है। लेफ्टिनेन्ट टिकेल ने सर्वप्रथम 'हो' जनजाति पर कुछ लेख प्रकाशित करवाये। उनके लेख १८४० से १८४२ के बीच प्रकाशित हुए। कर्नल शेरवेल ने १८५१ में राजमहल की 'मालर' या 'पहाड़िया' जनजाति के बारे में प्रकाश डाला। प्रारम्भ में लेखकों में डाल्टन का नाम विशेष उल्लेखनीय है जिन्होंने अठारह वर्षों तक (१८५७–१८७५) छोटानागपुर के

कमिश्नर के पद पर रहकर, यहाँ की आदिवासियों के बारे में यथेष्ट जांच-पड़ताल की और कितने लेख प्रकाशित किये। १८८३ के पश्चात् कितने अंगरेज शासकों ने बिहार के आदिवासियों के बारे में लिखा। इस समय तक कितने पादरी भी आदिवासी के सांस्कृतिक अध्ययन में दिलचस्पी लेने लग गये थे। फादर डेहोन ने ऊरांव जनजाति पर तथा फादर हांफआन ने मुंडा जनजाति की सांस्कृति एवं समस्याओं पर कितने विद्वत्तापूर्ण लेख इस सोसाइटी के पत्र में प्रकाशित करवाये।

इस पत्र के अलावा "कलकत्ता रिभीउ और इंडियन एण्टीकेरी" में भी कुछ नृतत्व सम्बन्धी लेख उस समय प्रकाशित होते थे। "कलकत्ता रिभीउ" का प्रकाशन कलकत्ते से १८४३ में और "इंडियन एण्टीकेरी" का प्रकाशन डा० वर्गेस द्वारा १८७२ में प्रारम्भ हुआ था। इन पत्रों में भी बिहार के आदिवासी एवं इसकी प्राचीन संस्कृति सम्बन्धी लेख पढ़ने को मिलते थे। परन्तु एक दो को छोड़कर सभी लेख विदेशियों द्वारा ही लिखे गये हैं।

जब बिहार, बंगाल से अलग हुआ तो १९१५ में "बिहार उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी" का निर्माण हुआ जिसका प्रथम सभापति एडवट गेट हुए। इस संस्था के द्वारा ऐतिहासिक एवं नृतात्विक शोध को बिहार में प्रश्रय मिला और उसकी पत्रिका में बिहार के आदिवासी सम्बन्धी कुछ निबन्ध प्रकाशित हुए। फिर भी अभी तक बिहार में ही नहीं सारे भारत में नृतत्व सम्बन्धी स्वतंत्र-पत्र का अभाव था। इस अभाव की पूर्ति श्री शरतचन्द्र राय ने १९२१ में "मैन इन इंडियन" नामक पत्र प्रारम्भ करके की। यह पत्र अभी भी राँची से प्रकाशित होता है। यही भारत का आज भी महत्त्वपूर्ण त्रैमासिक शोध पत्रिका है जो प्रथम भारतीय नृतत्ववेत्ता की महत्त्वपूर्ण सेवा की याद दिलाता है। इस पत्र के पृष्ठों में बिरहोर की जाति तथा जनजाति सम्बन्धी कितने लेख बिखरे पड़े हैं। उन्नीसवी सदी के पूर्वकाल में ही शासकों द्वारा भारत की जाति एवं जनजातियाँ सम्बन्धी विस्तृत पुस्तक लिखने की योजना बनाई गई और कितनी पुस्तकें लिखी भी गयी। इन पुस्तकों में बिहार की भी जातियाँ एवं जनजातियों के बारे में वर्णन मिलते हैं। ऐसी पुस्तक में डा० बुचानन लिखित "दी हिस्ट्री, एण्टिक्वीटी, टोपोग्राफी, एण्ड स्टटीस्टीक आफ इस्टर्न इंडिया' जो १८३८ में प्रकाशित हुई थी, बिहार के दृष्टिकोण से, विशेष उल्लेखनीय है। इस पुस्तक में उस समय के बिहार, पटना, शाहाबाद, भागलपुर, पूर्णियाँ इत्यादि जिलों का सविस्तार वर्णन मिलता है। डा० फ्रेंसीस

बुचानन इस काल के लिए इस्ट इंडिया कम्पनी द्वारा १८०७ में ही नियुक्त किये गये थे और वर्षों की जांच-पड़ताल के बाद उन्होंने २५ जिल्दों में पूरी विवरण लिखी जिनमें तीन ही उपरोक्त नाम से १८३८ में प्रकाशित हुई। "इस्टर्न इंडिया" के प्रकाशन के पूर्व ही बाल्टर हैमिल्टन द्वारा लिखित "एज्योग्राफिकल, स्टैटीस्टीकल, हिस्टोरिकल, डिस्क्रीपसन्स ऑफ दी हिन्दुस्तान एण्ड ऐडजैसेंट कन्ट्रीज" ग्रंथ दो जिल्दों में १८२० में ही प्रकाशित हो चुका था। परन्तु थोड़ी-सी सतर्कतापूर्वक पढ़ने से स्पष्ट हो जाता है कि यह अशुद्धियों से भी भरा है। उदाहरणार्थ वाल्टर हैमिल्टन एक स्थान पर लिखते हैं कि छोटानागपुर की प्रमुख जातियाँ खेताअरी, कोयरी और धांगर हैं जो साधारणतः हिन्दी भाषा बोलते हैं। परन्तु कहना न होगा कि यह युक्ति भ्रामक ही नहीं वरन् अशुद्ध है।

इसके बाद "इथनोग्राफी" लिखने का युग आता है। कलकत्ता के न्यायाधीश श्री कैम्बेल ने १८५४ में "इथनोग्राफी आफ इंडिया" और श्री आर. जी लेथम ने १८५९ में एक दूसरी पुस्तक "इथनोग्राफी आफ इंडिया" प्रकाशित की जिनमें अन्य स्थानों के अलावा बिहार के जनजातियों का भी संक्षिप्त वर्णन मिलता है। बहुतों की राय में यह पुस्तक अशुद्धियों से भरी पड़ी है। लैथन ने अपनी पुस्तक में 'ऊरांव' और 'उड़िया' में कोई अन्तर नहीं किया है। उन्हें यह भी मालूम नहीं कि पहाड़ियों के इष्टदेव "बैंडो" और 'बुद्ध में कोई एकता नहीं' दोनों दो चीज हैं। इनके अलावा कर्नल डाल्टन ने "डिस्क्रीपरीम इथनोलौजी ऑफ बंगाल" के नामक पुस्तक १८७२ में प्रकाशित करवाई। डाल्टन स्वयं छोटानागपुर में इतने दिनों तक (१८ वर्ष तक) रह गये कि उन्हें "हो,', "मुंडा", "ऊरांव" इत्यादि जनजातियों की सांस्कृतिक स्थिति समझने का काफी अवसर मिला। इसीके फलस्वरूप इनका पुस्तक आदिवासी अध्ययन में आज भी उपयोगी एवं महत्त्वपूर्ण प्रमाणित होता है। डाल्टन के बाद केन्द्रीय सरकार जाति एवं जनजाति के अध्ययन को और भी अधिक महत्त्व देने लगी। हबर्ट रिजले, बंगाल सरकार द्वारा बंगाल की जातियों एवं जनजातियों का सांस्कृतिक एवं सामाजिक अध्ययन करने के लिये नियुक्त हुए। इन्होंने चार जिल्दों में "ट्राइब एन्ड कास्ट ऑफ बंगाल" नामक पुस्तक लिखी जो १८९१ ई० में सरकार द्वारा प्रकाशित हुई। निश्चय ही इस पुस्तक में सविस्तार वर्णन बन पाया है और उस समय की बंगाल की शायद

ही कोई जाति या जनजाति है जिसके बारे में उसमें उल्लेख नहीं है। रिजले की दूसरी पुस्तक "पीपुल्स ऑफ इंडिया" में भी बिहार की जनजातियों के बारे में बहुत-सी नई बातें लिखी गयी हैं। सचमुच रिजले की यह पुस्तक जनजातियों के वैज्ञानिक अध्ययन की ओर संकेत करती है।

इस तरह से भारत के प्रत्येक हिस्से की जातियों तथा जनजातियों के सांस्कृतिक पहलुओं के कुछ वर्णन कितनी पुस्तकों में यत्र-तत्र संग्रह किये गये हैं। परन्तु सर्वप्रथम वैज्ञानिक दृष्टिकोण से इन जनजातियों की सामाजिक व्यवस्था, धार्मिक विश्वास, वंशीय संगठन, रीति-रिवाज आदि अध्ययन करने का श्रेय मेजर गर्डन को है। ये सुपरिटेन्डेन्ट आफ इनथोग्राफी के पद पर नियुक्त किये गये और उनके निरीक्षण में दर्जनों मोनोग्राफ लिखे गये जिनके लेखक विदेशी शासक ही थे। इसी समय इस तरह की लेखन-प्रणाली से प्रेरित होकर श्री शरतचन्द्र राय ने छोटानागपुर की जनजातियों पर "मोनोग्राफ" लिखना प्रारम्भ किया। उनका प्रथम मोनोग्राफ 'दी मुंडा एन्ड देयर कन्ट्री' १९१२ में प्रकाशित हुआ। इस पुस्तक में मुंडा जनजाति की उत्पत्ति एवं विकास का खोजपूर्ण विवरण है। श्री शरतचन्द्र राय ने कैथोलिक, इंगलिश तथा जर्मन मिशनों के कार्यों का ऐतिहासिक वर्णन भी इस पुस्तक में प्रस्तुत किया है। उन्होंने मुंडाओं के जातीय तथा वंशीय इतिहास का वर्णन करते हुए बिरसा आन्दोलन पर भी प्रकाश डाला है। अन्त में लगभग १५० पृष्ठों में उन्होंने मुंडा के अन्य सांस्कृतिक पहलुओं पर प्रकाश डाला है। श्री राय की पहली पुस्तक होने के कारण, नृतत्व विज्ञान के दृष्टिकोण से पुस्तक में बहुत-सी त्रुटियां रह गयी हैं। इस पुस्तक के अधिकांश हिस्सों में (३५० पृष्ठों में) मुंडा के ऐतिहासिक पहलुओं पर ही विशेष ध्यान दिया गया है। और उसके सांस्कृतिक पहलू गौण पड़ गये हैं। ऐसा लगता है कि श्री राय ने मुंडाओं के क्षेत्रीय अध्ययन की जगह, अधिक समय, पुस्तकालय में बैठकर रेकार्डों की जांच-पड़ताल, उनके इतिहास एवं मिशनों के कार्यों के अनुसन्धान में लगाया।

श्री राय की दूसरी पुस्तक "दी उरांव" १९१५ में प्रकाशित हुई। इस पुस्तक में इन्होंने उरांव के बारे में सविस्तार वर्णन किया। इस जनजाति का कोई भी सांस्कृतिक पहलू नहीं है, जो इनकी नजर से बचा हो। इतना ही नहीं उन्होंने इस जनजाति के धार्मिक विश्वास एवं रीति-रिवाज पर एक दूसरी पुस्तक 'उरांव रेलिजन एन्ड कस्टम्स' १९२८ में प्रकाशित की। ये दोनों

पुस्तकें बहुत ही महत्त्वपूर्ण हैं। श्री शरतचन्द्र राय ने तीसरा मोनोग्राफ "दी बिरहोर" के नाम से १९२५ में प्रकाशित किया। इस मोनोग्राफ में भी लेखक को पूरी सफलता मिली है। पुस्तक पढ़ने से स्पष्ट हो जाता है कि यह श्री राय ही ऐसे कर्मठ एवं नृतत्व विशारद का काम है जो बिरहोर ऐसी खानाबदोश एवं दुर्गम स्थानों में रहनेवाली जनजाति के बारे में इतना सांगोपांग वर्णन प्रस्तुत कर पाये हैं। निश्चय ही उन्होंने इस मिटती हुई जाति के सांस्कृतिक वर्णन को प्रस्तुत कर, उसे मरने से बचा लिया है। श्री राय की अन्तिम पुस्तक (१९३७ में प्रकाशित) खड़िया जनजाति पर है। यह पुस्तक दो जिल्दों में समाप्त हुई है और श्री शरतचन्द्र राय एवं उनके पुत्र श्री रमेशचन्द्र राय के बारह वर्षों के अथक परिश्रम का परिणाम है। श्री राय ने दुध खड़िया (रांची जिला) में ही अपनी खोज केन्द्रित नहीं की वरन "ढेलकी" (जासपुर, मध्यप्रान्त) तथा "पहाड़िया" खड़िया (मयूरभंज) के बीच भी बहुत महीनों तक रहकर उनका तुलनात्मक अध्ययन किया। श्री राय ने प्रथम जिल्द में खड़िया की आबादी, उसकी उत्पत्ति, उसकी शारीरिक बनावट, उसकी भौतिक संस्कृति, उसका सामाजिक संगठन, राजनीतिक व्यवस्था तथा जन्म-मरण तक के रीति-रिवाज का सविस्तार वर्णन किया है। दूसरी जिल्द में खरिया के धार्मिक विश्वास, देवता एवं पूजन प्रणाली, जादू मंतर, स्वप्न एवं पहेली, बच्चों के खेल, उसका अलिखित लोक-साहित्य इत्यादि का अद्वितीय वर्णन है। निश्चय ही भारत के इने-गिने मोनोग्राफों में यह उत्कृष्टतम स्थान रखता है।

स्वर्गीय श्री शरतचन्द्र राय ने केवल पुस्तक लिखकर ही नृतत्व विज्ञान को धनी नहीं बनाया प्रत्युत् इन्होंने ऐसे लोगों को भी इस क्षेत्र में लाया जिसके कारण इस विज्ञान को बड़ा लाभ हुआ। यह श्री राय ही की सहृदयता का फल है कि डा० डी० एन० मजुमदार ने कोल्हान की "हो" जनजाति के बदलते सांस्कृतिक रूपों का अध्ययन किया और १९३७ में "ए ट्राइब इन ट्रांजिशन" नामक पुस्तक प्रकाशित करवाई। इन्होंने इस जनजाति का अध्ययन जारी रखा, और १९५० में एक महत्त्वपूर्ण मोनोग्राफ इसी जनजाति पर "दी अफेयर्स आफ ए ट्राइब" के नाम से प्रकाशित किया। यह पुस्तक आज भारत में ही नहीं, सारे नृतत्व संसार में अपना एक विशिष्ट स्थान रखती है। श्री राय की प्रेरणा के फलस्वरूप डा० शशांक शेखर सरकार ने राजमहल उपत्यका के सौरिया पहाड़िया के बीच क्षेत्रीय अध्ययन करके १९३८ में

सौरिया पहाड़िया की संस्कृति सम्बन्धी एक पुस्तक प्रकाशित करवायी। यद्यपि डा० सरकार की यह पुस्तक सविस्तार नहीं, फिर भी सौरिया जीवन की एक झांकी तो इससे मिलती ही है, और जब तक सौरिया पहाड़िया पर कोई विस्तृत मोनोग्राफ नहीं लिखा जाय, इस जाति पर यह पुस्तक अद्वितीय है।

हर्ष का विषय है कि हाल ही में श्री जगदीश त्रिगुणायत के मुंडा लोक-गीतों का एक महत्त्वपूर्ण संग्रह 'बांसुरी बज रही', बिहार राष्ट्रभाषा द्वारा प्रकाशित हुआ है। आदिवासी लोक साहित्य में यह अद्वितीय पुस्तक है।

इसके अतिरिक्त पिछले तीन-चार वर्षों में बिहार के आदिवासियों पर कुछ "थिसिस" लिखी गई हैं जो अभी तक अप्रकाशित हैं। श्री सच्चिदानन्द ने "ट्राइबल भिलेज आफ बिहार" शीर्षक "थिसिस" लन्दन विश्वविद्यालय में दाखिल की है। बिहार विश्वविद्यालय के मानव शास्त्र के तथा पटना, विश्व-विद्यालय के समाजशास्त्र के स्नातकोत्तर विद्यार्थियों ने मुंडा, ऊरांव, संताल इत्यादि जनजातियों के बीच क्षेत्रीय अध्ययन करके छोटी-छोटी थिसिस लिखी है। बिहार विश्वविद्यालय के नृतत्व विज्ञान विभाग ने आदिवासी संस्कृति के कितने पहलुओं पर महत्त्वपूर्ण थिसीस लिखी हैं। जनजातियों का सांस्कृतिक अध्ययन बिहार क्या भारत में अप्राप्त है। आदिवासी लोक-साहित्य का अध्ययन भी आर्चर सरीखे लोगों ने थोड़ा-बहुत किया है। संताल, मुंडा और ऊरांव के लोक-गीत का छोटा-मोटा संग्रह देखने में आता है परन्तु वैज्ञानिक ढंग से कोई भी अध्ययन इस दिशा में नहीं किया गया है।

इस तरह बिहार के नृतत्व साहित्य के इतिहास के संक्षिप्त अध्ययन से स्पष्ट है कि शरत बाबू और डा० मजुमदार की कृतियों के अतिरिक्त वस्तुतः बिहार की जनजातियों पर कोई भी महत्त्वपूर्ण साहित्य नहीं है। दुःख का विषय है कि बिहार यद्यपि अपनी सांस्कृतिक विभिन्नता एवं उसकी प्राचीनता के लिये भारत में विशेष उल्लेखनीय है, फिर भी मानव एवं समाज के अध्ययन में यह बहुत पीछे छूट गया है। साथ ही साथ यह संतोष का विषय है कि बिहार में नृतत्व विज्ञान एवं समाज शास्त्र की महत्ता एवं सम्भावनाओं को लोग परखने का प्रयत्न कर रहे हैं। इस तरह के सामाजिक एवं सांस्कृतिक अध्ययन एवं अनुशीलन के लिये पटना युनिवर्सिटी में समाज-शास्त्र (१९५१) और बिहार युनिवर्सिटी में नृतत्वशास्त्र (१९५३) तथा बिहार सरकार द्वारा जनजातीय शोध-परिषद् (१९५४) तथा सांस्कृतिक एवं सामाजिक शोध मण्डल (१९५५) की स्थापना हुई है। इस आशा से कि, इन

संस्थाओं द्वारा बिहार के सांस्कृतिक विषयों एवं सामाजिक समस्याओं पर शोध होगा, विशेषत: निम्नलिखित शोध विषयों की ओर ध्यान आकृष्ट करना चाहूँगा।

आदिवासियों की आर्थिक स्थिति तथा पुनर्वास का प्रश्न

कहना न होगा कि बिहार के साढ़े चालीस लाख आदिवासी दारिद्र्य की भट्ठी में जल रहे हैं। यद्यपि उनका जीवन स्तर इतने निम्नकोटि का है, उनकी आवश्यकताएँ कुछेक ही हैं, उनका जीवन दर्शन आशावादी है, फिरभी उनमें से अधिकांश को तीन-चार महीनों तक तो दो जून खाना भी नहीं मिल पाता है। उनके समाज पर निरक्षरता का आधिपत्य है तथा किसी तरह वे जंगल-झाड़ियों, पहाड़ी तलहटियों तथा बीरान उजाड़ गाँवों में नाच-गाकर अपना जीवन बिता डालते हैं। सरकार उनकी आर्थिक स्थिति के उत्थान के लिये प्रयत्नशील है परन्तु उस समय तक कोई विस्तृतयोजना नहीं बनाई जा सकती, जब तक उनकी वर्त्तमान आर्थिक स्थिति, उनके आर्थिक संगठन तथा उनकी भौतिक संस्कृति का पूरा-पूरा ज्ञान न हो जाय। यह नृतत्वज्ञों का काम है कि वे उनके पेशा, उनकी पशु-सम्पत्ति, कर्ज, निरक्षरता, इत्यादि के बारे में आंकड़े, संग्रह करें उनकी आर्थिक स्थिति के सुधार की समस्याओं पर गहन मनन करें और उनके सामाजिक एवं आर्थिक संगठन के अनुकूल योजना प्रस्तुत करें। उन्हें हमेशा यह ध्यान में रखना होगा कि उनके आर्थिक उत्थान, शिक्षा के प्रचार, स्वास्थ्यवर्द्धन के प्रश्न, इत्यादि की योजना ऐसी हो कि उनके बीच न असंतोष पैदा करे और न उनके बीच सांस्कृतिक संकट एवं सामाजिक अव्यवस्था पैदा कर दे।

जनजातीय पोषण का प्रश्न

आर्थिक अध्ययन के साथ पोषण का प्रश्न भी विचारणीय है। आदिवासियों के खाद्य पदार्थ, पाक प्रणाली तथा उनके खाद्य पदार्थ में पाए जानेवाले तत्वों का अध्ययन आजकल बहुत महत्त्वपूर्ण हो रहा है। विदेशी नृतत्ववेत्ताओं ने विशेषत: आइर्नल्ड डी वरीज ने अपनी पुस्तक "प्रीमीटीभ मैन एन्ड हिज फूड" में प्रमाणित करने की कोशिश की है कि आदिवासियों के खाद्यपदार्थ एवं पाक प्रणाली ऐसी है कि पोषण पदार्थ अधिक मिलतेहैं जिनके फलस्वरूप उनके बीच बीमारियों का अभाव है। परन्तु सांस्कृतिक सम्पर्क के कारण उनके भोजन की सामग्रियों तथा पकाने के ढंग में बहुत परिवर्तन एवं परि-

वर्द्धन हो चुके हैं। इसी कारण से उनके बीच भी विकसित समाज के रोग फैलने लगे हैं तथा उनके स्वास्थ्य की क्षति होने लगी है। भारत सरकार के नृतत्व विभाग के एक विद्वान् डा० पी० एन० सेन गुप्ता ने इस तरह का अध्ययन अबोर तथा दूराली जनजातियों का किया है। बिहार की जनजातियों की पोषण प्रणाली का भी अध्ययन करना अनिवार्य है। पोषण प्रणाली के अध्ययन के पश्चात् ही पुनर्वसन की योजना बनाना श्रेयस्कर हो सकता है।

जनजातियों तथा उनकी संस्थाओं का अध्ययन

उपर्युक्त ऐतिहासिक समीक्षा से स्पष्ट है कि बिहार की छोटी-बड़ी ३९ जनजातियों में से केवल मुंडा, उरांव, बिरहोर, खरिया "हो" तथा संताल ही पर मोनोग्राफ लिखे गये हैं। भूमिज, पहाड़िया, असुर इत्यादि कुछ बड़ी जनजातियों पर कोई पुस्तक नहीं लिखी गयी है। इनके अलावा कोरवा करमाली किसान इत्यादि कितनी जातियाँ हैं जिसका दिन-ब-दिन सांस्कृतिक परिवर्त्तन होता जा रहा है। नृतत्व वेत्ताओं का यह कर्त्तव्य हो जाता है कि वे नये ढंग से उन पर मोनोग्राफ तैयार करें। पुराने ढंग से अध्ययन करने के बजाय आज आवश्यकता इस बात की है कि एक विशेष गाँव के ही लोगों का सविस्तार अध्ययन किया जाय और उसी के आधार पर मोनोग्राफ तैयार किये जायँ। यदि बिहार में निवास करनेवाली प्रत्येक प्रमुख जनजाति के एक-एक गांव का सविस्तार अध्ययन किया जाय तो सामाजिक नृतत्व विज्ञान को बहुत लाभ हो। इसी तरह के अध्ययन से भारत के आधार पर तुलनात्मक समीक्षा करने तथा सामाजिक साधारणीकरण करने में विशेष सहयोग मिलेगा। इसके अलावा आदिवासियों की कुछ ऐसी संस्थाएँ हैं अथवा कुछ ऐसी विशेषताएँ हैं जिनका अध्ययन अलग से विशेष ढंग से किया जा सकता है। जिस तरह एलवीन ने "मेरिया" के घोटुल का अध्ययन किया है, उसी तरह उरांव के 'धुमकुरिया' का अध्ययन हो सकता है। बिहार के आदिवासियों की सामाजिक विशेषताएँ टोटम तथा धार्मिक विशेषता, बोंगा इत्यादि पर विशेष खोज हो सकती है।

आदिवासी कला

छोटानागपुर की ये जनजातियाँ अपनी विपन्नता के बावजूद भी एक क्षेत्र में इतनी धनी हैं जिसकी समता करना दूसरों के लिए कठिन है वह है इनकी कला और उनके प्रति इनका अटूट प्रेम। मुस्कुराते हुए चांद और

सितारों की छाया में, छिटपुट पहाड़ियों के पार गूंजते हुए इनके लोकगीत, इनके मनोहर वाद्य और नृत्य न केवल कला के चरमोत्कर्ष के सजीव उदाहरण हैं, प्रत्युत इसके निष्कलुष जीवन के प्रतिविम्ब भी हैं जो हमें निरन्तर आदिम जीवन की ओर आकृष्ट करते हैं। नृत्य वाद्य संगीत के अतिरिक्त ये दस्तकारी एवं चित्रकारी में भी प्रवीण होते हैं। इनकी कला एवं कला-प्रियता का विशेष अध्ययन करना अनिवार्य है। यह भय हो रहा है कि अत्यधिक बाह्य सम्पर्क से इनकी "इस अमूल्य थाती" को क्षति पहुँच रही है। सरकार को ऐसी योजना बनानी है जिनमें इनका सर्वांगीण विकास किया जाय और अन्य लोगों तक भी इसका प्रचार और प्रसार हो।

भाषा एवं लोक साहित्य का अध्ययन

बिहार की प्रत्येक जनजाति को अपनी भाषा है। हो, मुंडारी, संताली, इत्यादि भाषाएँ आस्ट्रो-एशियाटिक परिवार की हैं और ऊरांव तथा सौरिया पहाड़िया की भाषा द्राविड़ परिवार की भाषा से साम्य रखती है। अभीतक इन भाषाओं का वैज्ञानिक अध्ययन नहीं हुआ है। ग्रियर्सन ने इन भाषाओं की ओर संकेत तो किया अवश्य परन्तु उसके बाद किसी ने इस वृहत् खोज को आगे नहीं बढ़ाया। आज यह आवश्यक हो गया है कि उनकी भाषाओं का भाषाशास्त्र की दृष्टि से वैज्ञानिक अध्ययन किया जाय। इसके साथ-साथ लोक-गीत, लोक-कथा, पहेलियाँ, पौराणिक कहानियाँ इत्यादि के आधार पर उनके साहित्य एवं शैली के विकास पर भी प्रकाश डाला जाय।

सम्पर्क एवं सांस्कृतिक परिवर्त्तन

आज से सौ साल पूर्व तक इन आदिवासियों तक लोगों का पहुँचना कठिन था और इसके फलस्वरूप दूसरों की सभ्यता से यथासम्भव आगे रहकर वे एकान्त में निवास करते रहे। ये प्रकृति के पुजारी थे, परम्परागत आदर्शों के भक्त थे, बड़े लोगों की बातें ही इनके लिए कानून थीं और नाचते-गाते किसी तरह जीविका पालन करना ही इनके जीवन का एकमात्र लक्ष्य था। परन्तु आज से लगभग सौ वर्ष पूर्व इन इलाकों में पादरियों का आना प्रारंभ हुआ, इसके बाद छोटानागपुर के कोने-कोने में खान की खुदाई होने लगी, कितने कारखाने खुलने लगे और इनके फलस्वरूप ये आदिवासी बाह्य सांस्कृतिक सम्पर्क में अछूते नहीं रहे। युद्ध के जमाने में कितने सेना केन्द्र इनके गाँव के आस-पास बनाए गए। आवागमन की सुविधा से सांस्कृतिक आदान-प्रदान बढ़ने लगे और आज तो शायद ही कोई ऐसा आदिवासी क्षेत्र बचा है

जो इस सांस्कृतिक सम्पर्क से अछूता रह पाया हो। जो हो, इन सम्पर्कों का प्रभाव सभी जनजातियों एवं सभी क्षेत्रों में एक-सा नहीं पड़ा है। अधिकांश स्थानों में तो इनके कारण आदिवासी समाज में बीमारी, व्यभिचार, अव्यवस्था एवं अनीति ही फैली है। इनके दूषित प्रभाव के कारण भारत की कितनी जनजातियाँ टोडा, चेंचू, कोरवा आदि हमेशा के लिए समाप्त भी होती जा रही हैं। भाग्यवश बिहार में बाह्य सम्पर्क का प्रभाव आदिवासियों पर उतना खतरनाक नहीं प्रमाणित हुआ है फिर भी पतन के लक्षण उनके समाज पर स्पष्ट नजर आते हैं। नृतत्ववेत्ताओं का यह काम है कि वे सावधानीपूर्वक शोध करके सांस्कृतिक सम्पर्क के प्रभावों को प्रकाश में लाएँ तथा अन्धाधुन्ध सम्पर्क को रोकने की सलाह लेकर नियोजित रूप से सांस्कृतिक परिवर्त्तन करने की सम्मति दें।

व्यक्ति, समाज एवं संस्कृति

मनष्य सामाजिक और सांस्कृतिक प्राणी है। उसके व्यक्तित्व के विकास में समाज एवं संस्कृति की महत्त्वपूर्ण देन है। समाजीकरण और संस्कृतीकरण मानव जीवन की अनिवार्य सामाजिक मनोवैज्ञानिक विधियाँ हैं जिनके द्वारा नवजात मानव शिशु जो जन्म के समय केवल प्राणी रहता है, सामाजिक या सांस्कृतिक प्राणी नहीं, क्रमशः विकसित होकर समाज और संस्कृति का अंग बन जाता है और उनकी रीति-नीति को अपनाकर विचार और कार्यों के क्षेत्र में परम्परा और सामयिक लोक-व्यवहार के नियमों का पालन करता है। इन तीनों के सम्बन्ध के अध्ययन की ओर अमेरिकन नृतत्वज्ञों का अधिक झुकाव है। वे वैज्ञानिक प्रणालियों द्वारा "रोस्सा" "टी. ए. टी" गेस्टाल्ट, "ड्राइंग", "केस स्टडी" व्यक्ति समाज संस्कृति का अध्ययन करते हैं। भारत में इस तरह के अध्ययन का श्रीगणेश भी नहीं हुआ है। बिहार में मनोवैज्ञानिकों के सहयोग से कितनी जनजातियों के व्यक्तित्व विकास का अध्ययन किया जा सकता है।

स्वतंत्रता के युद्ध में आदिवासियों की देन

ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरुद्ध जिन राजनैतिक संगठनों एवं प्रमुख व्यक्तियों ने हाथ बँटाया, उनके इतिहास से हम परिचित हैं। परन्तु पिछड़े हुए "असभ्य" आदिवासियों ने राजनैतिक संगठनों की स्थापना के सौ साल पूर्व से ही जिस सशस्त्र संग्राम की मशाल जलायी थी और भविष्य के जन-

संग्राम के लिए जो परम्परा छोड़ी थी उससे हमारा परिचय नहीं ही है। संताल के खखार आन्दोलन, मुंडाओं का बिरसा आन्दोलन एवं माल पहाड़िया, हो, इत्यादि की क्रान्तिकारी घटनाओं के बारे में हमारा ज्ञान सीमित ही है। यह नृतत्ववेत्ताओं का पवित्र उत्तरदायित्व है कि वे स्वतंत्रता के युद्ध में आदिवासियों का जो देन रही है उनकी खोज करें और उन्हें आम जनता के सामने प्रस्तुत करें।

ग्रामीण एवं नागरिक जीवन का अध्ययन

अमेरिका तथा अन्य पश्चिमी देशों में ग्राम तथा नगर सम्बन्धी समाज-शास्त्र का बहुत विकास हुआ है। परन्तु खेद की बात है कि इस विषय में हमारे देश में कुछ काम नहीं हुआ है। गांवों के सामाजिक एवं सांस्कृतिक अध्ययन की ओर आज हमारी रुचि नहीं जाती है और कितने अमेरिकन आकर हमारे गाँव का समाजशास्त्रीय अध्ययन करके हमारे भार को हल्का कर रहे हैं। यंत्रीकरण के कारण कितनी ही समस्याएँ हमारे नगर एवं गांवों में पैदा हो गई हैं पारिवारिक जीवन में नानाप्रकार की अव्यवस्था दिखाई पड़ती है, फिर भी इनको समझने की हम चेष्टा नहीं कर रहे हैं। जाति सम्बन्धी समस्याएँ, वर्ग-वर्ग भेद सम्बन्धी कठिनाईयाँ, नगर ग्राम सम्बन्धी मतभेद आज हमारे समाज को खाए जा रहा है। इन विषयों पर खोज करना, बीमारी की जांच कर उसका उपयुक्त उपचार करना आवश्यक है।

बिहार में प्रस्तर युग

बिहार ऐतिहासिक ही नहीं, प्रागैतिहासिक स्टेट है। थोड़ा-बहुत जो प्रस्तर युगीन उद्योग हथियार, औजार, इत्यादि मिले हैं, उससे ऐसा जान पड़ता है कि प्रागैतिहासिक काल में भी बिहार में आबादी थी। परन्तु इन छिटपुट प्राप्तियों के आधार पर हम कोई नतीजा नहीं निकाल सकते। जिस तरह संकालिया ने गुजरात की साबरमती एवं माही की घाटियों, डीटेरा और पैटर्सन ने पंजाब के सोहन घाटी में, तथा कृष्णस्वामी और वर्कीट ने मद्रास में वर्षों तक खुदाई करके, उनकी सभ्यता की प्राचीनता को प्रमाणित कर दिया, उसी तरह बिहार भी किसी प्रागैतिहासज्ञ की प्रतीक्षा कर रहा है। यदि सरकार ने इस ओर ध्यान दिया और नृतत्वज्ञों को प्रोत्साहन दिया तो निश्चय ही इस दिशा में बहुत काम हो सकता है।

अन्त में नृतत्वविज्ञान के विकास और सम्भावनाओं के अध्ययन करने पर हम इस नतीजा पर पहुँचते हैं कि बिहार में इस दिशा में अभी शतांश भी काम नहीं हुआ है। परन्तु यह भी स्पष्ट है कि बिहार में सामाजिक एवं सांस्कृतिक अध्ययन की प्रगति को अब कोई रोक भी नहीं सकता है। पटना युनिवर्सिटी के समाजशास्त्र विभाग, बिहार युनिवर्सिटी के नृतत्व विभाग के तथा बिहार सरकार के जनजातीय शोध मंडल तथा कौंसिल ऑफ सोशल एण्ड कल्चरल रिसर्च, बिहार, के द्वारा अवश्य ही सामाजिक अध्ययन को प्रश्रय मिलेगा। हाँ, आवश्यकता है सम्मिलित ढंग से, योजना बनाकर खोज करने की। यदि सभी संस्थाएँ मिलकर शोध एवं प्रकाशन के लिए पंचवर्षीय योजना बनावें और सहयोग से काम करें तो निस्सन्देह बिहार शीघ्र ही भारत में सांस्कृतिक एवं सामाजिक अध्ययन एवं शोध का प्रमुख केन्द्र बन जायगा।

———:o:———

बिहार के आदिवासियों के प्रजातीय तत्व

जनजातीय बिहार की विभिन्न प्रजातियों और उनके विस्तार के सम्बन्ध में कुछ कहने के पहले हमें प्रजाति शब्द का अर्थ और तात्पर्य अच्छी तरह समझ लेना चाहिए। प्रजाति शब्द की उत्पत्ति अरबी भाषा के शब्द "रास" से हुई है जिसका अर्थ "आरम्भ" होता है। अरबी भाषा से यह शब्द फ्रेंच और अंगरेजी में ले लिया गया। पर प्रजाति शब्द का अर्थ अनिश्चित लगने लगा और इससे कई चीजों का बोध होने लगा। जैसे, सफेद प्रजाति, यहूदी प्रजाति, आर्य प्रजाति, ब्रिटिश प्रजाति, जो क्रमशः यह बताते हैं कि प्रजाति से शरीर के रंग का बोध होता है, धर्म अथवा संस्कृति का बोध होता है, भाषा का बोध होता है और देश के आदिवासी का उल्लेख करने के लिए भी इस शब्द का प्रयोग होता है। परन्तु इसमें से किसी भी अर्थ को हम सही नहीं कह सकते। वास्तव में नृतत्व विज्ञान और जीव विद्या में इसका प्रयोग प्राणी के दैहिक लक्षण मात्र को बोध कराने के लिये होना चाहिए। प्रजाति शब्द का प्रयोग किसी भाषा या सांस्कृतिक क्षेत्र के लिए करना असंगत होगा। प्रसिद्ध नृतत्ववेत्ता हूटन का यह मत है कि सभी नृतत्ववेत्ता इस बात से सहमत हैं कि प्रजाति के उल्लेख करने का मुख्य सिद्धान्त प्राणी के दैहिक लक्षण मात्र ही हैं। हूटन प्रजाति की परिभाषा इस तरह देता है— "प्रजाति मनुष्य के उस बड़े भाग को कहते हैं जिसके सदस्यों में यद्यपि थोड़ी-बहुत भिन्नता रहते हुए भी उनमें अधिक से अधिक दैहिक लक्षणों की ऐसी समानता हो जिससे यह ज्ञात हो कि वह समानता एक ही पूर्वज से उन्हें मिली है।" हूटन की इस परिभाषा से यह व्यक्त होता है कि जातीय विभाग करने के लिये नृतत्वीय नाप होना अनिवार्य है।

आजकल सभी नृतत्ववेत्ता मनुष्य के कई दैहिक लक्षणों का अध्ययन कर ही जाति विभाजन करते हैं। उनमें मुख्य दैहिक लक्षण ये हैं—केश का रंग और आकार, त्वचा का रंग, कद, कपाल का आकार, चेहरा और नाक का आकार और आँख का रंग इत्यादि।

भारतवर्ष में अभी तक कई नृतत्ववेत्ताओं ने यहाँ के जातीय तत्व का दैहिक लक्षणों के आधार पर अध्ययन किया है। और भारतवर्ष में उनके

भिन्न-भिन्न समावेशों पर भी उनलोगों ने अपना निजी सिद्धान्त दिया है। भारतवर्ष के इन सभी जातीय सिद्धान्तों के ऊपर ध्यान देने से पता चलता है कि यह एक ऐसा देश है जिसमें संसार के लगभग सभी ज्ञातव्य जातीय तत्व पाये जाते हैं। यहाँ पंजाब में, स्कैन्डिनेविया के नौर्डिक तत्व तथा साथ ही साथ जैसा कि डा० बी० एस० गुहा ने निरीक्षण किया है, कोचीन के कादरों में निग्रीटो तत्व भी पाये जाते हैं। यद्यपि हमारे सामने बहुत बड़ी जातीय भिन्नता है, फिर भी हम सामान्य रूप में किसी राज्य के वासियों को एक विशेष शारीरिक प्रतिरूप के अन्तर्गत वर्णन कर सकते हैं। उदाहरणार्थ— उत्तर प्रदेश और बिहार में हमें परिचित ऊँचे कापालीय गुम्बन, पतली से मध्यम नाक औसत अथवा पूर्ण रूप वाले दीर्घ कपाली लोग मिलते हैं, जिन्हें डा० डी० एन० मजुमदार "इन्डोनार्डिक" रूप कहते हैं। परन्तु इसका यह तात्पर्य कदापि नहीं होता है कि दूसरे जातीय रूप इस क्षेत्र में नहीं पाये जाते। बिहार में भिन्न-भिन्न आदिवासी जो अपना सांस्कृतिक जीवन व्यतीत करते हैं, अपनी भाषा बोलते हैं तथा शारीरिक रूप सम्बन्धी अपना कुछ अलग अस्तित्व सुरक्षित रख सके हैं, अपने-अपने छोटे तथा अल्प क्षेत्रों में हैं तथा निश्चय ही इस प्रकार के वे दूसरी जातीय श्रेणी में रखे जा सकते हैं।

अब हमें यह देखना है कि जिन-जिन लोगों न अपना निजी सिद्धान्त भारतवर्ष के जातीय तत्व के ऊपर दिया है उनके अनुसार बिहार की जन-जाति में कौन-कौन से जातीय तत्व हैं। भारतवर्ष में जातीय तत्व अध्ययन करने का सर्वप्रथम श्रेय रिजले को है जिन्होंने १९०१ में भारत के सभी क्षेत्रों के मनुष्यों का नृतत्वीय नाप लेकर अपना सिद्धान्त दिया है। उनके अनुसार बिहार प्रान्त की जनजातियाँ जो अधिकतर छोटानागपुर की उपत्यका में रहती हैं, जिनमें मुख्य मुंडा, उरांव, बीरहोर, हो, खारिया आदि हैं, वे द्राविडियन समुदाय में आते हैं। परन्तु "द्राविडियन" शब्द भाषा परिवार में एक श्रेणी विभाजन को समझाने के लिये प्रयुक्त होता है इसलिए इस शब्द को एक जातीय तत्व के रूप में प्रयोग करना असंगत होगा।

रिजले के बाद रूगरी न १९२१ में भारत में जातीय तत्व का अध्ययन किया। उनके सिद्धान्त के अनुसार बिहार प्रान्त की जनजातियाँ "आस्ट्रलायड वेड्डिक" समुदाय में आती है। पर राम प्रसाद चंदा के जातीय सिद्धान्त के अनुसार बिहार की जनजातियाँ "निषाद" में आती हैं और आक्सटेड के अनुसार ये 'वेडिड" समुदाय में आती है। पर हूटन और बी० एस० गुहा

ने १९३१ में बिहार के जनजाति को "प्रोटोआस्ट्रोलायड" शब्द से सूचित किया है।

इसके पूर्व कि बिहार की मुख्य जनजातियों की शारीरिक आकृतियों का वर्णन कर यह सिद्ध किया जाय कि भारत के विभिन्न जातीय सिद्धान्तों में कौन-सा शब्द बिहार की जनजाति को सूचित करने के लिए सबसे अधिक उपयुक्त होगा, बिहार की जनजातियों की भाषा के ऊपर कुछ प्रकाश डालना असंगत न होगा। वे लोग जिस भाषा को व्यवहार में लाते हैं, उनके अनुसार बिहार की ये आदिमजातियाँ दो मुख्य भागों में बांटी जा सकती हैं। मुन्डारी, संथाली, बिरहोरी, खरिया, हो, मुन्डाभाषा समुदाय के अधीन हैं जो "आस्ट्रो-एशियाटिक" भाषा परिवार की शाखा है। दूसरी ओर उरांव और मालतो जो क्रमशः उरांव तथा सौरिया पहाड़िया की भाषाएँ हैं, द्राविडिय भाषा समुदाय के अन्तर्गत आती हैं।

यद्यपि संथाल परगना और छोटानागपुर में रहनेवाली इन जनजातियों में भाषा की दृष्टि से असमानता है, शारीरिक विशेषताओं में वे एक ही हैं। विभिन्न नृतत्ववेत्ताओं के द्वारा इन सभी जनजातियों को, भिन्न-भिन्न कालों में नृतत्वीय नाप लिए गये हैं तथा इन सभी आंकड़ों के निरीक्षण से यह व्यक्त होता है कि बिहार की आदिमजातीय जनसंख्या में अधिकांशतः सामान्य गुण पाये जाते हैं। परन्तु सिर्फ एक ही आदिमजाति थारू जो उत्तरी बिहार के अन्तःहिमालय प्रदेश में पायी जाती है, बिहार की अन्य जातियों से भिन्न हैं। मैं निम्नलिखित परिच्छेदों में, बिहार में रहनेवाली मुख्य आदिमजातियों के शारीरिक आकृतियों का निर्देश करने की कोशिश करूँगा।

हो, सिंहभूम जिला के कोल्हान नामक क्षेत्र में पाये जाते हैं। वे लोग साधारणतः नाटे कद, काले रंग-रूप तथा छोटी, चौड़ी और चिपटी नाक के होते हैं। उनकी आँखें छोटी तथा काली, केश लहरदार और घुंघराले तथा चिबुक पतले तथा ओठ मध्यम आकार के होते हैं। उनके कान छोटे होते हैं तथा उनके दाँत अधिक शक्तिशाली तथा सफेद होते हैं। आजकल वे एक पतित जात, निर्बल गठन तथा जीवन में एक निम्नतर आकांक्षा वाले मनुष्य के सदस्य जान पड़ते हैं। यदि हो मर्द निर्बल, पतित तथा अल्पायु वाले हैं, तो हो स्त्रियों को अधिक सुन्दर शारीरिक गठन, तथा आकर्षण गति प्राप्त है।

भूमिज मुख्यतः परिवर्त्तन के कारण, सारी जनजाति हिन्दू जाति में परिवर्तित हो गई है तथा अपनी भाषा को छोड़कर वे बंगला बोलते हैं,

फिर भी उनलोगों ने अपने शारीरिक गुणों को स्थापित रखा है तथा दूसरे मुंडा बोलनेवाले लोगों से मिलते-जुलते हैं।

मुंड़ा छोटानागपुर के सबसे प्राचीन निवासी हैं। वे लोग काले, नाटे कद रूप के होते हैं तथा उनके कपाल दीर्घ तथा नाक चौड़ी और चिपटी होती हैं। चमड़े के रंग में गहरे पीले से लेकर कृष्ण पिगल रंग तक की भिन्नता होती है। यह केश का रूप है जो मुन्डाओं को निग्रीटो से पृथक् करता है। वे सामान्य रूप से लहरदार और कभी-कभी घुंघराले तो होते हैं परन्त् कुंचित नहीं होते।

यद्यपि बिरहोर एक खानाबदोश जनजाति है, फिर भी प्रजातीय दृष्टिकोण से मुंडा, भूमिज तथा हो से मिलते-जुलते हैं। वे लोग काली चमड़ा, मध्यम कद, दीर्घ कपाल, लहरदार केश तथा प्रशस्त नाक वाले होते हैं।

खारिया का मुख्य वासस्थान, उड़ीसा में मयूरभंज की केन्द्रीय पहाड़ी शाखाओं से लेकर राँची जिला के गुमला तथा सिमडेगा उपमंडल तक फैला हुआ है। वे लोग सिंहभूम तथा मानभूम जिलों में भी पाये जाते हैं। उन-लोगों का कद मध्यम होता है, तथा उनके चमडे के रंग में भूरापन से लेकर हल्के काले रंग तक की भिन्नता होती है। यद्यपि उनका शरीर पुष्ट तथा यथानुरूप होता है, फिर भी उन मुंडा और उरांव की तरह सुगठित नहो होता, जिनके बीच वे रहते हैं। बहुत कम ही खाड़िया मर्द हैं जिनके चेहरे पर बाल हो। उनके ललाट कुछ अन्दर की ओर दबे हुए, तथा नेत्र गढ्ढों के ऊपरी किनारे परिचित रूप से विकसित होते हैं। अनुनासिक उद्गम अत्यन्त दबे हुए होते हैं। औसतन वे लोग दीर्घ कापालिक और चिपटे नाक वाले होते हैं प्रशस्त कपालवालों की उनमें पूर्णतया कमी रहती है।

संथाल पूर्वीय भारत की सबसे विशाल जनजाति है। वे लोग मध्यम कद के, दीर्घ से लेकर प्रशस्त कपाल तथा मध्यमाकार नाकवाले होते हैं।

उरांव छोटानागपुर में राँची जिले के पश्चिमी हिस्से में निवास करते हैं। वे लोग नाटे कद के, दीर्घ कापालिक तथा प्रशस्त नाकवाले होते हैं। उनके चमड़े का रंग गहरे भूरे रंग से लेकर बहुधा काले के समीप का होता है। उनके केश काले और मोटे होते हैं तथा कभी-कभी इनकी प्रवृत्ति घुंघरालेपन की ओर होती है। उनकी आँख मध्यम आकार की होती हैं तथा कभी-कभी छोटी भी होती है। उनके जबड़े कुछ उभरे हुए तथा ओठ मोटे और जड़ में दबे हुए होते हैं।

पहाड़िया संथाल परगना के सबसे पुराने निवासी हैं तथा वे मुख्यतः संथाल परगना में ही पाये जाते हैं। ये पहाड़िया नाटे कद के तथा इसकी तुलना में यथानुरूप लम्बे अवयव वाले होते हैं। इनका रंग-रूप हल्के भूरे रंग का होता है। इनकी नाक ऊँची नहीं होती बल्कि मूल में चिपटी तथा चौड़ी होती है। ये लोग कपाली तथा घुंघराले से लेकर लहरदार केशवाले होते हैं।

इस प्रकार हमलोगों ने देखा कि, यद्यपि हो, बिरहोर, भूमिज, संथाल, खारिया, मुंडा भाषा की दृष्टि से ऊरांव तथा पहाड़िया से भिन्न हैं, दोनों में कुछ सामान्य दैहिक लक्षण वर्त्तमान हैं। स्वभावतः (भौतिक रूप से) उन काल्पनिक बातों के पक्ष में बहुत कुछ कहना है जो यह प्रतिपादित करते हैं कि काले चमड़ेवाले, नाटे कदवाले, दीर्घ कापालिक जिनके अनुनासिक उद्गम दबे हुए हैं, तथा जो प्रशस्त नाकवाले हैं, सभी की सामान्य उत्पत्ति हुई है। यदि दो भिन्न लोगों की जातीय रूप तथा संस्कृति में वस्तुतः एकरूपता है और उनकी एक दूसरे की भाषाएँ आपस में बिलकुल नहीं मिलती, जैसा कि बिहार के द्राविडियन तथा मुंडा भाषीय जनजातियों में देखा जा सकता है, तो इससे यह स्पष्ट है कि किसी दूरस्थ भूतकाल में अवश्य ही कहीं अवरुद्ध विकास का तत्व रहा होगा। इससे अनुमान किया जा सकता है कि द्राविडियन तथा मुंडा भाषीय लोग अवश्य प्रारम्भ में एक ही प्रजाति समूह के रहे होंगे जिनमें स्वीकृति के बाहर धीरे-धीरे विकास हुआ, अथवा विजय, स्थानान्तर या दूसरी-दूसरी ऐतिहासिक घटनाओं के आघात के फलस्वरूप, नयी विदेशी भाषा के पक्ष में उन्होंने अपनी भाषा को बिलकुल त्याग दिया। यह मान्यता हुंगेरियन तथा उनके पड़ोसियों के साथ जिनमें सामान्य जातीय लक्षण पाये जाने पर भी भाषा की दृष्टिकोण से विषमता है, बिलकुल सच उतरती है।

बिहार की इन सभी आदिमजातियों में, काला चमड़ा, नाटा कद, दीर्घ कपाल तथा प्रशस्त चिपटी नाक ही मूलतः साधारण लक्षण हैं। यदि हमलोग इन आदिमजातियों की सीलोन के वेड्डा जनजाति तथा आस्ट्रेलिया के मूल निवासियों से तुलना करें, तो देखेंगे कि कपाल और मुख के आकार तथा केश और चमड़े के रंग-रूप में तीनों आवश्यक रूप से आपस में मिलते-जुलते हैं, यद्यपि आस्ट्रेलियन लोग उच्चतर होते हैं तथा अन्य दूसरों से कपाल के परिमाण में बड़े और पूर्ण दीख पड़ते हैं। वेड्डा लोग भारतीय जनजातियों की अपेक्षा जो तीनों में सबसे अधिक छोटे होते हैं आस्ट्रेलियन मूल निवासियों

से अधिक समानता रखते हैं। आस्ट्रेलियनों में भी भौंहें अधिक चिट्ठित रहते तथा शरीर के केश अधिक सघन होते हैं। इन सभी लक्षणों से ऐसा जान पड़ता है कि इनमें एक नियमित श्रेणीबद्धता है जिनमें सबसे नाटे और छोटे भारतीय जनजाति हैं। उनके बाद वेड्डा लोग आते हैं और अन्त में आस्ट्रेलियन।

अब हम यह कल्पना कर सकते हैं कि तीनों अवश्य किसी एक ही कुटुम्ब से सम्बन्धित हैं। भारतीय जनजातियाँ अधिक से अधिक बुनियादी लक्षणों को सुरक्षित रख सकती हैं, जहाँ कि अन्य दो अतिरिक्त भारतीय समूह ने कुछ लक्षणों को अत्यधिक विशेष रूप से विकसित किया है। इसलिए उनलोगों के लिए डा० बो० एस० गुहा के अनुसार सबसे उपयुक्त शब्द "प्रोटोआस्ट्रोलायड" है जो उन तीनों के बीच के सबसे अच्छे उत्पत्तिजनक सम्बन्ध को व्यक्त करती है।

श्री आर० पी० चन्दा इस समूह को "निषाद" कहना ही पसन्द करते हैं, जो संस्कृत शब्द "निशाद" से उद्धृत है तथा जिसका अर्थ होता है, कौआ की तरह वर्णित काले पहाड़ियों और जंगलों में रहनेवाली अनेक ईर्ष्यालु आदिम-जातियाँ। डा० एस० एस० सरकार अपनी नवीन पुस्तक "दी एबोरिजिनल रेसेज इन इंडिया" में श्री चन्दा के पक्ष का समर्थन करते हुए कहते हैं—"उनमें कोई भी (यानि प्रोटो अस्ट्रोलायड और वेड्वायड) वैदिक आर्यों द्वारा दिये गये "निषाद" के व्यापक नाम को चरितार्थ करते हुए नहीं जान पड़ते हैं।"

वह जनजाति जो बिहार की अन्य जनजातियों के दैहिक लक्षणों से समानता नहीं रखती, थारू है जो उत्तरी बिहार के अन्तःहिमालय प्रदेश में बास करती है। आदिम थारू मंगोल्वायड वंश के हैं, तथा अपनी आँख और नाक के आकार से, अपने पीले भूरे, रूप-रंग से ही वे मुंडा द्राविडियन भाषीय जनजातियों से भिन्न समझे जा सकते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि बिहार की ४० लाख की आदिम संख्या में प्रधान जातिगत तत्व "निषाद" या "प्रोटो आस्ट्रोलायड" रूप का ही है तथा सिर्फ एक लघु अंश में ही मंगोल्वायड तत्व है।

रक्त विश्लेषण के आधार पर जातीय वर्गीकरण

बीसवीं शताब्दी के आरम्भ से कई नृतत्ववेत्ताओं ने रक्त-विश्लेषण के आधार पर संसार का जातीय वर्गीकरण करने का प्रयास किया है। मनुष्य

के रक्त चार भाग में विभाजित किये जा सकते हैं : ए०, बी०, ए० बी०, और ओ इस क्षेत्र में सर्वप्रथम नाम ब्रोटनवर्ग का आता है जिन्होंने १९२५ में रक्त-विश्लेषण के आधार पर संसार के लोगों को छः जातियों में विभाजित किया है। पर १९४६ में लोमरी ने रक्त-विश्लेषण के आधार पर संसार को आठ जातियों में विभाजित किया। आधुनिक नृतत्ववेत्ताओं में इस बात पर मतभेद है कि रक्त-विश्लेषण के आधार पर जातीय वर्गीकरण हो सकता है या नहीं। फिर भी वोयाड का अपना मत है कि रक्त-विश्लेषण के आधार पर जातीय वर्गीकरण करना सबसे उत्तम है।

पर मेरे विचार में रक्त-विश्लेषण को जातीय वर्गीकरण में स्थान देना अनुचित है। इसके अनेक कारण हैं। पहला कारण तो यह है कि बहुत-सी स्थिति में दैहिक लक्षण जो सर्वसम्मति से जातीय वर्गीकरण का आधार माना जाता है, और रक्तवर्ग में कोई अन्योन्य सम्बन्ध नहीं है। जैसे, यद्यपि बिहार की जनजातियों के दैहिक लक्षणों में काफी समानता है (सूची संख्या १), फिर भी जहाँ मुंडा (३५.३२ परसेन्ट) और हो (३४.९५ परसेंट) में सबसे अधिक "ओ" रक्तवर्ग है (सूची न. २), बिरजिया (६१.२४ परसेंट) और बिरहोर (५१.३० परसेंट) में सबसे अधिक "बी" रक्त वर्ग है। दूसरा कारण यह है कि रक्तविश्लेषण के आधार पर वर्गीकरण करने से दूरस्थ देशों के लोगों को जिनके दैहिक लक्षणों में कोई समानता नहीं, उन्हें भी एक जाति-वर्ग में किया जा सकता है। जैसे, आस्ट्रेलिया के आदिवासी और लेब्राडोर के एस्किमों में बहुत अधिक मात्रा में "ओ" रक्तवर्ग पाया जाता है, यद्यपि उनके दैहिक लक्षणों में कोई समानता नहीं है। तीसरा कारण यह है कि एक ही समुदाय के रक्तवर्ग का नमूना भिन्न-भिन्न नृतत्ववेत्ताओं द्वारा लिये जाने पर विभिन्न फल उपस्थित करता है। जैसे (सूची संख्या २) देखने से पता चलता है कि जनजाति बिरहोर में मजुमदार और सरकार के रक्त-वर्गीकरण में काफी अन्तर है। रिजले के अनुसार उनका कपाल चिह्न ७४.५० है, नासिका चिह्न २२.५० है और कद १६०.०१ सेन्टीमीटर है। एस० सी० राय के अनुसार उनके नाप क्रमशः इस प्रकार है : ७३.६७, २६.८१ और १६०.६९ सेन्टीमीटर। चौथा कारण यह है कि यद्यपि रक्तवर्ग का पैतृक दाय मेण्डल के सिद्धान्त के अनुसार होता है, फिर भी इसका पैतृक दाय और दैहिक लक्षणों की पैतृक दाय से कुछ भिन्न हैं। जैसे एक काले नीग्रो और सफेद अमेरिकन में वैवाहिक सम्बन्ध होने पर, मेण्डल के सिद्धान्त के

अनुसार उनके बहुत बच्चों को काले रंग के होने की सम्भावना है, पर 'ए' और 'बी' माता-पिता के रक्तवर्ग होने से, बच्चों में सभी तरह के रक्तवर्ग होने की बराबर सम्भावना है, कहने का तात्पर्य यह है कि ऐसे माता-पिता के बच्चे ए, बी, एबी और ओ रक्तवर्ग में भी हो सकते हैं। इस तरह हम देखते हैं कि बच्चों का रक्तवर्ग माता-पिता के रक्तवर्ग से भिन्न भी हो सकता है। इस तरह हम इस फल पर पहुँचते हैं कि एक ही समुदाय का रक्तवर्गीकरण यदि विभिन्न समयों पर (जिसे हर बीस साल पर) किया जाय तो भिन्न होगा।

इन सब कारणों के ऊपर विचार करने से हम इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि रक्तवर्ग को जातीय वर्गीकरण का एक सिद्धान्त नहीं मानना चाहिए। नृतत्व के दृष्टिकोण से रक्तवर्ग का अध्ययन करना इसलिए आवश्यक है कि इसके अध्ययन से कुछ अंश तक यह पता चल सकता है कि किसी भी समुदाय में कितने मिश्रित बच्चे हैं। इस तरह हम एक समुदाय या समाज में कितने वाह्य विवाह योनि सम्बन्ध होते हैं, इसका कुछ अंश तक पता लगा सकते हैं। पर मेरी समझ में रक्तवर्ग का जातीय वर्गीकरण करने के लिए अध्ययन करना बिल्कुल अनावश्यक जान पड़ता है।

सूची संख्या १ (नृतत्वीय नाप)

क्र.सं.	बिहार की जनजाति	कपाल चिह्न	नासिका चिह्न	कद	अन्वेषक
१	उरांव	७५.५	४२.२	१६२.१	एस. सी. राय
२	बिरहोर	७३.७	४६.१		" "
३	मुण्डा	७३.८५	७८.४६	१५९.६	एस.एम. सरकार
४	दुध और ढ़ेलकी खाड़िया	७४.५०	८८.५०	१६०.१	रिजले
५	दुध खाड़िया	७३.६७	८६.८१	१६०.६९	एस. सी. राय
६	ढ़ेलकी खाड़िया	७३.१६	८९.२२	१६०.७९	" "

सूची संख्या २ (रक्तवर्गीकरण)

क्रम सं.	बिहार की जनजातियाँ	संख्या	ओ०	ए०	बी०	ए०बी०	अन्वेषक
१	बिरिजया	१२६	१४	२२	७६	१४	सरकार
२	बिरहोर	३६	१०.८५	११.०५	६१.२४	१०.२६	सरकार
			८	७	२०	४९	
३	बिरहोर	१०२	२१.५१	१७.६४	५१.३०	१०.२५	मजुमदार
			३२	३६	२४	१०	
४	संथाल	४०७	३१.३७	३५.२६	२३.५३	६.८०	सरकार
			१२६	८७	१४५	४६	और सेन
५	मुण्डा	१३०	३१.७०	२१.३८	३५.६३	११.३०	मैक-
			४६	३८	३७	६	फलैन
६	हो	१८६	३५.३८	२६.२३	६.६२		
			६५	५६	१०		
		प्रतिशत	३४.६५	३१.७२	२७.१६	५.३	

आदिवासी साहित्य और कला

समृद्धि और वैभव के मापदण्ड से नापने के अभ्यासी होने के कारण बहुधा हम आदिम जातियों की सभ्यता की रमणीयता नहीं देख पाते। सौन्दर्य के उस लोक में पहुँचने की राह में भाषा ने भी एक खाई खोद रक्खी है और गरीबी ने तो अपने नुकीले कांटो से कला और सौन्दर्य के उन फूलों को ढंक ही दिया है। जैसे कंटीली झाड़ियों के झुरमुट में कोई कली मुसका रही हो और हम न देखें, जैसे गहरे पानी के बीच कोई कमल खिला हो और हमारा हाथ वहाँ तक न पहुँचे, जैसे ऊबड़-खाबड़ चट्टानों के नीचे कोई मीठा झरना झर रहा हो और हम दूर से ही निराश लौट जांय।

यों तो पहले भी उनके जीवन तत्वों को परखने की चेष्टा होती रही है मगर ये छिटपुट प्रयत्न कुछ जिज्ञासु, कुछ शोधक और कुछ उनके शुभचिन्तक व्यक्तिगत रूप में करते रहे हैं किन्तु अब तो लोक राज्य में लोक जीवन की प्रत्येक सांस का और उसकी प्रत्येक रेखा का मर्म समझना अनिवार्य बन गया है है और किसी भी जाति के जीवन तत्वों को समझने के लिए उसका साहित्य और उसकी कला की परख नितान्त आवश्यक है। आज सारे संसार में लोक साहित्य और लोक वार्ताओं की ओर लोगों का ध्यान बड़ी तेजी से जा रहा है। उनके अध्ययन, प्रकाशन और उनके द्वारा निकाले हुए निष्कर्षों के माध्यम से लोक जीवन के पुनर्निर्माण का काफी प्रयत्न किया जा रहा है। लोक जीवन को समझ लेने पर ही पता चल सकता है कि किन विश्वासों और मान्यताओं पर इनका जीवन निर्मित है, इनकी अभि चि क्या है, इनकी प्रेरणाओं के स्त्रोत कहाँ हैं और यह सब कुछ जान लेने पर पता चलेगा कि इनके विकास की इमारत किस धरती पर, किस आधार शिला पर और कौन से उपादानों से खड़ी जाय।

आदिवासी संगीत प्रेमी क्यों ?

बिहार में मुंडा, संताल, पहाड़िया, हो, ऊरांव और खड़िया प्रमुख जातियां हैं। इनके अतिरिक्त बिरहोर, असुर, भूमिज, सिझिया, खेरवार आदि कुछ और जातियां भी हैं जिनकी संख्या कम है। जंगलों और पहाड़ों के रमणीय

और रसमय वातावरण में इन्होंने एक बड़ी मनोहर संस्कृति का निर्माण किया है। गीत और नृत्य इनकी संस्कृति के मुख्य तत्व हैं। आदिवासियों के सौन्दर्य-बोध के रहस्यों को जानने के लिए उनके जीवन की पृष्ठभूमि को जानना आवश्यक है।

पहली बात यह है कि ये प्रकृति की रंगस्थली में निवास करते हैं। लहरदार पृष्ठभूमि वाली घाटियाँ, वस्तियों को गोदमें लिए पहाड़, विचित्र फूलों, पक्षियों से भरे जंगल, चट्टानों की गोद में उछलते-कूदते निर्भर, आकाश में घिरे हुए बादल और क्षितिज को संवारने वाले संध्या प्रभात दृष्टि के आगे एक चित्रात्मक पृष्टभूमि प्रस्तुत करते हैं। वह पृष्टभूमि जो नयनों का शृँगार है और जो सौंदर्यानुभूति को बढ़ाने वाली है।

किसान हल जोतने गया है और उसकी आँखों के आगे तरंगायित घाटी फैलती जा रही है, एक युवती धान की निकाई कर रही है और उधर पहाड़ों की ओट में मेघों की परियां अपना शृँगार कर रही हैं, एक चरवाहे को साखू की मंजरियाँ और करोंदे की फूली हुई झाड़ियाँ रूप, रस और गन्ध से बेचैन कर रही है और पत्ती तोड़ने लिए जंगल में गई एक लड़की को कोयल की कूक उन्मत बना रही है। इस अमर तृप्ति ने आदिवासी को सौंदर्य और संगीत का प्रेमी बना दिया है।

इन छटाओं के साथ इनका आत्मीय भाव इस प्रकार स्थापित हो चुका है कि जंगल के एकान्त और सूनेपन में भी ये अपने को अकेला नहीं पाते। उनके मन की लहरें कहीं भी किनारा पा जाती हैं। इन दृश्यों के बीच इनके जीवन में नीरसता नहीं आने पाती। सुख और दुख, भाव और अभाव, क्रीडा और पीड़ा हर परिस्थिति इनके मन में हिलोर उठाती है और अपनी उंगलियों से छूकर इनके हृदय के तारों को झंकृत करती रहती हैं। एकान्त के क्षण आदिवासी के लिए अभिशाप के नहीं, वरदान के क्षण हैं।

कला और सौंदर्य प्रेम का तीसरा रहस्य इनकी स्वतंत्रता है। ये अपने मन की प्रत्येक लहर के साथ वहने के लिए स्वतन्त्र हैं। ये आज की सभ्यता के तथाकथित सभ्यमनुष्य की भाँति "ड्यूटी और रूटीन" की जड़ मशीनों के गुलाम नहीं। प्रकृति के ये पुत्र मानव प्रकृति की सहज अनुभूतियों के लिए उन्मुक्त हैं। इनकी मस्ती का चौथा कारण इनका सरल और सच्चा परिश्रम है। उस कठोर परिश्रम में कोई छल प्रपंच नहीं वरन् सरलता और ईमानदारी है। वह परिश्रम जीवन की स्वाभाविक आवश्यकताओं की पूर्त्ति के लिए बड़े

स्वाभाविक ढंग से किया जाता है। इनके परिश्रम में किसी को ठगने की धूर्तता नहीं, किसी के शोषण की दुर्वृत्ति नहीं और किसी का सर्वस्व हरण कर लेने की स्पृहा नहीं। उनका परिश्रम सरल हृदय का वह उद्वेग है जो प्रकृति की निर्झरी में अपनी अंजली से दो चुल्लू जल पीकर तृप्त हो जाता है। उनका परिश्रम सभ्यता के आकाश में फैल कर दम तोड़ने वाला काला धुआं नहीं, हवा को छू कर उसे शीतल कर देनेवाला पवित्र स्वेदकण है। उस शीतल वायु की लहरें फिर उन्हें भी छूती हैं और उनके समाज के दूसरे व्यक्तियों के प्राणों को भी छूकर आनन्द और मस्ती का एक मनोहर वातावरण बनाती हैं। अवकाश और सद्भाव के यही स्त्रोत जंगल की ठंढी हवाओं में मिलकर समाज के लिए संगीत और कला की लहर बन जाते हैं।

पाँचवी बात यह है कि ये जातियाँ विकास की शैशवावस्था में रही हैं और एक व्यक्ति और समाज के विकास की प्रक्रिया एक ही प्रकार की है। जिस प्रकार एक व्यक्ति की प्रोढ़ावस्था में जब उसके ज्ञान और अनुभव परिपक्व हो जाते हैं तब भावनाओं की लहर सूखने लगती है और कल्पनाओं के पंख झड़ जाते हैं किन्तु बचपन और जवानी ऐसी अवस्थाएँ हैं जब उसके भाव प्रबल होते हैं, मन के आकाश में सतरंगी घटाएँ घिरती हैं और उमंगों की धाराओं में स्वप्नों के फूल खिला करते हैं। यही दशा जातियों के विकास की भी हैं।

सभ्यता के विकास के साथ मनुष्य की बुद्धि क्रमशः विकसित हुई है। किन्तु उसकी भावना की दशा इसके प्रतिकूल है। संस्कृतियों के प्रारम्भिक युग में उसका हृदय अधिक समवेदनशील था। जीवन सुख-दुख के पालने पर उसे अधिक झुलाता था, जवानी उसके हृदयाकाश में स्वप्नों के अधिक फूल खिलाती थी और प्रकृति अपने सौंदर्य की किरणों से उनके मन को अधिक रंगती थी। बाहर का रूप मनुष्य के अंतर में आज से अधिक रागों का सृजन करता था और वे राग बिह्वल स्वरों में फूट-फूट कर वायु की लहरों को आज से अधिक झंकृत किया करते थे।

आदिवासियों की प्रकृति को समझने के लिए मानव विकास की इस प्रक्रिया को समझना आवश्यक है। वे ज्ञान विज्ञान की प्रारम्भिक अवस्था में ही रहे हैं जिससे उनके जीवन की आवश्यकताएँ सरल और सीमित बनी रहीं, उनके कंधे पर बड़े-बड़े उत्तरदायित्व नहीं आए और अपने प्रकृत

"गुंगू" इसी नाम की लता की पत्तियों का बना हुआ छाता होता है जो रात दिन होनेवाली बरसात में, खेतों में काम करने के लिए बड़ा उपयोगी होता है। इसे प्रायः सभी आदिवासी जातियाँ बनाती हैं। खजूर की चटाइयाँ इनकी बड़ी उपयोगी कला-कृति हैं। खाट और मचिया की बनावट और बुनावट दोनों ही सुन्दर होती हैं।

आदिवासियों की कला-कृतियाँ शिकार के उपकरणों के रूप में भी प्रकट हुई हैं। वे मछली पकड़ने के लिए "कुननी", "झोमरी", "लोण्डरा", भँवर जाल, जालोम, "गीरा" आदि अनेक नाम और रूप की चीजें बनाते हैं। जैसे उपयोगिता की दृष्टि से वैसे ही कला की दृष्टि से भी ये चीजें बड़ी सुन्दर होती हैं। बांस की पतली और चिकनी तीलियों की, बया के घोंसलों की भाँति उतार चढ़ावदार कुसुनियाँ आदिवासी सभ्यता की एक बड़ी सुन्दर कला कृति है। कुछ लोग घास की भी कुमनी बनाते हैं। जंगली जानवरों और पक्षियों के शिकार की वस्तुएँ भी वैसी ही सुन्दर होती हैं। पण्डुक से लेकर खरगोश, बन्दर और हिरण तक विभिन्न पशु-पक्षियों के फंसाने के लिए उनके जाल विभिन्न प्रकार के होते हैं। खेतों में चरने वाले पक्षियों को फंसाने के लिए मुंडा लोग रस्सी और मोठे बालों का कटिकन नामक बड़ा सुन्दर जाल बनाते हैं जिसमें झुंड के झुंड पक्षी एक साथ फंसा लिए जाते हैं। आदिवासियों के मजबूत धनुष, बांस की तीलियों की डोर और तेज नुकीले तीर बड़ी सुन्दरता से रच-रच कर बनाए जाते हैं। इनके फरसे सदा तेज और चमकदार बने रहते हैं। ये लोग तम्बाकू रखने के लिए "कडरू" और पपड़ा" के फलों से और अनेक चिकनी लकड़ियों से "खोल" बनाते हैं जिसे नगपुरिया भाषा में "खुड़री" कहते हैं।

नृत्य गान के उपकरणों में भी इनकी कला-कृतियाँ देखने योग्य होती हैं। इनके द्वारा प्रयुक्त मांदर, नगाड़े, रवगा तथा इनके द्वारा निर्मित टुइला, केंडरा, बनम, बाँसुरी और मुरली आदि इनके सुन्दर वाद्य हैं। ये अपने नृत्य के अखाड़ों को कई पर्वों में केले के पत्तों, फूलों आदि से, तथा आजकल 'गीन कागज आदि से सजाते हैं। इनमें सबसे अधिक नृत्य के प्रेमी ऊराँव अपने अखाड़ों को भी सुन्दर बना कर रखते हैं। उन्हें खोदकर पत्तियाँ बिछाते हैं और फिर मोटी मिट्टी के ढंक देते हैं जिससे रात-रात भर चलने वाले उछल-कूद से भरे हुए नृत्यों में पैरों में चोट न लगने पावे।

आदिवासियों के शृंगार के प्रसाधनों में और केश विन्यास में बड़ी मनोहरता है। प्रकृति ने इनके बालों को बड़ा ही घना एवं घुंघराला बनाया है जिनके शृंगार का इन्हें बड़ा शौक है। नित्य झाडी या नदी निर्झर के किनारे ये चिकनी मिट्टी से उन्हें धोते हैं और तेल लगाकर उनका शृंगार करते हैं। इस प्राकृतिक चिकित्सा से इनके बाल सदा मजबूत और सुन्दर बने रहते हैं। स्त्रियाँ अपने खोंपा में सदा फूल खोंसती हैं। आदिवासी युवतियाँ कभी भी बालों में फूलखोंसने की बात नहीं भूलती। युवक अपने बालों में कंघी और "सांवर" खोंसे रहते हैं।

आदिवासी लड़कियाँ तरह-तरह के फूलों और तरह-तरह की घासों से अपने आभूषण तैयार करती हैं, उराँव घास की माला को "फुड़वीरा" और मुंडा "काड़ेमाला" कहते हैं। ऊराँव लड़कियाँ सीप को रगड़ कर कानों के लिए सुन्दर चमकीली "झिलपी" बनाती हैं और युवक बेल के छिलके से तीन-तीन लड़ियों की बड़ी मनोहर माला बनाते हैं। प्रायः सभी आदिवासी लड़कियाँ मोती, मूंगा और लाह से बने हुए मूंगा की अनेक प्रकार की मालाएँ बनाती हैं। अब तो बाजारों में बिकने वाले चाँदी सोने और पीतल के गहनों का रिवाज बढ़ रहा है। "हो" जाति की सुन्दर और स्वस्थ लड़कियाँ आजकल अपने कानों में सोने के बहुमूल्य आभूषण पहनने लगीं हैं।

युवतियों के वस्त्रों में बड़े रंगीन पाढ़ और काफी चौड़े आंचल बने होते हैं। सूत कातने का रिवाज आदिवासियों में बहुत अधिक रहा है यहाँ तक कि विवाह के समय यह कला लड़की की योग्यता का एक महत्वपूर्ण चिह्न रही है और लकड़ी की छाल के रंगों से वस्त्रों को रंगने की कला भी खूब प्रचलित रही है। उनके फूलदार चौड़े आँचलों की सुन्दरता नृत्य के अखाड़ों में देखी जा सकती है। उस समय ये लहरदार आँचल एक समगति में हिलते हुए ऐसे लगते हैं मानो उमंगों की सेना अपनी विजय पताका फहरा रही है।

मेलों और जतरों के अवसर पर मुंडा युवक फूलों के रंग से अपने मुख का शृंगार करते हैं और मुंडा युवक-युवतियाँ मेले के निकट जाकर किसी झाड़ी या चट्टान के किनारे अपने कपड़े बदलती हैं, बाल सँवारती हैं और नयी उमंग के साथ मेले में प्रस्थान करती हैं। मेले के पास जाकर कपड़ा बदलने की ऐसी शौकीनी अन्यत्र शायद ही कहीं हो। मेलों में बोरे,

चिथड़े तथा मिट्टी और कालिख से अपने शरीर को सजाकर बहुत से हास्य-प्रिय युवक स्वांग भी रचाते हैं।

आदिवासियों के प्राणों में कला और सौन्दर्य के प्रति जो सतर्कता रची हुई है, उसका प्रमाण हम उनके बच्चों के सुन्दर और सुडौल अक्षरों में भी पा रहे हैं। आप कहीं भी यह बात पा सकते हैं कि जहाँ तक सुन्दर अक्षर का सवाल है आदिवासी बच्चों की ही संख्या का पलड़ा भारी होगा। इनके पर्वों और जुलूसों में जो हम इतनी सुन्दरता शान्ति और अनुशासन पाते हैं वह आदिवासी की जीवन कला की महत्वपूर्ण विशेषता है।

लोक साहित्य का विशाल भांडार

आदिवासी संस्कृति के कोष में गौतों, कथाओं, लोकोक्तियों और पहेलियों के रूप में प्रचुर मात्रा में लोक-साहित्य विद्यमान है। उनके गीत नृत्य-गीत हैं। कहते हैं आदिम मानव ने पशु-पक्षियों के अनुकरण पर ही नाचना सीखा। जैसे मोर काले बादलों को देखकर आनन्द विभोर हो झूम पड़ता है या अपनी प्रेयसी को रिझाने के लिए अपने पंखो को फैलाकर भाव विह्वल हो नाच उठता है वैसे ही मानव भी अपने हृदय के संवेग में नाच उठा और जब भाषा ने उसके कण्ठ खोले तब वे ही संवेग गीतों के पंखों पर वायु में उड़ चले। आदिवासी सभ्यता में सनातन मानव संस्कृति की वह सनातन प्रकृति अपनी सारी कोमलताओं के साथ सुरक्षित हैं।

दिन भर के कठिन परिश्रम के बाद स्त्री-पुरूष अपने अखाड़ों में एकत्र होकर नाचते हैं और अपनी थकान मिटाते हैं। उनके गीत, नृत्य की सुविधा के अनुसार बने हैं जिनमें उनके सरल और निश्चल भाव भरे हैं। गीतों का आकार नृत्य के एक-एक ताल का बिचार करके बनाया गया है जैसे रेकार्डों पर नपे तुले गीत ही चढ़ाए जा सकते हैं वैसे ही ये गीत ऐसे हैं जो अपनी पुनरावृतियों के साथ एक ताल में ही समाप्त हो जायँ। सभी आदिवासी गीत मौसमी होते हैं जिनके लय, ताल और बाजे के बोल मौसम के अनुसार अलग-अलग होते हैं। प्रत्येक मौसम में प्रायः कोई न कोई पर्व होता है और उनके गीत इन पर्वों से भी सम्बन्धित होते हैं। आदिवासी मौसम की मर्यादा का पालन बड़ी सतर्कता से करते हैं। एक मौसम में दूसरे मौसम के गीत नहीं गाए जाते।

इनके लोक-साहित्य में गीतों के बाद कथाओं और पहेलियों का स्थान है। इनके पास लोक कथाओं का भी विशाल भण्डार है जिनमें धरती और

प्राणियों की उत्पत्ति, आधिवैदिक शक्तियों और पशु-पक्षियों आदि के संबंध में इनके विचार प्रकट हुए हैं। अधिकांश कथाएँ जीवन के खट्टे-मीठे अनुभवों के संबंध में भी है। प्रायः सभी कथाओं में पशु-पक्षियों के साथ इनका आत्मीय भाव प्रकट हुआ है। रात-दिन इनके साथ रहने वाली प्रकृति ने इनकी कथाओं के रंगमंच पर अपने आंगन से भी पात्र भेजे हैं। अधिकांश कथाओं का संबंध बालकों से है। इसलिए सारे विश्व की लोक-कथाओं की तरह आदिवासी लोक-कथाओं में भी छोटे बच्चों को अपने बड़े भाई-बहनों की अपेक्षा चतुर दिखाया गया है और जीवन के रोमांचक संघर्ष में सब की पराजय के बाद उन्हें विजयी बनाया गया है।

इनके साहित्य में बुझौवलों और लोकोक्तियों की भी भरमार है जिनमें दैनिक सम्पर्क की साधारण बातों के अतिरिक्त जीवनके परम्परागत अनुभव भी बड़े सुन्दर प्रतीकों में अभिव्यक्त किए गए हैं। इनकी कथाएँ और पहेलियाँ मनोरंजन का प्रधान साधन है।

मुंडा साहित्य में लोक-गीतों की संख्या बहुत बड़ी है। उनके मुख्य भेद हैं: जदुर, गेना, ओर जदुर, करमा, जरगा या मगे, जापी और अड़न्दी (शादी के गीत)। जदुर वसन्त गीत है जो इनके सरहुल या "बा" पर्व (पुष्पोत्सव) से संबंधित हैं। "गेना" और "ओर जदुर" उसी के पूरक हैं जो "जदुर" के नृत्यों की एकरूपता में कुछ परिवर्तन लाने के लिए बनाए गए हैं। "जदुर" गीत वसंत के प्रारम्भ से "बा" पर्व की समाप्ति तक गाए जाते हैं। "करमा" गीतों कें कुछ एकान्त संगीत हैं जो नृत्य के अखाड़े से हटकर गर्मी और बरसात की सूनी घड़ियों के लिए बनाए गए हैं। भादो की एकादशी को "करमा" पर्व मनाया जाता है। "करमा" गीतों में रामायण की कथाओं पर और कृष्ण की प्रेम-लीला पर सैकड़ों गीत हैं। "जरगा" या "मागे" गीत "करमा" पर्व के बाद माघ में मनाए जाने वाले "मागे" पर्व तक गाए जाते हैं। फागुन में शिकार के गीत गाए जाते हैं जो जापी कहलाते हैं। उनमें शिकार का उत्साह, हथियारों की चमक और प्रयाण-गीतों का प्रवाह भरा हुआ है। इनमें शादी के गीतों के संख्या कम है।

मुंड़ाओं का कथा-साहित्य भी समृद्ध है। उनकी सबसे प्रमुख कथा "सोसोबोंगा" है जो एक बैलेड है। वह धर्म गाथा, उनके जातीय इतिहास और सृष्टि की रचना एवं विकास के संबंध में उनके विश्वासों पर प्रकाश डालती है। वह धार्मिक क्रियाओं के साथ भादो महीने में किसी जानकार

देंवड़ा द्वारा कही जाती है। वह लम्बी कथा गीतों की गतिमयता और आरोह-अवरोह में पड़कर और भी लम्बी हो जाती है और आचारों की अनेक पुनरावृत्तियों के साथ रात-रात भर में समाप्त होती है। मुंडा का विश्वास है कि उस कथा के बाद धान के खेतों में "मेलवा" की टहनी गाड़ने से फसल में कीड़े नहीं लगते। उस प्रमुख कथा के अतिरिक्त बन जीवन की हजारों कहानियाँ मुंडा समाज में प्रचलित हैं और वैसे ही बुझौवलों की भी संख्या बहुत है।

संताली गीतों की संख्या उससे भी अधिक है। संताल, मुंड़ा, हो और खड़िया ये चार जातियाँ एक ही भाषा-परिवार से सम्बद्ध हैं। इसलिए उनके लोक-साहित्य में भी बहुत कुछ समानता है। मौसम के अनुसार संताली गीतों के भेद हैं: दोञ, लागड़े, सोहराय, मिनसार, बाहा, दसाय, मतवार, रिजा और डांटा आदि। संतालों का कथा साहित्य भी सुन्दर है जिनमें सृष्टि से लेकर बाघ, गीदड़(सियार) तक सभी तरह की कहानियाँ हैं। संताली कहानियों से उनके विभिन्न ऐतिहासिक संघर्षों और स्थान-परिवर्तनों की सूचनाएँ मिलती हैं। उनकी लोकोक्तियों की संख्या भी बहुत बड़ी है।

"हो" गीतों के प्रमुख भेद हैं: "वा", "हैरो", "जोमनामा", ("मागे" और शादी के गीत। "बा" वसंत गीत है। "हैरो" धान की बुनाई के समय के गीत हैं। जोमनाना नवान्न खाने के उपलक्ष में गाए जाते हैं जो बहुत कम हैं। मागे गीत नयी फसल की प्रसन्नता में गाए जाते हैं। "हो" के सामाजिक उत्सव सबसे अधिक इसी ऋतु में होते हैं और बड़े उत्साह के साथ मनाये जाते हैं। मागे गीतों की संख्या पर्याप्त है। इनके अंतिम गीत शादी के गीत हैं। इनकी बहुसंख्यक लोक-कथाओं में सृष्टि रचना संबंधी भी कुछ कथाएँ हैं। पहेलियाँ अधिकतर आंखों के सामने रात-दिन होनेवाली प्रकृति के क्रिया-कलाओं के संबंध में हैं।

"खड़िया' लोक गीतों के भेद हैं: "बा", "करम" मागे, जापी और शादी के गीत। इनकी लोक कथाएँ मुंडा कथाओं से मिलती जुलती हैं। बुझौवल भी पर्याप्त संख्या में हैं।

ऊराँव गीतों के प्रमुख भेद हैं: "सरहुल", जतरा, "घुरिया", "असाढ़ी", "करमा", "मठा", "जदुरा", और फगुआ। उरांव गीतों में कुडुख भाषा (उरांव भाषा) के गीतों के साथ ही "नागपुरिया" गीतों का प्रचलन भी काफी

बढ़ गया है। दूसरों का प्रभाव ग्रहण करने की शक्ति इस जनजाति में मुंडा भाषा-भाषी जनजातियों की अपेक्षा अधिक है। एक ही "प्रोटो अस्ट्रो-लाइड" वंशपरम्परा की इस शाखा की उपर्युक्त विशेषता का कारण शायद यह हो कि ऊरावों को अपने अन्य भाइयों की अपेक्षा काल के प्रवाहों के साथ अधिक बहने का तथा अपने से अधिक उन्नतिशील जातियों के सम्पर्क में अधिक रहने का अवसर प्राप्त हो चुका है।

ऊरांव दूसरों की अपेक्षा अधिक नृत्य के प्रेमी हैं। वे नित्य नाचते हैं। पर्व के अवसर पर उनके अखाड़ों में विशाल झंडे गाड़े जाते हैं। "सरहुल" वसंत गीत है। सरहुल पर्व के बाद "जतरा" गीत गाए जाते हैं। यों जतराएँ तो प्रत्येक मौसम में होती हैं और प्रायः आठ-दस गांवों का नृत्य सम्मेलन होता ही रहता है जहाँ गाँव-गाँव से लोग अपने विशाल झंडों के साथ जाते हैं। किन्तु ये मौसमी जतरा गीत विशिष्ट जतरा गीत है। जतरा गीतों के बाद करमा गीतों का महान मौसम प्रारम्भ होता है। गर्मी की धूल आंधी में धुरियाकरम और आषाढ़ के प्रारम्भिक पानी में असाढ़ी करम गाए जाते हैं। इनके अतिरिक्त नृत्य के भेदों के अनुसार "करम" गीत कई नामों से प्रचलित हैं जैसे परोया करम, थपड़ी करम, ठडिया, करम लहसुआ करम, लुझकी करम और दशई करम। इन असंख्य करमा गीतों के प्रयोग और विषय अलग-अलग हैं। गीतों में "करम" एक पर्व का नाम नहीं वरन् एक महान मौसम का नाम है और छोटानागपुर की नदी निर्झरों से भरी हुई हरी भरी धरती के ऊपर और रंग-बिरंगे बादलों से चित्रित इन्द्रधनुषी आकाश के नीचे यहाँ के निवासियों के हृदय कंठों से मुखरित तमाम गीतों का नाम है। प्रकृति की इन बहुरंगी छटाओं के अनुरूप "करमा" गीतों में भी अनेकरूपता है। आदिवासियों के असंख्य गीतों का अस्तित्व केवल इसलिए नहीं है कि उनके पीछे करमा नामक कोई पर्व है वरन् इसलिए है कि बरसात में छोटानागपुर की छविमयी घाटियों का सारा वातावरण ही पर्व बन जाता है जिसमें धरती गाती है और आकाश मुग्ध होता है, बादल गाते हैं और पहाड़ों की छाती पुलकित होती है, धान के खेतों में निकाई करती हुई युवती गाती है और दूसरी ओर "दोन" में हल की मूठ पकड़े हुआ युवक सिर धुनता है।

"मट्ठा गीत भादों के बाद करम पर्व के बाद फसल तैयार होने तक गाए जाते हैं। फिर जदुरा का मौसिम आता है और फिर फागुन में फगुआ के गीतों का।

रांची जिले के पश्चिमी क्षेत्र में ऊरांवों का क्षेत्र है एवं पलामू के दक्षिणी भाग में "बिरहोर" "कोरवा" "बिझिया" "खैरबार" और "असुर" निवास करते हैं। बिरहोर हजारीबाग जिले में भी हैं। ये सारी जातियाँ मुंडा परिवार की भाषाओं को बोलती हैं और ऊरांवों की तरह दो भाषाओं का प्रयोग करती है। इनके नृत्य गीत अधिकांशतः नागपुरिया में है और वही है जो ऊरांवों के हैं। कुछ गीत उनकी अपनी भाषाओं में भी हैं। नागपुरिया में ही उनकी लोक-कथाएँ और पहेलियां हैं। संथाल परगने की पहाड़ियाँ जाति ऊरांवों की तरह "द्राविड़ियन" भाषा बोलती है। उसके पास भी गीतों कथाओं और पहेलियों का समृद्ध भंडार है।

लोक-साहित्य का अध्ययन आवश्यक

आदिवासियों के इतने समृद्ध लोक साहित्य और लोक कलाओं का समुचित अध्ययन अभी तक नहीं हो पाया है और यह एक चिन्तनीय स्थिति है क्योंकि एक ओर आधुनिक सभ्यता की और साथ ही गुलामी की अर्थ व्यवस्था और समाज व्यवस्था में उनके जीवन का अत्यन्त ह्रास हो चुका है और दूसरी ओर अन्य लोगों के सम्पर्क में आकर वे अपनी अच्छी वस्तुओं को भी हीन समझने लगे हैं। इसलिए उनके जीवन के मरुस्थल में कला और साहित्य के श्रोत क्षीण होकर विलीन होते जारहे हैं। मध्य-भारत के आदिवासियों की कलात्मक वस्तुओं के संग्रह के प्रसंग में एलबिन ने लिखा है "मुझे भय है कि अब संग्रह करने के योग्य अधिक नहीं बचा है। भारतीय आदिवासी का स्वर्ण युग समाप्त हो चुका है अब तो हम मलबे में से प्रेरणा और सौन्दर्य के खण्डित अंश ही ढूंढ़ सकते हैं।'

इस अध्ययन के विषय में डा० बैरियर एलविन जैसे साधकों के प्रयत्नों से मध्य भारत की गोड़, बैगा आदि जातियों की किस्मत आगे है किन्तु बिहार के आदिवासियों की संस्कृति का भाग्य अभी तक अधर में है। और तो और, नयी सभ्यता का चाकचिक्य स्वयं आदिवासियों की दृष्टि से भी अपनी संस्कृति के तत्वों को गिरा रहा है। अँग्रेजी शासन में जिन शासकों और धर्म प्रचारकों का इस भू भाग से संबंध रहा है उनकी अभिरुचि आदिवासी संस्कृति को मिटाने में ही अधिक रही है। अस्तु अध्ययन के किसी व्यवस्थित प्रयत्न के अभाव में उनकी लोक वार्त्ताएँ रहस्यमयी और अछूती ही बनी रह गई। श्री डब्ल्यू जी० आरचर ने १९४३ में लिखा था "दश वर्ष पहले तक भारतीय जनजातियों की कविता सभी जिज्ञासुओं के लिए एक

वर्जित प्रदेश थी। "बौडिंग" बहुत-सी संथाल कविताओं को खालिश बकवास समझता था.....और ग्रिनार्ड ने ऊराँव गीतों के संबंध में अपनी यह धारणा प्रकट की थी कि किसी भी ऊराँव गीत के विभिन्न पदों में जो विचार चलते हैं उनको पकड़ सकना कठिन है। ..... कान वार्तालाप के असम्बद्ध टुकड़ों का वस्तुतः सिर पैर नहीं ढूंढ़ पाता। पाश्चात्य पाठक कुछ क्षुब्ध हो जाता है।" किन्तु बाद में थोड़ा बहुत इधर ध्यान दिया जाने लगा और कुछ गीतों और कहानियों के संग्रह प्रकाशित किए गए।

श्री शरतचन्द्र राय ने विभिन्न आदिम जातियों के विषय में लिखी हुई अपनी मोटी पुस्तकों में लोक-कथाओं और लोक-साहित्यों के विश्लेषण को भी थोड़ा बहुत स्थान दिया और उसकी कुछ बानगी उपस्थित की। उन प्रयत्नों का मूल्य कुछ अधिक नहीं था। इस विषय में पहली बार सबसे महत्वपूर्ण प्रयत्न श्री आर्चर ने ही अनेक आदिवासी नवयुवकों की सहायता से किया। उन्होंने—

मुंड़ाओं के १६६१ गीतों की "मुंडा दुरंग"
संथालों के ३००० गीतों की "होड़ सेरेन"
हो के ६३५ गीतों की "हो दुरंग"
खड़िया के १५२८ गीतों की "खड़िया एलो" और
ऊँरांवों के २६०० गीतों की "ब्लू लैण्ड" (लील खोर खेखेला)

नामक पुस्तकें प्रकाशित करायी। उन्होंने गीतों का संग्रह नागरी लिपियों में किया। यद्यपि उन मोटी पुस्तकों में संग्रहीत हजारों-हजार गीतों में से अधिकांश खण्डित और अधूरे हैं, वहाँ न अनुवाद है न बिशलेषण, फिर भी मौखिक परम्परा के कोष से इतने गीतों को एकत्र कर लेना भी अपने आप में एक महान प्रयत्न है। संताली कहानियों का एक संग्रह फादर बौडिंग ने प्रकाशित कराया था। "संथाल पहाड़िया सेवा मंडल" द्वारा इनके लोक साहित्य पर छोटी-छोटी अनेक पुस्तकें प्रकाशित करायी गई हैं। श्री डोमन साहु "समीर" संथाली भाषा में "होड़ संवाद" नामक पत्र निकालने के अतिरिक्त संतालों के लोक साहित्य पर भी अपने महत्वपूर्ण अध्ययन प्रस्तुत कर रहे हैं। उन्होंने संथाली भाषा, साहित्य और संस्कृति पर बड़ी मूल्यवान पुस्तकें लिखी हैं जिनका प्रकाशन अभी तक नहीं हो सका है।

मुंड़ा लोक गीतों पर इन पंक्तियों के लेखक की एक पुस्तक "बाँसुरी बज रही" बिहार सरकार ने राष्ट्र भाषा परिषद् द्वारा प्रकाशित कराई है। लोक कथाओं और पहेलियों पर भी एक पुस्तक प्रकाशित हो रही है।

"हो" भाषा में आरचर के गीत संग्रह के अतिरिक्त "हो" जाति के ही एक विद्वान लेखक श्री सतीश कुमार "कोड़ा" की लिखी हुई कई पुस्तकें विद्यमान हैं जिनमें गीत से लेकर आयुर्वेद तक बहुत से विषय हैं। श्री कान राम "देवगम" एम० पी० ने "हो" दुरंग" नामक एक पुस्तक लिखी है। इसके अतिरिक्त दस बीस पन्नों के "हो" गीतों के बहुत से संग्रह सिंहभूम के बाजारों में मिलते हैं। इस जाति पर नृतत्व शास्त्र के प्रसिद्ध विद्वान श्री डी० एन मजूमदार ने "एफेयर्स आफ ए ट्राइब" नामक एक महत्वपूर्ण पुस्तक लिखी है जिसमें अन्य बातों के साथ उनकी संस्कृति और कला तथा उनके लोक साहित्य की भी विवेचना प्रस्तुत की गई है। किन्तु सारे जीवन का विश्लेषण करने के उद्देश्य से लिखी हुई उस पुस्तक में स्वभावतः ही कला और साहित्य के लिए अधिक स्थान नहीं मिल सका है। आरचर के "खड़िया" गीतों में कहानियां और पहेलियाँ भी संग्रहीत की गई हैं।

आरचर ने "बलू लैण्ड" के अतिरिक्त अँगरेजी में अनुवाद और विश्लेषण सहित ऊरांव गीतों पर तीन और पुस्तकें भी लिखी हैं जिनके नाम हैं "ब्लू-ग्रोभ, एमंग दी ग्रीन लीम्स", और दी डफ एन्ड दी लेपर्ड।'

इस प्रकार आदिवासी लोक साहित्य के अध्ययन के छिट-फुट प्रयत्न आरम्भ हो चुके हैं किन्तु उनको प्रकाश में लाने की समस्या अभी भी कठिन है। प्रकाशकों के लिए यह लाभ का सौदा नहीं है और विश्व-विद्यालय उसका उपयोग करें अभी वह दिन नहीं आया है। शिक्षा के, अपने ऊँचे कोठे से लोक-जीवन की धरती पर उतरने में अभी कुछ देर है। अस्तु: जंगलों और पहाड़ों में सुरक्षित मानव संस्कृति की एक अमूल्य थाती को सर्वदा के लिए मिट जाने से बचाने के लिए सरकार को ही आगे बढ़ना चाहिये।

मगर इस संरक्षण का उद्देश्य क्या हो? क्या इनकी रक्षा केवल इसलिए की जाय कि ये शिक्षा और सभ्यता की बाढ़ में कहीं वह न जायें

और हमारे भविष्य के संग्रहालय से प्रस्तरीभूत संस्कृति की एक और अस्थि कम न हो जाय ? अथवा इनका कोई और भी उपयोग है ?

यह बात ठीक है कि नवीन समाज के ढाँचे में संस्कृतियों की स्थूल विशिष्टताओं का स्थान नहीं रहनेवाला है । ज्ञान और विज्ञान के विकास से समुदायों की दूरियाँ क्रमशः कम होती जायँगी और आदिवासी संस्कृति और गैर-आदिवासी संस्कृति के भेद समाप्त हो जायँगे । फिर भी इनके सांस्कृतिक तत्वों का संरक्षण इसलिए होना चाहिए कि भविष्य की मानव सभ्यता उन्हीं मूल-भूत तत्वों पर निर्मित होनेवाली है । आधुनिक मनीषा ने युगों के समुद्र मंथनों के बाद जिस साम्ययोग के अमृत सिद्धान्त को प्राप्त किया है उसे आदिम मानव ने एक दिन सहज रूप से ही पा लिया था । वह जीवन स्वतंत्र, स्वावलम्बी और परस्परावलम्बी था । उस जीवन में विशिष्ठताओं का नहीं सामान्यताओं का महत्व था और आज भी सभ्यता को अपन विकृत प्रयोगों के रास्ते, बेकार बड़ी लम्बी दूरी तय करने के बाद, फिर पीछे लौटकर, संसार को मिटने से बचाने के लिए, मानवता के जिस मंजिल तक पहुँचना है वह मंजिल आदिवासियों के लिये अपेक्षाकृत निकट है । आज के विकास, शील ज्ञानविज्ञान को जीवन के उन मूल-भूत तत्वों के साथ समझौता करना होगा । अपनी सफलताओं के गुमान में उनके द्वारा मानवता की सहज प्रकृति की उपेक्षा श्रेयस्कर नहीं होगी । संस्कृति की नयी रचना में आनन्द और मनोरंजन के विकेन्द्रित और परस्परावलम्बी जिन तत्वों का महत्वपूर्ण स्थान होगा उनके लिए आदिवासियों को नया अभ्यास नहीं करना है और जैसे-जैसे उनके जीवन का स्तर ऊपर उठेगा उन तत्वों का स्तर भी ऊपर उठेगा ।

जैसा कि पहले कहा गया है वर्त्तमान युग में जीवन का ह्रास हो जाने के कारण और अन्यों के सम्पर्क में आकर उनकी चमक-दमक देखने के कारण आदिवासी अपनी चीजों को हीन और दूसरों की हीन बातों को भी उत्तम समझने लगे हैं । परावलम्बन की और भौतिक साधनों के अभाव की धरती पर प्रत्येक जाति में दुर्भाग्यवश इन्हीं प्रवृत्तियों का उदय होता है । किन्तु काल के तीव्र प्रवाह में अपने पैरों को रोकने की, इसी नाजुक क्षण में सबसे अधिक आवश्यकता होती है ।

आदिवासियों की संस्कृति के इन महत्वपूर्ण तत्वों की रक्षा इसलिए नहीं होनी चाहिये कि वे उनकी परम्परागत चीज है, उनके पुरखों की

निशानी हैं वरन् इसलिए होनी चाहिये कि वे सनातन सत्य हैं, पुरूष और प्रकृति की पुरानी पहिचान हैं। उन्हीं तत्वों के साहचर्य से जंगलों में फूल खिलते हैं, डालों पर कोयल बोलती हैं, पहाड़ों के झरने फूटते हैं, मिट्टी के पुतलों में प्रेम जगता है और बांसुरी से स्वर मुखरित होता है और यदि दुर्भाग्यवश वर्त्तमान सभ्यता प्रलय लाकर ही छोड़ेगी, एटमों और हाइड्रोजनों की मार से धरती को बांझ बना ही देगी तो वही तत्व ठूठों में नये पत्ते उगायेंगे, धरती के स्तनों में दूध भरेंगे और जिन्दगी को मर जाने से बचाकर आगे बढ़ायेंगे।

संताल

गोंडो और भीलों की तरह संताल भी हमारे क्षेत्र की प्रमुख जनजाति के लोग हैं जिनकी आबादी सारे देश में लगभग ३० लाख की है । यों इन लोगों की जन संख्या बिहार, बंगाल, उड़ीसा और आसाम के विभिन्न स्थानों में लाखों में है, फिर भी सबसे प्रमुख, संताल जनपद बिहार का संताल परगना जिला है जहाँ इन लोगों की आबादी लगभग ३४ प्रतिशत है ।

संताल परगना जिले का मध्य भाग "दामिन-ई-कोह" नामक सरकारी खास महाल है जिसका क्षेत्रफल १३३८ वर्गमील है । यहाँ के संताल, पहाड़िया आदिजनजातीय लोगों की आबादी सबसे अधिक इसी "दामिन-ई-कोह" में है । कुल आबादी का ७५ प्रतिशत तक । यह क्षेत्र पर्वतों के प्राकृतिक अंचल में स्थित है ।

ऐसे ही रमणीक क्रीड़ागार में हमारे देशवासी संतालों का सरल जीवन व्यतीत होता आया है । वस्तुतः शाल के पत्ते तोड़ने, महुआ चुनने, केंद और पियार चुनने, पीपल और पाकड़ के साग तोड़ने, लकड़ियाँ काटने अथवा शिकार करने के लिए जब कभी संताल युवक-युवतियों स्त्री-पुरुषों के दल, कंठो में अपने गीतों के बोल तथा हाथों में धनुष बाण और बाँसुरिया धारण किये, जंगलों में विचरण करते हैं तब बृदांवन और चित्रकूट , दोनों के दृश्य एक साथ आंखों के आगे उपस्थित हो उठते हैं । परन्तु दूसरी ओर जब क्षुधा-पिपासा से प्रताड़ित संताल स्त्री-पुरुष, टोकरियां और झोरे लिये, अपने अंडे बच्चों के साथ, जीविका की टोह में मनिहारी या बरिन (बंगाल) को जाते दिखाई पड़ते हैं तब एक दूसरा ही करूण दृश्य अंतस्तल को झकझोर जाता है ।

संताल गाँव

प्रत्येक संताल गाँव (आतो) साधारणतः ४०–५० परिवारों का होता है । यह आवश्यक नहीं कि एक गाँव में एक ही गोत्र के लोग हों, बल्कि विभिन्न गोत्र ही क्यों विभिन्न जातियों के लोग भी आये दिन एक ही संताल गाँव में रहते हुए मिलेंगे ।

प्रत्येक संताल गाँव में ८–१० गज चौड़ी एक "कुल्ही" (नली) रहा करती है जो समतल और सीधी हुआ करती है तथा जिसके दोनों ओर, एक ही सीध में, प्रत्येक परिवार के घर बने रहते हैं। प्रत्येक परिवार का मुख्य द्वार गली में ही खुलता है। साधारणतः अलग-अलग परिवारों के बाखरों के बीच एक संकरी गली रहा करती है जो गली से बाड़ी (पिछवाड़ा) की ओर जाने-आने के काम आया करती है।

प्रत्येक गाँव में, मांझी (प्रधान) के दरवाजे के सामने गली में एक चौकोर मज्बूत चबूतरा रहा करता है जिसे मांझी 'थान" कहते हैं और जिस पर मांझी के पितर, पत्थर के टुकड़ों के रूप में संस्थापित रहते हैं। कहीं-कहीं "मांझी थान" ऊपर से छाया हुआ भी रहता है। गाँव की पंचायतें साधारणतः "मांझी थान" में ही अपनी बैठकें किया करती हैं। इसे संतालों का सिंहासन बत्तीसी कहा जा सकता है। मांझी थान और जोहर थान दोनों संतालों के धर्म स्थान हैं। 'जोहर थान" बस्ती से थोड़ा हटकर रहता है। वहाँ सखुए और महुए के पाँच छः पेड़ लगे रहते हैं जिनके बीच संतालों के प्रमुख देवी-देवता संस्थापित रहते हैं।

संताल बस्तियाँ साधारणतः ऐसे स्थानों में है जहाँ किसी प्राकृतिक जलाशय का सुपास हो। गली के छोर पर अलग-अलग परिवार के लिए अलग-अलग खलिहान की जगहें भी निर्धारित रहती हैं जहाँ धान पीटने के लिए छोटी-बड़ी चट्टानें भी गड़ी रहती हैं।

संताल घरः—मिट्टी की दीवारों और फूस के छप्परोंवाले संतालों के छोटे-छोटे घर साधारणतः लम्बाई में १५–२० हाथ, चौड़ाई में १०–१२ हाथ और ऊँचाई में ५–६ से १०–१२ हाथ तक होते हैं। छप्पर या तो "चरचाला" (चारों तरफ ढालुआ) होते हैं या "दोचाला" (दोही तरफ ढालुआं) "चरचाला" घर को "चातोम ओड़ाक" अर्थात् "छत्राकार घर" कहा जाता है। घर यदि "चरचाला" हुआ तो उसके चारों ओर और "दोचाला" हुआ तो उसके दोनों ओर ओलती के नीचे, दीवारों से सटे हुए, डेढ़ से दो हाथ और एक से डेढ़ हाथ चौड़े पिंडा यानी ओसारे भी प्रत्येक संताल घर के अनिवार्य अंग हैं। ये ओसारे और लिपी-पुती, साफ-सुथरी दीवारें ही तो संताल घरों की खास पहचान हैं। एक घर में साधारणतः एक ही दरवाजा रहता है जो आंगन की ओर खुलता है। घर में खिड़कियाँ नहीं रहतीं।

सामान्यत: एक परिवार को एक ही घर होता है जिसमें दो "कान्धा" (कक्ष) होते हैं । एक "कान्धा" परिवार भर के लोगों के रहने, रसोई बनाने, खाने-पीने, उठने-बैठने और सोने के काम आता है और दूसरा अपना दाना पानी रखने के काम । "ओड़ाक बोंगा" (गृह-देवता) भी उसी में दूसरे "कन्धे" में स्थापित रहते हैं, परन्तु उसमें घर के लोग भी बिना किसी पाबन्दी के रह सकते हैं । आंगन की ओर, घर से सटा हुआ, २ ३ हाथ चौड़ा एक "ढाबा" (बरामदा) भी रहता है जिसमें साधारणत: एक ढेंकी और खटिया मचिया रहा करती हैं । आये गये लोग भी उसी में बैठते-उठते हैं ।

प्रत्येक परिवार को एक छोटा-सा आंगन भी रहता है जहां से एक दरवाजा गली की ओर खुलता है और दूसरा बाड़ी यानी पिछबाड़े की ओर। गाय बैल हो तो एक घर उनके लिए भी, आंगन से सटा हुआ, बना रहता है । उसे "गोड़ा" यानी "गोहाल" कहते हैं । भेड़ बकरियों के लिए "ढ़ाबा" में ही एक "गुदड़ी" बनी रहती है । सूअरों के लिए कुत्ही (गली) वाले ओसारे से लगा हुआ एक "सकरी" बांड़ा बना रहता है। मुर्गियाँ घर की दोनों कोठरियों में से ही किसी कोने में डेरा डाल लिया करती हैं । कुत्ते ओसारों पर ही पड़े रहते हैं । घर के सामान कपड़े-लत्ते, हांड़ी-पतीली, सूप-डाली, दाना-पानी, आदि रहने के घर में ही रखे जाते हैं । कृषि संबंधी औजार "गोड़ा" में रहते हैं । पानी के घड़े ओसारों पर बने "गारसाबड़ी" पर रहते हैं ।

प्रत्येक परिवार को अपने बाखर (घर) के पिछवाड़े दस-पांच कट्ठा ऊँची जमीन, "बाड़ी" अवश्य रहती है । उसमें मकई तो होती ही है, साग-सब्जी भी हुआ करती है ।

उनके खान-पान:—संतालों का मुख्य भोजन "दाका उरू" यानी 'भात-दाल" या तरकारी है । दाल तरकारी न हो सके तो मांड़, भात और थोड़ा सा नमक पर्याप्त है । इनका दूसरा प्रमुख भोजन "जोण्डरा दाका" अर्थात् मकई का दलिया है । कुछ लोग तो इसे भात से भी अधिक पसन्द करते हैं । मड़ुए का भी दलिया ही खाया जाता है, सत्तू या रोटी नहीं । चूड़ा और मूढ़ी ये लोग शौक के तौर पर खाते हैं, खास कर पर्व त्योहारों में । फागुन चैत में सिझाया हुआ और आषाढ़ में "लाठे" बनाया हुआ महुआ भी बड़े प्रेम से खाया जाता है ।

दलहन में कुलथी मुख्य है । तरकारियों में बैंगन, आलू, कोंहड़ा, कद्दू सेम, ओल और कटहल खास कर खाये जाते हैं । सागों में "कान्या", कचनार, पीपल और मुनगा के साग इनके लिए विशेष रूप से प्रिय है । ये साग, बिना उपजाये अनायास इन्हें मिल जाते हैं ।

मछलियाँ और विभिन्न जीवधारियों के मांस भी ये लोग बड़े प्रेम से खाते हैं । सूअर और मुर्गी के मांस तो इनकी आम चीजें हैं ही । मसालों में हल्दी, धनियाँ मिरचाई और तेजपात का व्यवहार इनके यहाँ होता है । लहसून और प्याज भी मसाले की तरह ही काम में आते हैं ।

"हंडिया" संतालों की आम पेय है । उसमें नशा शराब से कम ही होता है । "हंड़िया" चावल, कोदो, मड़ुआ आदि अनाजों से बनती है ।

ये लोग साधारणत: दिन में तीन बार भोजन करते हैं: (१) "बासक्याक्" (जलपान) दिन के नव दस बजे (२) "माजजान" (कलेवा), दिन के डेढ़ दो बजे और (३) "कदोक" (व्यालू) रात के ७–८ बजे । (जलपान) में साधारणत: बासी भात खाया जाता है ।

वस्त्राभूषण:—संतालों के खास वस्त्र "कुपनी", "कान्चा", "पंची", "पारहांड", "दहड़ी" और "पाटका" कहलाते हैं । पहले के लोग "कुपनी" और "कान्चा" (लंगोटी) पहना करते थे, उनका स्थान "पन्बी" और धोती ने ले लिया है । "दहड़ी" और 'पाटका" पगड़ी को कहते हैं जो खास सम्मान के द्योतक समझे जाते हैं । शरीर पर "पिछौड़ी" (चादर) या "बरकी" (लिहाफ) धारण किया जाता है, कमीज कुर्त्ता पहनने का रिवाज अब भी कम ही है । स्त्रियों का पहरावा "पारहांड" है जो साधारणत: पाड़दार होता है । उसे कमर में लपेटकर पहना जाता है । उससे ऊपर, शरीर पर, "पंची" धारण की जाती है जो बांये कंधे से पार होकर वक्षस्थल को ढंके रहती है और जिसके दोनों छोर पीछे की ओर "पारहांड़" में खोंसे रहते हैं । अब तो रंग-विरंगी साड़ियों का प्रचलन भी इन लोगों में हो गया है । बच्चों का पहरावा "भागवा"और "पुतली" है ।

संताल लोग, क्या स्त्री क्या पुरुष, बालों को सजाने संवारने के बड़े शौकीन होते हैं । स्त्रियाँ जूड़े बांधती और रंग-बिरंगे फूल-पत्तों से उन्हें सजाये रहती हैं । बालों को खुला रखना अशिष्ट समझा जाता है ।

फूल और पत्ते तो संताल स्त्रियों के लोकप्रिय आभूषण हैं ही, हांथों में शंख के "सांखा" एवं कांसे, पीतल या चांदी के "साकोम" बांहों में "खागा"

गले में हंसली और सकड़ी" तथा कानों में सोने चाँदी के "पानरा" भी इनके सामान्य आभूषणों में से है। नाक में सोने या चाँदी की मकड़ी भी पहनी जाती है। युवतियाँ अपने पांवों में कांसे की "बाँक बंकी" और पांवों की अंगुलियों में बटरियाँ पहना करती हैं। युवकों के सामान्य आभूषण हाथों में चाँदी के "टोडोर" बाहों में "खागा" तथा कानों में कुण्डल हैं।

कृषिः—संतालों में सैकड़े ८५ से भी अधिक लोगों का मुख्य पेशा कृषि है। बाकी लोग खेतों, खानों या कारखानों में मजदूरी तथा सरकारी नौकरी करते हैं। संताल परगने के संतालों में भूमिहीन लगभग कोई नहीं है, सभी को कुछ न कुछ जमीन अवश्य है। इनकी जमीनें मुख्यतः दो तरह की हैं: (१) खेत और (२) बाड़ी। खेतों में धान होता है। "बाद" यानी ऊँचाई के खेतों में साठी, भदई और कतकी तथा "बाइहाड़" यानी गहरे खेतों में अगहनी। "बाड़ी" ऊँची जमीन को कहते हैं जिसमें मुख्यतः मकई, बाजड़ा, घंघरा, कुलथी, अरहर, सरसों और सब्जियाँ होती है। "बाड़ी" से भी ऊसर एक तरह की जमीन होती है जैसे "हांड़" कहते हैं तथा जिसमें कोदो, मड़ुआ और सुरगूजा, कभी-कभी कुलथी भी हुआ करती है।

संताल परगने में जमीन की खरीद-बिक्री कानून से वर्जित है। भू-सम्पत्ति का हस्तान्तरण खासकर संतालों में, किसी भी हालत में तब तक नहीं हो सकता जब तक लगान एक निश्चित अवधि तक बाकी न पड़ जाय। वस्तुतः इस दिशा में संतालों को पूरी कानूनी सुरक्षा प्राप्त है, और सच पूछें तो, इसीलिए इन लोगों में भूमिहीनों की संख्या अत्यल्प है।

कर्म और श्रमः—संतालों का जीवन संघर्षपूर्ण है। श्रम ही इनके जीवन का मधु है। सुबह से शाम तक काम करना तथा शाम होते ही अपने बाल-बच्चों से मिलना-जुलना, गाना-बजाना और सोना ही इनके जीवन का आनन्द है। रोहिणी नक्षत्र पड़ते ही खेतों की जुताई एवं बुनाई होने लगती है। पुरुष जुताई-बुनाई में भाग लेते हैं तो स्त्रियां खेतों में कादो और कूड़ों की डलाई में। पहले मकई बाजड़ा आदि, भदई फसलें बोई जाती हैं, फिर मकई कोड़ने, धान रोपने, भुट्टा तोड़ने, मड़ुआ काटने, धान काटने और मड़ने की बारी आती है जिनमें स्त्रियां भी हाथ बंटाती हैं। मतलब यह कि जेठ से पूस तक का समय इन लोगों का सबसे व्यस्त समय है। माघ से वैशाख तक इन लोगों के पर्व त्योहार और विवाह के दिन हैं। यही इनके "अवकाश के दिन" भी कहलाते हैं।

शिकार:—फाल्गुन चैत ही शिकार का समय है। यद्यपि शिकार संतालों की एक परम्परागत वस्तु रहा है, तथापि अब वह एक मनोरंजन मात्र रह गया है। जीविका का साधन तो इनके लिए शिकार अब रहा ही नहीं। यहाँ तक कि मैंने अपने गाँव के संतालों को अबतक किसी शिकार में भाग लेते देखा ही नहीं। हाँ, इतना जरूर है कि शिकार के अपने विशिष्ट विधि विधान हैं जिनका पालन अब भी किया जाता है। शिकार का प्रधान संचालक "दिहरी" कहलाता है जो उसका नायक और पुजारी दोनों हैं। शिकार जब भी हो, सामूहिक ही हुआ करता है जिसमें भाग लेने-वालों में से एक-एक गाँव के लोगों की एक-एक इकाई होती है। शिकार में मारे गये जानवर पर उसी गाँव के लोगों का सामूहिक अधिकार होता है जिस गाँव के लोगों से कोई अकेले या सभी मिलकर उसे मारते हैं। शिकार का प्रसाद पाना शुभ समझा जाता है। साधारणत: मृगा का शिकार ही शिकार कहलाता है।

मछली मारना:—गर्मी के दिनों में ही, जब कि जलाशय का जल घट जाता है, मछलियों का शिकार भी होता है जिसमें गाँव भर के लोग सामू-हिक रूप से भाग लेते हैं। जलाशय के पानी को, जरूरत हो तो, उलीच कर घटा दिया जाता है। फिर "सायरा", "टापा", "जाल", "गिरगिरा", या हाथों से ही मछलियों को पकड़ा जाता है। कभी-कभी कुमींर "चोरचो", "किता" आदि जंगली पेड़-पौधों की छाल, फल, कंद आदि को पानी में डालकर उसे मथ दिया जाता है जिससे मछलियाँ अधमरी-सी होकर पानी के ऊपर तैरने लगती हैं जो आसानी से पकड़ ली जाती हैं। इस प्रकार पकड़ी हुई मछलियों को आपस में बांट लिया जाता है। साधारणत: एक तिहाई जलाशयवाले को मिलती है और दो तिहाइयां मारने वाले को।

कभी-कभी युवकों का दल खेतों या खेतों की मेड़ों के चूहों का शिकार करने को भी निकला करता है। बैशाख जेठ में संताल स्त्रियाँ दल बाँधकर साग तोड़ने अथवा सीप और घोंघें चुनने के लिए खेतों, जंगलों या जलाशयों को जाया करती हैं। सीपों और घोंघों के तो मांस खाये जाते हैं

हाट-बाट और सहयोगिता:—आये दिन संताल जनपद में प्राय: हर जगह कोई न कोई हाट अवश्य लगती है। हाटों से ये लोग साधारणत: नमक, तेल, मसाले कपड़े, वासन-वर्त्तन, सूप-डाली, चाँदी-सोने के गहने और कभी-कभी मवेशी खरीदा करते हैं। और बिक्री की जो चीजें इनके यहाँ से हाटों को जाती हैं

वे हैं धान, चावल, मकई, बाजड़ा, दलहन, तेलहन, सूअर, मुर्गी, आम, कटहल, केंद, पियार, मड़ुआ, कोइन, रस्सी, पत्तल, दतुअन, पीली या उजली मिट्टी आदि ।

संताल समाज की रचना, वस्तुतः पारस्परिक सहयोगिता के आधार पर ही हुई है । सच पूछें तो, सहयोगिता का आदर्श जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में दृष्टिगोचर होता है । खेती करना हो या शिकार करना, मछली मारना हो या घर छाना, पूजा-पाठ करना हो या नाच-गान करना, जन्म-संस्कार हो या मृत्यु संस्कार सहयोगिता के आधार पर ही काम लिया जाता है । यही कारण है कि इनके सभी त्योहार सामूहिक हैं, सभी नृत्य समवेत हैं तथा किसी एक के जन्म या मृत्यु पर सारे के सारे गाँव में छूतक माना जाता है ।

मुद्रा तथा विनिमयः—सिक्कों का चलन अब तो संतालों में भी सर्वत्र हो गया है । कोई भी ऐसा नहीं जो पैसों, सिक्कों या रूपयों से परिचित न हों । यहाँ तक कि सैकड़ों और हजारों का बारा-व्योरा करने वाले संताल तो आये दिन दर्जनों मिल जायेंगें, लाखों का कारबार करनेवाले भले ही न मिलें । संताल परगने के कुछ संतालों की तो छोटी-बड़ी दूकानें भी हैं, दो चार की कोयले की खानें और दो एक की मोटर सर्विस भी । हाँ, अधिकांश लोग महाजनों के चंगुल में फंसे हैं । जहाँ तक विनिमय का सवाल है, अधिकांश सिक्कों के द्वारा ही होने लगा है । हाँ, कृषि संबंधी औजारों के लिये कमार को, बाल बनाने के लिये नाई को, कड़आ तेल के लिए तेली को तथा मिट्टी के वर्त्तनों के लिए कुम्हार को अब भी साधारणतः अनाज ही दिया जाता है ।

सामाजिक संगठन

गोत्रीय विभाजनः—संतालों में कुल १२ पारिस यानी गोत्र हैं: हांसदाक्, मुर्मू, किसकू, हैम्बरम, सोरेन, टुडू, बासके, वेसरा, पौड़िया, चोंड़े और बेदिया । मूल गोत्र प्रथम सात ही माने जाते हैं, अंतिम पाँच बाद के बताये जाते हैं परन्तु सामाजिक दृष्टि से सभी समान हैं, कोई छोटे कोई बड़े नहीं । सम्भव है किसी समय एक-एक गोत्र के लोग अलग-अलग एक-एक गाँव में रहते हों, परन्तु अब वैसी बात नहीं हैं । मेरे अपने गाँव में किसकू, सोरेन और मुर्मू गोत्र के संताल हैं । हाँ, इन दिनों बेदिया गोत्रवाले मेरे जानते

कहीं नहीं मिलते। सम्भवतः उनका लोप हो गया है। गाँव वालों से पता चलता है कि वे एक समय सबसे हीन समझे गये थे।

यद्यपि आज के संताल उपर्युक्त गोत्रवाची शब्दों के अर्थ बताने में असमर्थ हैं, तथापि ऐसा लगता है कि ये शब्द अधिकांशतः पशु-पक्षियों के नामों पर ही बने हैं, क्योंकि खास-खास गोत्र के लोग अब भी खास-खास पशु-पक्षियों के मांस नहीं खाया करते।

समगोत्रीय यौन-संबंध (विवाह) संतालों में निषिद्ध है।

उपर्युक्त "पारिसों" के सिवा डेढ़-दो सौ खूंट (उपगोत्र) भी संतालों में हैं जो मुख्यतः देवी-देवताओं की पूजा-अर्चा से सम्बन्धित हैं।

परिवार—संतालों का परिवार पितृ सत्तावादी है। संतान अपने पिता का "पारिस" (गोत्र) पाती है, माता का नहीं।

एक परिवार में साधारणतः पति-पत्नी, बेटे-बेटियाँ और पति के बूढ़े माँ-बाप रहते हैं।

किसी संपत्ति पर सबसे पहला अधिकार उसके बेटों का, फिर उसकी अविवाहिता बेटियों का, तब उसके पट्टीदारों का होता है।

परिहास एवं परिहास के रिश्ते:—संतालों में परिहास निम्नलिखित रिश्तों में चलता है: (१) भौजाई और देवर या ननद (छोटी) (२) बहनोई और छोटे साले या साली (३) दादा-दादी और पोता-पोती (४) नाना-नानी और नाती-नतनी तथा (५) समधी-समधी, समधी-समधिन या समधिन-समधिन में।

देवर-भौजाई और साली-बहनोई में तो विवाह या पुनर्विवाह भी हुआ करता है। इसका दो एक उदाहरण मेरे अपने ही गाँव में है भी।

परन्तु भैंसुर (पति के बड़े भाई) और जेठ सास (पत्नी की बड़ी बहन) को देवता समझा जाता है, उनसे छुलाने की बात तो दूर रहे, उनकी परछाईं तक से अलग रहा जाता है, उनकी चारपाई या बिछावन पर बैठा-उठा तक नहीं जाता है। यदि कभी भूल से छू जाय तो "आरूप जांगा" की रस्म पूरी करनी पड़ती है। सास-ससुर को माता-पिता की तरह पूज्य माना जाता है। पति की बहन को भी आदरसूचक शब्दों से ही संबोधित किया जाता है, उन्हें ब्राह्मण माना जाता है। संताल स्त्रियों में सिर पर घूंघट डालने का रिवाज नहीं है, परन्तु गुरुजनों के सामने वे अपने बालों को खुला नहीं छोड़तीं।

समाज में स्त्रियों का स्थान:--संताल समाज में स्त्रियों को सामान्य स्थान प्राप्त है, साधारणतः उन्हें घृणा, या अपमान का विष पान नहीं करना पड़ता। परन्तु वे शिकार, पूजा-पाठ, पंचायत आदि में भाग नहीं ले सकतीं। इसी प्रकार हल जोतना, छप्पर छाना आदि कुछ काम स्त्रियों के लिए वर्जित हैं। कन्या जब तक अविवाहिता रहती है तब तक अपने पिता की सम्पत्ति समझी जाती है और उसे पत्नी के रूप में प्राप्त करने में "पोन" (वधू-शुल्क) देना पड़ता है। विवाह के बाद वह अपने पति की सम्पत्ति मानी जाती है। जो हो, पारिवारिक जीवन में संताल स्त्री अपने पति की सुयोग्य सलाहकार और सक्षम मददगार हुआ करती है। हाँ, परित्यक्ताओं एवं विधवाओं का स्थान अपेक्षाकृत निम्न माना जाता है, उनका "पोन" भी कम होता है। बड़ी बूढ़ी स्त्रियों को समाज में आदर का स्थान प्राप्त है, यद्यपि उनमें से दो-एक को कभी-कभी "डाइन" होने के अंधविश्वास में संतालों के कोप का भाजन या शिकार भी होना पड़ता है। ऐसी अवस्था में दो एक की हत्या तक होते सुना गया है, यद्यपि मुझे अब तक वैसी कोई घटना देखने को नहीं मिली।

जीवन चक्र

(अ) शैशव छट्ठी संस्कार:--संतालों में बेटे के जन्म पर पांचवें दिन और बेटी के जन्म पर तीसरे दिन उसकी छट्ठी होती है जिसे "जानम छठियार" कहते हैं। उसके मुख्य विषय तीन हैं--(१) छूतक का निराकरण, (२) जातक का मुंडन और (३) उसका नामकरण।

जिसके यहाँ छठी हो रही हो उसके घर पर गांव भर के बड़े-बूढ़े स्त्री-पुरुष इकट्ठे होते हैं। वहां क्रमशः "नायके", "कुडाम नायके", "मांझी", "पारानिक", "जोग मांझी" आदि गाँव के सभी लोग नाई के द्वारा अपने-अपने बाल बनाते हैं। फिर बच्चे का मुंडन होता है। उसके बालों को एक दोने में रखा जाता है। फिर तेल हल्दी लेकर सब लोग स्नान करने जाते हैं। स्त्रियों का दल भी स्नान करने जाता है। बच्चे के कटे बालों को घाट पर ही पानी में दहा दिया जाता है। घर पर बच्चे और जच्चे को भी नहलाया जाता है। जलाशय से लौटने पर "दाई" थोड़े चावल के चूर्ण को पानी में घोल कर बारी-बारी से सब पर छिड़कती है। उसीसे छूतक का दूर होना समझा जाता है। साथ ही "दाई" हास्य और विनोद की फुहारों के बीच बारी-बारी से सबको प्रणाम करती हुई बच्चे के नाम की घोषणा करती है।

पहली संतान को अपने दादा या दादी का तथा दूसरी को अपने नाना या नानी का नाम मिलता है। इसी बीच लोगों के सामने "नीम दाक् मंडी" अर्थात् नीम के पत्तों के साथ पकायी गई खिचड़ी या मांड़ी दी जाती है। लोग पूछते हैं "यह क्या है" उत्तर आता है "यह अमुक (नवजात बच्चे) की तुच्छ भेंट है। इस पर हँसी-खुशी के साथ सब लोग उसे ग्रहण करते और अपने-अपने घर लौट जाते हैं। यहीं से "जानाम छठियार" समाप्त होता है।

चाचो छठियार :—"जानाम छठियार" के बाद "चाचो छठियार" नामक संस्कार होता है। इसके लिए कोई दिन या उम्र निश्चित नहीं है। परन्तु विवाह से पहले प्रत्येक का "चाचो छठियार" हो लेना अनिवार्य है। देखा जाय तो "चाचो छठियार" के द्वारा ही व्यक्ति को जाति मिलती है। इसलिए जिसका निधन उसके "चाचो छठियार" संस्कार के पहले हो जाता है, उसका न तो शव दाह होता है और न "भाण्डान" (श्राद्ध) ही।

"चाचो छठियार" तीन चार बच्चों का एक साथ भी हुआ करता है। "जानाम छठियार" की तरह ही गाँव भर के बड़े बूढ़े इकट्ठे होते हैं। उन्हें तेल हल्दी लगायी जाती है। फिर हंड़िया ढलती है। लोग पूछते हैं "यह किसलिए है"? घरवाला कहता है यह हमारे अमुक बच्चे या बच्ची के चाचो छठियार की हंड़िया है। इस पर हँसी-खुशी के साथ उसे पीया जाता है। इसी बीच दूसरी ओर "विनती" शुरू होती है जिससे बूढ़े पुराने लोग, परम्परागत कथाओं के अनुसार सृष्टि की उत्पत्ति से लेकर आज तक संतालों के भ्रमण वृतान्तों का वर्णन अपनी-अपनी जानकारी के आधार पर करते हैं। सच पूछें तो यही एक प्रथा है जिसके द्वारा संतानों की परम्परा की कथाएँ अब तक जीवित हैं। "विनती" की समाप्ति होती है, "चाचो छठियार" भी समाप्त होता है लोग अपने-अपने घर लौट जाते हैं।

"सिका और खोदा" :—संताल युवक साधारणतः ७-८ से १७-१८ वर्ष की अवस्था के बीच अपने-अपने "सिक्का" लेते तथा युवतियाँ उसी उम्र में अपने हाथों, बाहों एवं शरीर के विभिन्न अंगों में "खोदा" (गोदना) लेती हैं। "सिका" में चमड़े को गोलाकार जला दिया जाता है। इन लोगों की मान्यता है कि "सिका" और "खोदा" न ले तो परलोक में बड़े-बड़े कीड़े गोद में रख दिये जायँगे जो बुरी तरह काट खाते हैं।

शिक्षा-दीक्षा एवं अनुशासन :—गाँव के प्रत्येक व्यक्ति के साथ प्रत्येक का कोई-न-कोई "आतो सनाई" (गाँव का रिश्ता) अवश्य रहता है। गाँव के

प्रत्येक बच्चे को उसी रिश्ते के अनुसार "माराङ बाबा", "होपोन बाबा" "दादा", "हिली" आदि कहकर उन्हें सम्बोधित करने को सिखाया जाता है। वस्तुतः प्रत्येक बच्चा अपने-अपने गुरुजनों के अनुशासन में रहकर अपने-अपने जीवन पथ पर अग्रसर होता है। लड़कों को बचपन से ही सूअर या मवेशी चरा लाने तथा धीरे-धीरे अपने बड़े भाइयों के साथ-साथ कृषि-कार्य में हाथ बंटाने को प्रोत्साहित किया जाता है। लड़कियों को भी उसी प्रकार घर-आँगन में झाड़ू देने, बर्तन मांजने, पानी भरने आदि से धीरे-धीरे गृहस्थी के अन्यान्य कामों में प्रवृत्त किया जाता है।

खेल :—संताल बच्चों के खेल साधारणतः गाँव की गली में या जहाँ उनके मवेशी चर रहे हों वहाँ, मैदान में होते हैं। "राजा-पाटा", "गाड़-गाड़", "चंगेरी-मुंगरी", "सुई तोपा", "हाराड़-खाण्टाड़", "मेलवा-टुपटुप", "काण्ठाड़ जो", "गुड पोसाक", "हेदेल गुड़ू" आदि इनके प्रमुख खेलों में से हैं। इन खेलों में बच्चों की चातुरी, स्फूर्त्ति एवं शक्ति की परीक्षा होती है। "गुजी", 'गुड पोसाक' और 'हेदेल गुड़ू' मुख्यतः लड़कों के खेल हैं बाकी दोनों के। "हेदेल गुड़ू" कबड्डी की जाति का खेल है। इनके खेलों के प्रमुख साधन लाठी, तिनके, मिट्टी के बर्तनों के टुकड़े आदि हैं।

शैशव का अंत :—साधारणतः १०-१२ वर्ष की उम्र में लड़कियों का तथा १५-१६ वर्ष की उम्र में लड़कों का शैशव पार हुआ समझा जाता है। तब तक लड़कियों का रजोदर्शन हो जाता है तथा लड़कों की भी रेखें भींगने लगती हैं। इन लोगों में प्रथम रजोदर्शन पर कोई रस्म नहीं होती है।

(ख) युवावस्था

यौन प्रवृत्तियों एवं दैनिक जीवनमें स्त्री-पुरुष का सम्पर्क :—संतालों में कुमार कुमारी गृह जैसी कोई चीज नहीं है। फिर भी लड़के लड़कियों को बचपन से ही एक साथ रहने-सहने के अनेक अवसर प्राप्त हैं। एक साथ खेलना-कूदना, एक साथ मवेशी चराने जाना, एक साथ नाचना-गाना। युवकों के वंशी रव, युवतियों के कंठस्वर दोनों ओर से एक दूसरे का मौन निमंत्रण! "रोड़ लाद्रवा" (हँसना-बोलना) के साथ-साथ यौन प्रवृत्तियों का विकास भी होने लगता है। मिलने-जुलने के अवसर तो प्राप्त होते ही रहते हैं। "सोहराय" में पांच दिनों तक एक साथ रहने-सहने, नाचने-गाने की स्वच्छन्दता भी उन्हें मिलती है। यही नहीं, जिस प्रकार गाँव की अन्यान्य वस्तुओं के बारे में संतालों की यह भावना है कि वे गाँव भर के लोगों की

सामान्य सम्पत्ति हैं, बहुत कुछ वही भावना अविवाहितावस्था तक यौवन के उपभोग के बारे में भी है। हाँ, इस बात का ध्यान हर हालत में रखा जाता है कि समगोत्रीय लोगों तथा निकट सम्बन्धियों में कोई यौन सम्बन्ध न हों। और, इन बातों पर दृष्टि रखने के लिए प्रत्येक संताल गाँव में एक-एक "जोग मांझी" रहा करता है।

दैनिक जीवन में संताल स्त्री-पुरुष का सम्पर्क सामान्य है। खतों, खलिहानों, मैदानों, बाजारों, खानों या कारखानों में स्त्री-पुरुष साथ-साथ काम करते हैं। पर्व-त्योहारों में वे साथ-साथ नाचते-गाते हैं। कृषि-कार्य में दोनों का बराबर सहयोग रहता है। हाटों-बाटों, मेला-ठेलों में भी स्त्री-पुरुषों में पारस्परिक सम्पर्क हुआ ही करता रहता है। सच पूछें तो, संताल स्त्री-पुरुष का दैनिक जीवन एक ही सिक्के के दोनों पहलुओं-सा है।

विवाह :—विवाह को संताल लोग "बापला" कहते हैं। समगोत्रीय विवाह तो इन लोगों में वर्जित है ही, बाल-विवाह भी प्रायः नहीं ही होता है। विवाहावस्था साधारणतः १८-२० वर्ष की उम्र है। संतालों में "महादेव बापला" अर्थात् "शिवरात्रि" के पहले विवाह करने का रिवाज नहीं है। अधिकांश विवाह बैशाख में होते हैं। मुख्यतः चैत से बैशाख तक का समय विवाह का समय है। सोम, बुध और शुक्रवार विवाह के लिए शुभ माने जाते हैं।

विवाह वार्ता "रायवारिच" करता है। विवाह के पहले "घर देखी" "तिलक चढ़ी" और "टाका चाल" की रस्में होती हैं। घर देखी में दोनों ओर के घर-द्वार देखे जाते हैं। विवाह बहुधा वर-बधू की पसन्द पर ही होता है। इसलिए दोनों को एक दूसरे को देख लेने का भी मौका दिया जाता है। "तिलक चढ़ी" में वर-बधू को एक दूसरे पक्ष की ओर से कुछ कपड़े, गहने या पैसे भेंट किये जाते हैं। "टाका चाल" में बधू के लिए उसके पिता को "पोन" (शुल्क) दिया जाता है जो साधारणतः १२ बारह रुपया का होता है। वर को तिलक देने की प्रथा नहीं है।

अपनी-अपनी औकात के अनुसार विवाह से एक, तीन या पांच दिन पूर्व वर और बधू दोनों के यहां 'मांडवा' (मंडप) छाये जाते हैं। फिर तो हंडिया और नाच-गान का पूछना ही क्या!

निश्चित तिथि को वर पक्षवाले, अपनी-अपनी औकात के अनुसार, डोली पालकी और बाजे-गाजों के साथ वधू पक्षवाले के यहां बरात जाते हैं। बधू

पक्ष के लोग बारात का "दाराम दाक" (स्वागत), अपनी बस्ती के छोर पर, लोटे में जल और आम की टहनी लेकर करते हैं। फिर बाजे-गाजों के साथ गाँव के प्रत्येक गृहस्थ की ओर से, अपने-अपने दरवाजे पर, वर को "गुड़ खिलाया जाता है"। उसके बाद बहुधा किसी पेड़ के नीचे बारात को डेरा दिया जाता है। बारात के लोग वहीं अपना पकाते खाते हैं, खर्च वर के पिता का होता है। वधू पक्षवाले सिर्फ जलावन, पत्तल और मिट्टी के बर्त्तन उन्हें देते हैं।

विवाह में "सिन्दरा घान" (सिंदूरदान) होता है। साधारणतः दिन के तीसरे पहर बरात के लोग नाचते-कूदते वधू के पिता के दरवाजे पर आते हैं। वधू को हल्दी से रंगे नये कपड़े पहनाकर, एक बड़ी-सी चंगेरी में बिठलाकर, दरवाजे पर उठा लाते हैं और कंधों पर उठाये रहते हैं। वह घूंघट काढ़े रहती है। वर को भी कंधे पर ऊपर उठाया जाता है। उसी अवस्था में वह वधू का घूंघट हटाकर उसकी मांग में पांच टीका "सिंदूरदान" करता है। उसी समय सभी लोग एक साथ उच्च स्वर से कहते हैं "हरिबोल"। विवाह सच पूछें तो यहीं समाप्त हो जाता है।

वधू पक्षवाले चाहें तो बारात को एक आध-शाम भोज भी दे सकते हैं।

"सिंदराघान" के दूसरे दिन वधू की विदाई होती है। उसके साथ उसके "भुमती बारेत" अर्थात् उसका भाई और उसकी सखी-सहेलियाँ भी जाती हैं।

वर-वधू के लौटने पर, वर के अपने गाँव में भी, प्रत्येक गृहस्थ की ओर से उन्हें "गुड़ खिलाया जाता है", उनका परिछन किया जाता है। अंतिम परिछन माँ का होता है।

तीसरे दिन "चुमान" होता है जिसमें गाँव भर के बड़े-बूढ़े वर-वधू को शुभाशिष देने आते हैं। धान, चावल, हल्दी, दूर्वादल और दीप के द्वारा नवदम्पति का अभिषेक होता है, उनकी आरती उतारी जाती है। भेंट में उन्हें एक छोटी-मोटी रकम भी मिल जाती है। तीसरे पहर वधू उपस्थित लोगों के पाँव पखारती है। यहीं से छोटे-बड़े सभी रिश्तों का परिचय एवं पालन होता है। पाँव धुलाई के बाद ही "लुगती बारेत" अपने यहाँ लौट जाते हैं।

पाँचवें दिन वधू का भाई उसे लिवाने आता है। छठे दिन वह अपने भाई और पति के साथ अपने नैहर आती है, साथ में एक हंड़िया और कुछ

चूड़ा का संदेश भी लेती आती है। फिर दो दिनों के बाद, नवदम्पति अपने यहाँ लौट जाते हैं। विवाह की रस्में यहीं समाप्त होती हैं।

इस तरह विवाह को "सादाई वापला" कहते हैं।

"सादाई वापला" के सिवा चार पांच तरह के विवाह संतालों में और हैं। एक "घर जावांय वापला" होता है जिसमें वर को ही अपनी ससुराल में रहना पड़ता है। इस तरह के विवाह में भी वधू के लिए "पोन" नहीं लगता है। दूसरा "घरदी जावांय बापला" है जिसमें वधू के लिए "पोन" तो नहीं देना पड़ता, पर वर को पांच वर्ष अपनी ससुराल में रहकर काम करना पड़ता है। बाद में उसे, अपनी वधू के साथ, अपने घर लौट आना पड़ता है। तीसरा "गोलाइटी बापला" है। उसमें जिस परिवार को बेटी दी जाती है, उसी परिवार से पतोहू लायी जाती है। इस विवाह में भी "पोन" नहीं दिया लिया जाता है। फिर "टुडकी दिपिल बापला" है जिसमें कन्या को अपने ही यहां लाकर उससे विवाह किया जाता है।

संतालों के विवाह में "जोग मांझी" ही पुरोहिताई करता है। इन लोगों में तलाक तथा विधवा विवाह की प्रथाएँ भी हैं।

(ग) बुढ़ापा

संताल जीवन में बड़े-बूढ़ों का स्थान : संताल जीवन में बड़े-बूढ़ों को आदर का स्थान प्राप्त है। यही कारण है कि "मांझी", "पारानिक" आदि गाँव के पदाधिकारियों को साधारणतः युवावस्था में भी "हाड़ान" ही कहा जाता है।

बीमारियाँ और उनकी चिकित्सा : यों बीमारियों का क्या कहना! फिर भी, बुढ़ापे में ये लोग साधारणतः ज्वर, खांसी, और अजीर्ण के शिकार रहा करते हैं। आये दिन कुष्ठ का प्रसार भी बुरी तरह इन लोगों में हो रहा है।

संतालों में अब भी दवा-दारू या चिकित्सा से अधिक ध्यान जादू-टोने और मंत्र-तंत्र पर ही दिया जाता है। सही है कि इन लोगों में जंगली जड़ी-बूटियों के अच्छे ज्ञाता और अनुभवी चिकित्सक भी हैं, परन्तु अंध-विश्वास का भूत उन पर भी बुरी तरह सवार रहता है। ज्वर में उपवास करना तो ये लोग जानते ही नहीं हैं। हाँ, अब इन लोगों के बीच कई सरकारी एवं गैरसरकारी अस्पताल भी खुल गये हैं जिनसे ये लाभ उठाने लगे हैं। फिर भी मंत्र-तंत्र, झाड़-फूंक आदि को ये लोग अब तक नहीं छोड़ सके हैं।

मृतक संस्कार : संतालों में मृतात्मा की अन्त्येष्टि की प्रमुख प्रथाएँ क्रमशः शव संस्कार, तेल नहान, अस्थि प्रवाह एवं "भाण्डान" (श्राद्ध) हैं।

किसी परिवार में किसी की मृत्यु होने पर तत्काल उस गाँव के मांझी और पारानिक को खबर दी जाती है। गाँव के अन्यान्य लोगों को भी बुलावा दिया जाता है। फिर एक मुर्गी के बच्चे, थोड़ी-सी हल्दी, छप्पर के थोड़े से पुआल बाग तथा बिनौले और धान के लावा के साथ मुर्दे को कफन में ढँक कर अंतिम संस्कार के लिए ले जाया जाता है। मृतक की निजी वस्तुएँ थाली, कटोरी, धनुष, वाण, लाठी, वंशी, कपड़े-लत्ते आदि भी उसे सौंप दी जाती है। गाँव के छोर पर मुर्दे को स्त्रियों के द्वारा तेल हल्दी लगा दिया जाता है। लावा और बिनौलों को शव की खाट पर छींटा जाता है।

शव संस्कार साधारणतः अपने ही किसी जलाशय के किनारे होता है। आजकल यद्यपि इन लोगों में शव को गाड़ देने का रिवाज ही चल पड़ा है, तथापि अभी हाल तक उसे जलाने की ही प्रथा थी। लगभग पचासी वर्ष पूर्व कल्याण हाड़ाम नामक एक वयोवृद्ध संताल ने एक पादरी से कहा था, "हमलोग मृत्यु के दिन ही शव को जलाते हैं।" जो भी हो, "सारा" अर्थात् चिता उत्तर दक्षिण बनाई जाती है। मृतक का सिर दक्षिण को रखा जाता है। शव को चिता में रखने के बाद, चिता की खूंटी पर, मुर्गी के बच्चे की बलि दी जाती है। मृतक का प्रथम उत्तराधिकारी उसका "आगमुक" करता अर्थात् उसके मुंह में आग देता है। "आगमुक" का अधिकार क्रमशः मृतक के पुत्र, पौत्र, पिता, भ्राता, भतीजा और चाचा को है। स्त्रियाँ "आगमुक" नहीं कर सकतीं।

आगमुक के बाद मृतक के पट्टीदारों में से जितने भी लोग वहाँ उपस्थित रहते हैं सभी एक-एक लकड़ी या एक-एक मुट्ठी मिट्टी चिता या कब्र पर डालते हैं। फिर चिता हो तो उसे सुलगा दिया जाता है, कब्र हो तो उसे भर दिया जाता है। इसके बाद घाट पर ही सब लोग बाल बनवाते और नहाते हैं। संताल लोग शिखा भी रखते हैं जिसे अपने माता-पिता की मृत्यु होने पर, कटवा देना अनिवार्य माना जाता है।

शवदाह के बाद उसके अवशेषों को जल में बहा दिया जाता है। फिर, चिता भूमि पर पानी में घोला हुआ गोबर छिड़क कर उसे पवित्र कर दिया जाता है। कहा जाता है "यह स्थान अब तक घिरा पड़ा था, अब पहले की

तरह खुला है।" हाँ, शव को गाड़ने पर वह स्थान पांच वर्ष तक अपवित्र समझा जाता तथा अछूता रहता है।

मृतात्मा की निजी वस्तुओं को घाट पर ही नीलाम कर दिया जाता है जिन्हें शव-संस्कार में भाग लेनेवाले, मृतक के पट्टीदारों के सिवा अन्यान्य लोग खरीद लेते हैं। उन वस्तुओं के दाम से सब लोग खस्सी भट्ठी करते हैं।

शव-संस्कार करके लौटने पर गाँव के छोर पर ही सब लोग "धूप लेकर पवित्र" होते और अपने-अपने घर जाते हैं।

पाँचवें दिन तेल नहान होता है। गाँव के सभी बड़े-बूढ़े मृतक के घर पर बाल बनवाकर स्नान करने जाते हैं। घाट पर मृतात्मा, "पितर और माराड़ बुरू" के लिए अलग-अलग पत्तों पर थोड़ी-थोड़ी मिट्टी, खल्ली तेल और एक-एक दतुवन रखकर मृतक का कर्त्ता अपने बांये हाथ से क्रमशः तीनों पत्तों का स्पर्श करते हुए निवेदन करता है, "आज हम तुम्हारे तेल नहान के नाम से नहा-धो रहे हैं, लो तुम भी नहा धो लो।" पितर ! लो, तुम भी नहा धो लो, मृतात्मा को अपने साथ कर लो। "माराड़ बुरू ! तुम भी नहा-धो लो, मृतात्मा को अपने साथ रखो, उसे ठोकरें मत खाते फिरने दो।" अन्यान्य लोग भी वैसा ही करते हैं।

तीसरे पहर मृतात्मा, पितर और माराड़ बुरू के नाम से तीन आदमी मृतक के घर पर झूमते हैं। लोग उनसे उसकी मृत्यु का कारण पूछते और भविष्य की विघ्नबाधाओं की शान्ति का निवेदन करते हैं।

शाम को एक छोटा-मोटा भोज होता है। एक मुर्गे की बलि दी जाती है। फिर बिना नमक की खिचड़ी पकती है। इसी बीच बलि पड़े मुर्गे की पसली और पंख को लेकर "बुढ़िया की कुटिया" जलाने का रिवाज पूरा कर आया जाता है। फिर भोज होता है। मृतक के परिवार के लोग "करम" के पत्तों पर तथा अन्यान्य लोग सखुए के अधूरे पत्तलों पर खाना खाते हैं। परिवार के बाकी लोग बांये हाथ से खाना खाने का नाटय करते हैं। तभी गाव के बड़े-बूढ़े "बिरना" के तिनकों से उनपर जल छिड़कते हैं जिससे छूतक का दूर होना समझा जाता है। मृतात्मा को भी खिचड़ी का भोग दिया जाता है।

संताल लोग "नाई" (दामोदर नदी) में मृतकों का "जाड बाहा" (अस्थि पुष्प) प्रवाहित करते हैं। यद्यपि अब यह सब के लिए अनिवार्य नहीं रह गया

है, फिर भी यह प्रथा आज भी विद्यमान है। वस्तुतः आज भी "जाड़ बाहा" प्रवाहित करने को विशेष रूप से सम्मानसूचक माना जाता है।

"जाड़ बाहा" प्रवाह के लिए कोई निश्चित समय नहीं है। अतः अपनी सुविधा के अनुसार किसी भी समय मृतक के अस्थि पुष्प को "नाई" (दामोदर नदी) के किसी घाट पर ले जाया जाता है। वहाँ सबसे पहले पांच टीका सिदूर और पांच कौड़ियाँ देकर घाट खरीदा जाता है। फिर, कर्त्ता नहा-धोकर नया कपड़ा पहनता है और अस्थि-पुष्प को अपने माथे पर रखकर "हरिबोल" का उच्चारण करते हुए जल में उसका विसर्जन करता है। उसके बाद घाट पर मृतात्मा "पिलचू हाडाम" "पिलचू बुढी" तथा "माराड बुरू" के नाम से अलग-अलग मिट्टी का पिण्ड दान करता है। उस समय जो निवेदन किया जाता है उसका सारांश यह है, नहा-धो रहे हैं, तुम भी नहा-धो लो। पितरो! आज से इस मृतात्मा को भी अपने साथ कर लो। आदिदेव! इसे भी अपने में ले लो। फिर तीनों के नाम चूड़ा और रोटियों का भोग लगाते, उसका प्रसाद पाते और अस्थि प्रवाह की विधि समाप्त करके घर लौट आते हैं।

संतालों का विश्वास है कि उनका जन्म समुद्र में ही हुआ था। इसलिए "नाई" में "जाड़ बाहा" के विसर्जन से वे पुनः समुद्र में ही जा मिलते हैं। अस्तु।

"भाण्डान" (श्राद्ध) मृतात्मा का अंतिम संस्कार है। यह अनिवार्य है। जब तक "भाण्डान" न हो जाय तब तक परिवार और गाँव भर में अशौच माना जाता है। "भाण्डान" के लिए भी यद्यपि कोई निश्चित तिथि नहीं है, फिर भी साधारणतः "सोहराय" के पहले उसे अवश्य सम्पन्न कर लिया जाता है।

सामान्यतः "भाण्डान" के दो अंग हैं मृतात्मा का श्राद्ध करना और कुटुम्बों को भोज देना।

श्राद्ध के दिन शाम को मृतात्मा, पितर एवं माराड बुरू के नाम तीन आदमी झूमते हैं जिनमें आवाहन निवेदन करके "भाण्डान" की स्वीकृति ले ली जाती है। फिर आँगन में यह कहकर एक बकरे की बलि दी जाती है कि लो आज हम तुम्हें तुम्हारा हिस्सा दे रहे हैं, इसे खुशी से ग्रहण करो। पुनः चावल और मांस की खिचड़ी पक चुकने पर इस आशय के निवेदन के साथ भोग लगाया जाता है कि हम तुम्हें सड़ा भात सड़ा मांड़ समर्पित कर

रहे हैं, दया करके इन्हें ग्रहण करें। हम भी प्रसाद पायेंगे। प्रभो! ऐसी कृपा हो कि पेट-दर्द, सिर-दर्द हमें न सतावें।

दूसरी ओर निमंत्रित कुटुम्बों की मंडली में समाज के बड़े-बूढ़ों के द्वारा सृष्टि कथाओं एवं परम्परागत गाथाओं की चर्चा छिड़ी रहती है। इसी बीच कर्त्ता उस बलि पड़े बकरे की एक टांग लेकर सबके सम्मुख उपस्थित होता है और निवेदन करता है, "हम अमुक मांझी के नेतृत्व में यहाँ तक आये, यहाँ बसे। इतने दिन सुख से आराम से रहे। अमुक समय, अमुक व्यक्ति की मृत्यु हुई। हम अब तक अशुद्ध रहे, अब शुद्ध हो रहे हैं। आप लोगों ने हम पर कृपा करके यहाँ पधारने का कष्ट किया है। परन्तु हम अभावग्रस्त हैं, आपका काम संस्कार नहीं कर पा रहे हैं। आपको आसन और भोजन देने में हमारी ओर से अनेक त्रुटियाँ हो रही हैं। फिर भी हमें आपकी उदारता का भरोसा है। आशा है, आप हमारी इस तुच्छ भेंट को सहर्ष ग्रहण करके हमारा अशौच दूर करेंगे।" साथ ही एक घड़ा हड़िया तथा कुछ चावल, हल्दी, पानी, पत्तल, जलावन, पत्ते और तम्बाकू भी उन्हें दिये जाते हैं जिन्हें कुटुम्बों की ओर से, कर्त्ता के उपर्युक्त निवेदन का विनयपूर्ण उत्तर के साथ, सहर्ष ग्रहण किया जाता है। फिर खिचड़ी पकती है और दस-पांच लोग जीमते हैं। इस प्रकार "भाण्डान" के भोज का उद्देश्य स्पष्टतः समाज के द्वारा दी जानेवाली अशौच से मृतक के परिवार वालों की मुक्ति की स्वीकृति ही है।

"भाण्डान" का भोज रात को होता है। हंड़िया खूब पी जाती है। कहीं-कहीं लोग रात भर नाचते-गाते भी हैं। दूसरे दिन प्रातःकाल सभी विदा होते हैं।

धर्म और पर्व-त्योहार

सन् १९४४ ई० में अखिल भारतीय विज्ञान परिषद् नृतत्व शाखा के अध्यक्ष डा० बैरियर एल्विन ने अपने भाषण के दौरान में कहा था, "कतिपय विद्वानों एवं राजनीतिज्ञों ने जनगणना के समय आदिम जातियों को हिन्दू समाज से पृथक् करने की चेष्टा की। प्रारम्भिक वर्षों में जनगणना के अधिकारियों ने प्रेतवाद एवं हिन्दूत्व में विभेद दिखाने का प्रयत्न किया। पीछे "आदिम जातियों के धर्म के अनुयायी" जैसी शब्दावली का प्रयोग होने लगा। इसकी परीक्षा की प्रस्तावित कसौटी यह थी कि किसी मनुष्य को लेकर यह देखा जाय कि वह हिन्दू देवताओं की उपासना करता है या

आदिम जातियों के देवताओं की । यह कसौटी निरर्थक थी। इस देश (भारत) में रहनेवाले परिवार में आदिम जातियों का धर्म हिन्दू धर्म ही है। स्वयं हिन्दू धर्म में भी बहुत से ऐसे तत्व हैं जिन्हें धर्म विज्ञानवेत्ता लोग प्रेतवादी कहेंगे। इसलिए जनगणना के समय धर्म के खाने में आदिम जातियों को शुरू से ही हिन्दू लिखना चाहिए था। इसके सिवा कोई भी दूसरा वर्गीकरण व्यर्थ से भी गया बीता है"।

जहाँ तक संतालों के धर्म का सम्बन्ध है, डा० एल्विन की यह उक्ति बहुत सही है। हमारा यह आग्रह नहीं है कि संताल अपने धर्म को हिन्दू धर्म ही कहें, परन्तु यह तो हमें अच्छी तरह ज्ञात है कि अब तक ये अपने धर्म को हिन्दू धर्म कहने में ही गौरव का अनुभव करते रहे हैं, यद्यपि कुछ राजनैतिक उद्देश्यों से कुछ लोग अब उसे "संताल धर्म" भी कहने लगे हैं। जो भी हो, धर्म की दृष्टि से इन लोगों में सम्प्रति तीन सम्प्रदाय हैं—(१) बोंगा होड़, (२) साफा होड़ और (३) उम होड़।

"बोंगा होड़" सनातन संतालों को कहते हैं। इनके बीच देवी-देवताओं, भूत-प्रेतों आदि की पूजा-अर्चा का विशेष स्थान है। और इसी को लेकर युरोपीय विद्वानों ने इनके धर्म को "प्रेतवाद" का नाम देने की चेष्टा की है जो कतई उपयुक्त नहीं है। हाँ, संतालों में "धर्म" या "पाप" के लिए भी कोई मौलिक शब्द मुझे इनकी भाषा में नहीं मिला। ईश्वर, धर्म, पुण्य या पाप के स्वरूप या फलाफल के बारे में बहुत-कुछ मौन रहकर "बोंगा बुरू" साधारणतः देवी-देवताओं को कहते हैं, परन्तु सच पूछें तो, वह प्रकृति की विभिन्न वस्तुओं में छिपी किसी ऐसी शक्ति का नाम है जिसके सम्बन्ध में संतालों का विश्वास है कि वह हर जगह, हर घड़ी विद्यमान रहती है तथा किसी भी समय, किसी भी रूप में प्रकट हो सकती है। इस "बोंगा" (या बोंगा बुरू) शब्द पर श्री पी० ओ० बोडिंग, श्री शरतचन्द्र राय आदि विद्वानों ने कई तरह से अपने विचार व्यक्त किये हैं जिनका विश्लेषण करते हुए डा० धीरेन्द्रनाथ मजुमदार जैसे विद्वान ने संतालों के सजातीय "हो" लोगों के धर्म को "बोंगाइज्म" अर्थात् "बोंगा धर्म" का नाम दिये जाने की सिफारिश की है। इस प्रकार यदि "होओं" के धर्म का नाम "बोंगा धर्म" प्रचलित हो सके तो संतालों के धर्म का भी वही नाम होना चाहिए। उस अवस्था में सनातन संतालों का "बोंगा होड़" (बोंगापूजक) नाम हो सकता है।

"बोंगा होड़" यानी सनातन संतालों का विश्वास है कि किसी भी व्यक्ति,

परिवार या गाँव का कुशल मंगल उनके "बोंगा गुरू" और "हापड़ानको" (देवी-देवताओं और पितरों) पर ही मुख्यत: निर्भर है तथा अकाल, महामारी, हैजा आदि उन्हीं के कोप के परिणाम हैं। अत: उन्हें प्रसन्न रखने के लिए समय-समय पर उनके नाम मुर्गी के बच्चों, बकरों या सूअरों का बलिदान, हंड़िया का चढ़ौका तथा नये अन्नों और फल-मूलों का भोग लगाना अनिवार्य है। हाँ, उनकी पूजा-अर्चा का मूल उनके "बाखेंड़" (मंत्र) में है जो भिन्न-भिन्न देवी-देवताओं के लिए भिन्न-भिन्न अवसरों पर भिन्न-भिन्न हैं।

परन्तु संतालों का धर्म मुख्यत: पुरुषों का धर्म है, क्योंकि धार्मिक अनुष्ठानों में स्त्रियाँ शायद ही भाग लेती हैं। "जाहेर थान" और "मांझी थान" इनके धर्मस्थान हैं जहाँ इनकी स्त्रियाँ साधारणत: नहीं जाया करतीं हैं। इन लोगों के प्रमुख देवी-देवता क्रमश: "माराड़ बुरू", "जरेहर एरा", "मोंड़ेको तुईको", "गोसाई एरा", ओड़ाक बोंगा", और हापड़ामको (पितर) हैं। "माराड़ बुरू" महादेव यानी सबसे बड़े देवता को कहते हैं।

"साफा होड़" सुधारवादी संतालों को कहते हैं। साफा होड़ अर्थात् शुद्ध संताल "साफा होड़" सम्प्रदाय का इतिहास संतालों के धार्मिक एवं सांस्कृतिक पुनर्जागरण का इतिवृत्त है। संतालों में विदेशी धर्म का प्रवेश होने के साथ-साथ उनका सांस्कृतिक ह्रास शुरू हो चला, उनका धार्मिक जीवन मानों पंगु होने लगा। बहुतों का विश्वास है कि इनके पुरखों का जीवन रूढ़ियों, अंधविश्वासों एवं तामसिक प्रवृत्तियों के अंधकार में घिरा नहीं था, बल्कि वह सात्विक आदर्शों से ओत-प्रोत था। ऐसी परिस्थितियों में इन लोगों में धार्मिक पुनर्जागरण की लहरें दौड़ने लगीं। ऐसे ही समय लगभग तीन-चौथाई शताब्दी पूर्व, इनके बीच कई "आचार्यों" का आविर्भाव हुआ जिनमें से एक, "भागीरथ बाबा" विशेष रूप से प्रसिद्ध हुए। सच पूछें तो उन्हीं के आविर्भाव के बाद से संताल जगत् में "साफा होड़" या "खरवार" आन्दोलन ने प्रमुखता प्राप्त की।

परन्तु "साफा होड़" या "खरवार" आन्दोलन के मूल में केवल धार्मिक पुनर्जागरण ही नहीं, बल्कि राष्ट्रीय पुनरुत्थानों के संदेश भी भरे पड़े थे जिसके चलते "साफा होड़" लोगों को बराबर साम्राज्यवादी शासकों के कोप का शिकार बनत रहना पड़ा। फिर भी "साफा होड़" आन्दोलन का स्रोत कभी सूखा नहीं। भगीरथ बाबा के बाद भी कई "आचार्य" इस सम्प्रदाय में होते रहे।

"साफा होड़" सम्प्रदाय में ईश्वरोपासना को विशिष्ट स्थान प्राप्त है। इस सम्प्रदाय वाले केवल एक ईश्वर पर विश्वास रखते और उसी की आराधना करते हैं। भूत-प्रेतों को ये लोग नहीं पूजते हैं। बलिदान या मदिरार्पण भी इन लोगों में नहीं होता है। इनकी पूजा-पद्धति शुद्ध सात्विक होती है जिसमें प्रार्थना का खास स्थान है। आचरण की शुद्धता पर ध्यान रखना आमिषाहार और नशा सेवन से दूर रहना, जीव हिंसा से अलग रहना और नियमित रूप से ईश्वरोपासना करना इन लोगों की विशेषताओं में से हैं। हाँ, अपने जातीय संस्कारों और पर्व-त्योहारों को इन्होंने त्यागा नहीं है, यद्यपि वैसे अवसरों पर भी बलि और हंड़िया की जगह फल, फूल, मिठाई, अक्षत, दूध और तुलसीदल का ही व्यवहार किया जाता है।

"साफा होड़" लोगों की संख्या हजारों में है। आज भी संतालों के कई जातीय नेता इसी सम्प्रदाय के हैं।

और "उम होड़" ईसाई संतालों को कहते हैं। "उम होड़" का अर्थ है "नहाया हुआ आदमी" जो ईसाइयों के "वप्तिसमा" संस्कार की ओर लक्ष्य करता है। संतालों में ईसाइयों की संख्या लगभग १·७५ प्रतिशत है, परन्तु शिक्षा-दीक्षा के क्षेत्र में वे औरों से आगे हैं। ईसाई संताल न तो अपने जातीय देवी-देवताओं को मानते हैं और न पर्व-त्योहारों को ही मनाते हैं।

पर्व-त्योहार :—संतालों के सभी त्योहार सामूहिक होते हैं, व्यक्तिगत नहीं। गाँव का "नायके" (पुजारी) ही सबके लिए अर्थात् सबकी ओर से व्रत रखता तथा पूजा-अर्चा करता है। हाँ, त्योहार के उत्सव और नाच-गान में सब लोग समान रूप से भाग लेते हैं। दूसरी बात है कि इनके प्रत्येक त्योहार के लिए वर्ष भर में अलग-अलग समय तो निर्धारित अवश्य है, पर तिथि कोई निश्चित नहीं है। प्रत्येक गाँव अपनी-अपनी सुविधा के अनुसार किसी भी तिथि को त्योहार मना सकता है।

हाँ तो, संतालों का वर्ष आषाढ़ से शुरू होता है। इनके त्योहारों का श्रीगणेश भी तभी से होता है। "एरोक", "हरियाड़", "जापाड़", "सोहराय", "साकरात", "भाग सिम" और "बाहा" इनके प्रमुख त्योहार हैं।

"एरोक" (बोना) बीज-वपन का त्योहार है और आषाढ़ में होता है। "जाहेरथान" में देवी-देवताओं के नाम से मुर्गी के बच्चों की बलि दी जाती है और निवेदन किया जाता है कि हमारे बीज अच्छी तरह लगें। फिर खिचड़ी बनती है और सब लोग प्रसाद पाते हैं। सावन में धान हरियाने पर

"हरियाड़" (हरा) का त्योहार होता है। 'एरोक" की तरह "हरियाड़" में निवेदन किया जाता है कि फसलें भली-भांति फूलें-फलें। "जान्पाड़" अगहन में होता है जिसमें "जाहेरथान" में एक सूअर की बलि पड़ती है। भोज में गाँव के पुरुषमात्र भाग लेते हैं। निवेदन किया जाता है कि "हमारे खेतों में खलिहानों में बरकत हो।" "जान्नाड़" के बाद ही नवान्न होता है।

"सोहराय" पूस में धान की फसल कट चुकने पर होता है। यही संतालों का "सबसे बड़ा" त्योहार है। "सोहराय" में नये धान के उपलक्ष्य में अपने देवी-देवताओं, पितरों तथा गोधन का पूजार्चन एवं सगे-सम्बन्धियों का मान-सम्मान किया जाता है।

"सोहराय" मुख्यतः पाँच दिनों का त्योहार है। पहला दिन संयम अर्थात् स्नान भोजन का है। गाँव के बड़े-बूढ़े "नायके" के साथ "गोड टाण्डी" (बथान) पर इकट्ठे होते हैं। वहाँ नहा-धोकर "जोहर एरा" एवं गोधन का आवाहन किया जाता है। इस निवेदन के साथ-साथ एक मुर्गे की बलि दी जाती है कि "लो, हमारी सेवा स्वीकार करो। हम तुम्हारा प्रसाद पायेंगे, हमें सिर-दर्द, पेट-दर्द न हो, हममें कोई कलह भी न हो।" हंड़िया भी अर्पित की जाती है। वहीं "मांझी" के द्वारा "सोहराय" के लिए सबकी सम्मति प्राप्त कर ली जाती है और घोषणा की जाती है कि "सोहराय" भर गाँव के युवक और युवतियों को "जोग मांझी" की देखरेख में नाचने-गाने, हँसने-बोलने की स्वच्छंदता प्रदान की जाती है।

"गोड टाण्डी" में ही हंड़िया की पहली छांक ढलती है, वहीं से नाच-गान की चहल-पहल शुरू भी होती है।

रात को युवक-युवतियों का दल, मस्ती की हिलोरों के साथ धूप, दीप, धान, चावल और दूर्वादल लेकर बारी-बारी से प्रत्येक गृहस्थ के यहाँ गो-पूजन को जाता है। उस समय जिन शब्दों में गौओं का आवाहन आराधन किया जाता है।

दूसरे दिन "गोहाल पूजा" होती है जिसमें "गोहाल" (गौओं का घर) को साफ-सुथरा करके सजाया जाता है, उसके दरवाजे पर अल्पना उरेखी जाती है, गौओं के पाँव धोये जाते हैं, उनकी सींगों पर तेल-सिंदूर लगाया जाता है तथा अपनी-अपनी औकात के अनुसार, पितरों और देवी-देवताओं के नाम मुर्गे या सूअरों की बलि दी जाती है। हंड़िया तो है ही। उस दिन परिवार की सभी बेटियाँ अपने-अपने मायके को आ चुकी होती हैं।

तीसरे दिन "सुण्टाउ" होता है जिसमें मांझी, पारानिक आदि से लेकर साधारण गृहस्थ तक गली में अपने-अपने दरवाजे पर अपने-अपने बैलों (या भैंसाओं) को धान की बालों, मालाओं आदि से सजाकर "खुँटते हैं" तथा बाजे-गाजों के साथ, सामूहिक रूप से, उन्हें भड़काते हुए घंटे-दो-घंटे तक नाचते-कूदते हैं। उसके बाद बैलों को खोलकर "गोहाल" में ले जाया जाता है और सबके यहाँ हंड़िया पी जाती है।

चौथे दिन "जाले" होता है जब युवक-युवतियों का दल प्रत्येक गृहस्थ के यहाँ नाच-गाकर थोड़े से चावल, दाल, नमक और मसाले इकट्ठे कर लेते हैं। पांचवें दिन "जोग मांझी" की देखरेख में उन्हीं चीजों की खिचड़ी पकती है। एक सहभोज होता है। हंड़िया भी ढलती है और उसके बाद से युवक-युवतियों को दी गयी "हँसने-खेलने" की स्वच्छंदता वापस ले ली जाती है, "जोग मांझी" का उत्तरदायित्व समाप्त हो जाता है।

"सोहराय" के बाद पूस के अंतिम दिनों में, "साकरात" का त्योहार होता है। यह दो दिनों का त्योहार है। पहले दिन गाँव के आस ही पास मछलियों, केंकड़ों या चूहों का तथा दूसरे दिन किसी जंगल में जंगली पशु-पक्षियों का शिकार होता है जिनके मांस का भोग, पकवान और हंड़िया के साथ, "माराड़ बुरू" एवं पितरों को लगाया जाता है एवं घर-गृहस्थी के कुशल-क्षेम के लिए उनसे प्रार्थनाएँ की जाती हैं।

"भाग सिम" का त्योहार माघ में होता है। हंड़िया, रखी जाती है। निश्चित तिथि को किसी जलाशय के किनारे देवी-देवताओं के नाम मुर्गी की बलि पड़ती है। गाँव के ओहदेदारों को अपने-अपने ओहदे की स्वीकृति अगले एक वर्ष के लिए दी जाती है। परन्तु अब तो यह सिद्धान्त मात्र रह गया है।

और "वाहा" का त्योहार फाल्गुन में होता है। यह संतालों का दूसरा बड़ा त्योहार है। "वाहा" फूल को कहते हैं। वस्तुतः "वाहा" संतालों का वसंतोत्सव है। ये लोग इसे अपना सबसे पवित्र त्योहार मानते हैं। इसकी गति भी भक्तिप्रधान हुआ करती है। वसंत के नये पत्तों और फल-फूलों का व्यवहार तब तक वर्जित है जब तक "वाहा" का त्योहार न हो लेता।

"वाहा" तीन दिनों का त्योहार है। पहला दिन संयम का है। "नायके" उस दिन विशेष रूप से स्नान तथा भोजन करके पूर्ण पवित्रता का पालन करता है। दूसरे दिन "जोहेरथान" के देवी-देवताओं को धूप, दीप, सिंदूर, जल तथा

दूर्वादल के अलावा हंड़िया और महुए व सखुए के फूलों की भेंट तथा मुर्गियों की बलि समर्पित की जाती है। खिचड़ी पकती है। सब लोग प्रसाद पाते हैं। गाँव के कुशल-क्षेम के लिए देवी-देवताओं से प्रार्थनाएँ की जाती हैं। नाच-गान भी चलता रहता है। तीसरे पहर "नायके" गाँव में आता है। प्रत्येक गृहस्थ के दरवाजे पर उनके पाँव पखारे जाते हैं। बदले में वह प्रत्येक को सखुए की मंजरियों का गुच्छा प्रसाद स्वरूप देता है। उसके बाद शुद्ध जल की होली खेली जाती है। हँसी-दिल्लगी के रिश्तों के अनुसार भींगने-भिगाने की धमाचौकड़ी सांझ तक बनी रहती है। एक दूसरे पर पानी डालकर वर्ष भर के वैर-द्वेष को धो डालने का विश्वास किया जाता है।

सामाजिक नियन्त्रण

पंचायत एवं गाँव के ओहदेदार : संताल समाज में किसी अच्छे काम के लिए किसी प्रकार के पुरस्कार, सम्मान आदि की प्रथा तो देखने में नहीं आती, परन्तु सामाजिक प्रथाओं के उल्लंघन सम्बन्धी अपराधों के लिए स्वजातीय न्याय एवं दण्ड-व्यवस्था अवश्य है। इस दृष्टि से प्रत्येक गाँव एक-एक इकाई होती है और प्रत्येक की एक-एक पंचायत है जिसके सदस्य गाँव के सभी वयस्क व्यक्ति हैं और जिसके प्रमुख स्तम्भ पांच हैं (१) मांझी, (२) पारानिक, (३) जोग मांझी, (४) जोग पारानिक और (५) गोडेत। वस्तुतः इन्हीं पाँचों को लेकर संतालों में पंचायत को साधारणतः "मोंड़े होड़" यानी "पांच आदमी" कहने की प्रथा चल पड़ी है।

उपर्युक्त ओहदेदारों का चुनाव साधारणतः प्रतिवर्ष "माग सिम" के त्योहार के अवसर पर हुआ करता था, परन्त् अब तो ये पद मौरूसी-से हो गये हैं। हाँ, मांझी को कुछ सरकारी अधिकार भी प्राप्त रहने के कारण उसके चुनाव पर सरकारी स्वीकृति प्राप्त करना भी आवश्यक होता है।

"मांझी" गाँव का प्रधान है। वह अपनी पंचायत का सभापति एवं अपने गाँववालों का प्रतिनिधि भी है। इस नाते अपने गाँववालों के आचार-विचार, धर्म-कर्म, भले-बुरे आदि के लिए सिद्धान्ततः उत्तरदायी भी वही होता है। सामान्यतः गाँव के जनतंत्रात्मक शासन का मुख्य मंत्री उसे ही समझा जाना चाहिए। किसी के शोषणों और उत्पीड़नों से गाँववालों खासकर अनाथों और विधवाओं की रक्षा करना उसका कर्त्तव्य और उत्तरदायित्व दोनों है। हाँ, इन दिनों कहीं-कहीं गाँव की मालगुजारी उगाहने का भार भी "मांझी" लोगों को ही दिया गया है।

"पारानिक" गाँव का उपप्रधान है। "मांझी" के अपने पट्टीदारों के बाद साधारणतः मांझी के पद का उत्तराधिकारी है।

"जोग मांझी" गाँव के युवक-युवतियों का सरदार और उनका चारित्रिक अभिभावक होता है। उसके लिए यह आवश्यक है कि गाँव भर के युवक-युवतियों की तमाम हरकतों का पता रखे ताकि गाँव में वर्णसंकर पैदा न हों। उसे इस बात की खबर रखनी पड़ती है कि कौन कितने पानी में है ताकि कोई किसी को मंझधार में छोड़ आने का साहस न कर सकें।

"जोग पारानिक" जोग मांझी का सहायक है और "गोडेत" या "गाड़ाइत" मांझी का संदेशवाहक या हरकारा। गाँववालों को किसी बात की सूचना देना, उनसे "बिहरी" उगाहना आदि उसके काम हैं।

साधारणतः गाँव के उपर्युक्त पदाधिकारियों को, पद मर्यादा के अनुसार कम या बेशी, मान, जमीनें प्राप्त रहती हैं जिनके लिए उन्हें कोई माल-गुजारी नहीं देनी पड़ती। साथ ही, पर्व-त्योहारों या जातीय संस्कारों के अवसर पर उन्हें हंड़िया भी औरों से दो एक दोना अधिक मिलती है।

संतालों की उक्त पंचायत में साधारणतः सभी प्रकार के सामाजिक मामलों का विचार होता है। गाँव की समस्या, परिवार का विभाजन, सम्पत्ति का बँटवारा, विवाहिता कन्या की विदाई का विवाद, पति-पत्नी का तलाक, अत्याचार या बलात्कार, कन्या का अपहरण, निषिद्ध यौन सम्बन्ध, भूत या डाइन का झगड़ा, पालतू पशुओं से फसलों की रक्षा आदि जो भी प्रश्न हों "मोंड़े होड़" यानी पंचायत के सम्मुख आते हैं।

माँझी का "पचायत के ऊपर "मोंड़े मांझी" पांच मांझियों की पंचायत है जिसका सभापति पारगाना कहलाता है। पारगाना का सहायक "दश मांझी' और उसका संदेशवाहक "चकलादार" कहलाता है। पारगाना या परगनैत साधारणतः दस-पन्द्रह गाँवों का सरदार हुआ करता है। कुछ दिन पहले तक उनके हाथ में पुलिस के अधिकार भी थे।

शिकार परिषद् : संतालों में "सेन्दरा बैसी" यानी "शिकार परिषदें" भी हुआ करती हैं जिसके प्रधान को "दिहरी" कहते हैं। यों "सेन्दरा" बैसी को सामाजिक मामलों में संतालों का हाईकोर्ट भी कहा करते हैं तथा उसमें मांझियों एवं पारगानाओं के फैसलों की अपीलें भी हुआ करती है, परन्तु उसे मुख्यतः शिकार सम्बन्धी विवादों के फैसलों के लिए बनी पंचायत ही

मझा जाना चाहिए। उसकी बैठक साधारणतः वर्ष में एक ही बार शिकार समय हुआ करती है।

बिटलाहा : निषिद्ध यौन सम्बन्ध का अपराध संतालों में सबसे बड़ा ापराध माना जाता है। समगोत्रीय यौन सम्बन्ध तो निषिद्ध है ही, निकट म्बन्धियों एवं अपर जातिवालों के साथ भी यौन सम्बन्ध वर्जित है। अस्तु, ब कभी कोई निषिद्ध या वर्जित यौन सम्बन्ध पकड़ में आता है तब वैसे ापराधियों को बिटलाहा यानी जाति से अलग कर दिया जाता है। गाँव की चायत तक किसी तरह तय हो सकी तो ठीक, नहीं तो "मोंड़े मांझी" की चायत या "सेन्दरा बैसी" में बिटलाहा का निश्चय कर लिया जाता है।

निश्चित तिथि को इलाके भर के लोग नगाड़ों के साथ अपराधी के गाँव पास जमा होते हैं जहाँ से उसके दरवाजे पर जाकर टूटे सूप, टूटी झाड़, ूठे पत्तल, जली लकड़ी तथा पत्तों के बने एक-एक वर और वधू के साथ क रेड़ का पौधा वहाँ गाड़कर उसे बिटलाहा यानी जातिच्युत कर दिये ाने क फतवा दे दिया जाता है। कहना न होगा कि उस समय अश्लील ोतों एवं अश्लील प्रदर्शनों की पराकाष्ठा हो जाती है। बिटलाहा किये गये यक्ति को जातिच्युत कर दिये जाने का आशय यह होता है कि उसके साथ चलम-तम्बाकू, आग-पानी, रोटी-बेटी आदि का कोई सम्बन्ध समाज में ाहीं रहता। हाँ, "जोम जाति" अर्थात् समाज में मिलने का भोज देकर वह ुनः अपने समाज में आ सकता है। परन्तु जिस यौन सम्बन्ध के कारण जो बटलाहा किया गया था उसका परित्याग उसे करना ही पड़ेगा।

इस प्रकार बिटलाहा का उद्देश्य अच्छा तो अवश्य रहा है, परन्तु इन दनों उसमें भी अनेक बुराइयाँ आ गई हैं। कई जगह देखा गया है कि बटलाहा का लक्ष्य अपराधी का अधिक से अधिक आर्थिक क्षति पहुँचाना मात्र ह गया है।

उरांव

बिहार की आदिम जातियों में, उरांव, मुंडा, हो, खड़िया तथा संताल जनसंख्या तथा अपनी संस्कृति के आधार पर प्रमुख गिनी जाती हैं। उनमें उरांव बिहार के छोटानागपुर भूभागान्तर्गत, पांच जिलों, रांची, पलामू, हजारीबाग, सिंहभूम तथा मानभूम में फैले हुए हैं। ऐसे तो इनके प्रसार अन्य जिलों जैसे चम्पारन तथा अन्य प्रान्तों आसाम, बंगाल, उड़ीसा तथा मध्य प्रदेश में भी है, परन्तु मुख्यतः इनका फैलाव छोटानागपुर कमिश्नरी में ही निहित है। छोटानागपुर के इन पांच जिलों में भी इनका विशेष प्रसार रांची तथा पलामू जिलों में है और इससे भी अधिक आगे बढ़ें तो हम कहेंगे कि इन दो जिलों में भी रांची के गुमला सबडिवीजन तथा पलामू के लातेहार सबडिवीजन में ही इनका मुख्य रूप से प्रसार है।

इस उरांव जाति पर जिसकी संस्कृति का विकास तथा फैलाव बहुत गहरा तथा दूर-दूर तक है, यदि हम उनकी पुरातन संस्कृति के आधार पर दृष्टि दौड़ायें तो हमें पता चलेगा कि जो जाति आज इतनी विकसित तथा विस्तृत है उसका इतिहास का पन्ना उतना ही अस्पष्ट और धुंधला है। जितना ही इस प्रश्न को सुलझाने का प्रयत्न किया जाता है उतना ही वह और उलझता जाता है। पहले तो उरांव और अन्य ऐसी आदिम जातियों के प्रश्न तथा उनके परिचय की ओर किसी का ध्यान नहीं आकृष्ट होता था। इसके दृष्टान्त में मैं एक उक्ति उद्धृत करूँगा। 'एनल्स आफ रूरल बंगाल' में हण्टर साहब ने उरांव तथा अन्य ऐसी ही आदिम जातियों की जानकारी को यह कहकर कि "ये एक ऐसी नीच तथा अनावश्यक जाति-समूह है जिसको भारतीय इतिहास के वातावरण में ठीक जंगल की तरह स्थान है जिससे अच्छे जीव के विकसित होने के लिए भूमि में उर्वरता आ सके" अलग कर दिया। इस दिशा में रिजले साहब ने "पिपुल औफ इंडिया" में लिखकर एक अच्छा रास्ता दिखलाया और फिर उनसे आगे चलकर स्व० श्री शरतचन्द्र राय ने बिहार तथा मुख्यतः छोटानागपुर की आदिम जातियों के बारे में बहुत ही सराहनीय कार्य किया जिसके द्वारा आज हमें इन आदिम जातियों के बारे में बहुत कुछ पता चलता है। परन्तु इतिहास का रूप, समय और

गति के अनुसार बदलता रहता है, अतः जो कुछ आज कहा जाय वह कल नहीं रह सकता और मुख्यतः किसी संस्कृति-विशेष के लिए यह और भी सत्य है और इस ओर श्री शरतचन्द्र राय ने भी अपना मत प्रकट करते हुए कहा है कि बहुत-सी चीजें आनेवाले अन्वेषकों के लिए है जो इस ओर विशेष रूप से अग्रसर होंगे। उरांव लोगों के बारे में यह बहुत ही प्रचलित उक्ति हो गई है कि ये लोग द्राविड़ वंश के हैं। श्री रिजले साहब ने कहा तथा उनके बाद श्री शरतचन्द्र राय की भी यही धारणा रही जिसका सत्य रूप उनकी पुस्तक "उरांव औफ छोटानागपुर" में मिलता है। परन्तु यह एक विवादास्पद विषय ही लगता है। द्राविड़ कोई वंशगत विभाजन नहीं लगता है, यह तो केवल भाषा सम्बन्धी विभाजन ही है। भारत के एक बड़े मानव-विज्ञान नेता डा० गुहा भी इस विभाजन को वंशगत विभाजन (रेशियल डिविजन) नहीं मानते जैसा कि उनकी पुस्तिका "रेशियल एलिमेन्ट्स इन इंडियन पोपुलेशन" में निर्देशित है।

इसी धारणा पर आधारित लोगों की दृष्टि दक्षिण के उस भूभाग की ओर जाती है जिसे इस उरांव जाति का उद्गम स्थान समझा जाता है। केवल भाषा के आधार पर किसी जाति विशेष को किसी वंशगत सीमाओं में बांधना न्यायसंगत नहीं जान पड़ता और विशेषकर न वैज्ञानिक बनावट उसके रीति-रिवाज, वैवाहिक नियम तथा बन्धन भाषा तथा वंशगत परम्पराओं के आधार पर ही की जा सकती है। उरांव जाति को दक्षिण के आदिमजातियों के साथ ला खड़ा करना बहुत अंश में युक्तिसंगत नहीं जान पड़ता। वहाँ की तथाकथित द्राविड़ वंशीय आदिमजातियों जैसे इरूला तथा पानियन लोगों से उरांव सर्वथा भिन्न ही दीख पड़ते हैं। यह भिन्नता केवल शारीरिक बनावट तथा अन्य शारीरिक मानव विज्ञान की खोजों पर ही आधारित नहीं प्रतीत होती, बल्कि उनकी सांस्कृतिक तथा सामाजिक बनावट पर भी आधारित है।

यदि हम उरांव नाम का उद्गम ढूंढ़ें तो हमें यह पता चलता है कि उरांव का पर्यायवाची शब्द उनकी भाषा में "कुडुख" है। इस आदिमजाति नाम का कभी-कभी आधार इनके पौराणिक राजा "करख" ही माने जाते हैं। यद्यपि इस राजा के नाम पर इस प्रदेश का नाम कुरूख देश इनके स्मृतिपट से अन्तर्ध्यान हो गया है फिर भी हमें पौराणिक साहित्य के आधार पर इनके सच्चे प्रतिनिधि के रूप में करसरा लोगों को लेते हैं जो आर्यो के आगमन

से पूर्व पश्चिमी पंजाब में रहते थे। "करसरा" से "कुड़ुखर" में परिवर्तित होना उरांव लोगों द्वारा उनके नासिका से सम्बन्धित "स" का "ख" हो जाने में ही निहित है। "कुड़ुख" शब्द की बनावट में संस्कृत धातु "कृष्" (हल चलाना) से भी साम्य प्रतीत होता है। "कृष्" से "कृषर" या कुरूखर। कृषक जो हल चलाकर खेती करता है, होने की संभावना को एकदम हटाया नहीं जा सकता। इस तरफ हमारा ध्यान आकर्षित होता है जब हम यह सोचते हैं कि छोटानागपुर की उपत्यका में निवसित आदिमजातियों में उरांव कृषि की दिशा में गण्य माने जाते हैं।

परिभ्रमण : जब उरांव लोग छोटानागपुर की उपत्यका में पहुँचे तो उन्होंने वहां पहले से ही "असुर" तथा मुंडा जैसी आदिमजातियों को पाया। जैसा कि पता चलता है, उरांव लोगों को यहाँ पर पहले से विराजमान आदिमजातियों से किसी प्रकार का विरोध नहीं प्राप्त हुआ। वे स्वतंत्रतापूर्वक यहाँ बस गये और फैल गये। यहाँ आने से पहले वे शाहबाद जिले के रोहतासगढ़ में बहुत दिनों तक रह चुके थे जहाँ पर उनकी बहुत ही विकसित संस्कृति थी तथा वे अपने एक राजा के अधीन रहते थे परन्तु रोहतासगढ़ में आने से पहले उनके परिभ्रमण के बारे में हमें उनकी लोककथाओं तथा गीतों में पता मिलता है। इन्हीं के आधार पर हमें नदनगढ़, पिपरीगढ़ तथा हरदीनगर जैसी जगहों के बारे में पता चलता है जहाँ से होकर उरांव लोग रोहतासगढ़ तक पहुँचे।

रोहतासगढ से उन्हें हटाने के लिए कब और किसने प्रेरित किया यह भी पूर्णरूपेण विवादास्पद है। परन्तु यदि ऐतिहासिक आधार को लेकर चलें तो हमें पता चलता है कि शाहाबाद के प्रदेश का कुछ ही हिस्सा सम्राट अशोक (२७१–२३१ ई० पू०) के आधिपत्य में था। इसके पूरे हिस्से पर अधिकार गुप्त साम्राज्य द्वारा भौमी शताब्दी में ही हो सका था। अतः यह कहना है कि उरांव लोगों को मुसलमानों ने रोहतास से हटाया न्यायसंगत नहीं लगता जब कि हमें यह पता है कि १५३९ ई० से पूर्व रोहतासगढ़ मुसलमानों के आधिपत्य में न आया। यह बेरो तथा खरबार लोग ही होंगे जिनके आगमन पर प्रथम शताब्दी के आसपास उरांव लोगों ने रोहतास को छोड़कर छोटानागपुर की ओर प्रस्थान किया। यदि हम छोटानागपुर राज्य के तारीखनामे को देखें तो हमें पता चलता है कि नागवंशी राज्य के प्रथम राजा का राज्याभिषेक सम्बत् १२१, ६४ ई० के लगभग हुआ और जैसा हम पता

चलता है उरांव लोग इस राज्याभिषेक के अवसर पर छोटानागपुर में मौजूद थे ।

अतः छोटानागपुर की उपत्यका में उरांव लोगों ने स्वच्छन्दता से अपनी खेती बारी के कार्यों का और भी सुन्दर तरीके से बढ़ाया जिसका आधार हल था। हल की खेती जो विकसित खेती कही जाती है, उरांव लोगों के जीविकोपार्जन का साधन थी। इस जंगल और पहाड़ों से भरी उपत्यका को इन्होंने एक जीता-जागता, हरा-भरा लहलहाता खेतों तथा खलिहानों का रूप दे दिया। धन-धान्य से पूर्ण, ये अपनी संस्कृति की अनुपम देन के रूप में अपना स्वतंत्र विकास सार्थक करने लगे। इनकी सुन्दर सामाजिक बनावट, आर्थिक तथा सामाजिक संगठन, पंचायत तथा परहा पंचायत आजकल की बात-सी दृष्टिगोचर होती है और इस परिवर्त्तन का उत्तरदायी बाहरी सामाजिक प्रभाव ही कहा जा सकता है।

उरांव के गांव

आज हमें उरांव तीन प्रकार के स्थानों में रहते मिलते हैं। पहाड़ों के ऊपर इनकी छोटी-छोटी झोपड़ियाँ तथा घाटियों में बड़ी-बड़ी बस्तियाँ और मैदानी प्रदेशों में इससे भी बड़ी फैली हुई बस्तियाँ हमें मिलती हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि इनकी बड़ी-बड़ी बस्तियाँ छोटानागपुर में पूर्ण रूप से बस जाने के बाद ही पनपीं। ऐसी बड़ी-बड़ी बस्तियों के पास ऐसा लगता है कि इन्होंने हलवाली खेती को ही प्रधानता दी, आखेट तथा खाद्य वस्तुओं के चुनने का कार्य गौण रहा।

पहाड़ों की बस्तियां

पहाड़ों पर की बस्तियाँ प्रायः बहुत छोटी होती हैं, कभी-कभी एक या दो तीन झोपड़ियाँ ही मीलों तक के जंगलों में मनुष्य के अस्तित्व का पता देती हैं। ऐसी बस्तियों का उदाहरण विशुनपुर थाने के पास स्थित बलातू घाट पर बसे एक झोपड़ीवाली उरांव बस्ती है। ऐसी पहाड़ी बस्तियाँ छोटानागपुर की उपत्यका जिसे घाट कहते हैं, के ऊपर बसी पायी जाती हैं। ऐसे घाट पर बहुत ही तीखी चढ़ाई के बाद पहुँचा जाता है। ऐसी जगहों पर बसी बस्तियों के उरांव पहाड़ों पर खेती करके जीवन यापन करते हैं। ऐसे घाटों पर जमीन की गहराई बहुत ही थोड़ी होती है। अतः ऐसे स्थानों पर बसने वाले उरांवों को अपना जीवन-यापन आखेट, जंगली जानवरों, साम

भात तथा फलों पर ही अधिकतर करना पड़ता है। ऐसी बस्तियों के उरांव अस्थिर खेती का प्रयोग करते हैं और इसका खास कारण जमीन की कमी तथा उर्वर शक्ति का अभाव ही है। ऐसे स्थानों पर केवल "टांड़" जमीन ही पायी जाती है।

घाटी की बस्तियाँ

छोटानागपुर में आगमन पर उरांव लोगों ने पहले पहाड़ तथा जंगलों में ही अपनी बस्तियाँ बसाईं परन्तु जैसे-जैसे समय बीतता गया तथा उनमें सुरक्षा का भाव बढ़ा, वे उससे नीचे आए तथा घाटियों तथा मैदानों में बस गए। जैसा कि मालम है कि वे खेती के कार्य में अधिक कुशल हैं, उन्होंने घाटी तथा मैदानों की उर्वर भमि में घर बनाकर हल की खेती आरम्भ की। पहाड़ों के विपरीत, घाटियों में इन्हें "दोन" (गहरी जमीन) प्राप्त हुआ जहाँ में हींवाली खेती करते हैं अतः सोन तथा कोयल नदियों के किनारों तथा पहाड़ों की तलहटियों में उरांव की बस्तियाँ अधिकाधिक संख्या में बस गईं। पहाड़ों की तलहटियों में तथा छोटी-छोटी नदियों के पास इन उरांवों की बस्तियों का दृश्य बहुत ही मनोरम वातावरण का रूप ले लेता है। जब गर्मी के भीषण बेग से आस-पास की छोटी-मोटी सरिताएँ सूख जाती हैं, अधिकांश रूप में उन्हें उन सरिताओं की तलहटियों में गढ़े खोदकर जल की न्यूनतम मांग को पूरा करना पड़ता है। ऐसे गढ्ढों को "चुआ" कहते हैं। इससे हम ऐसे जल के भंडार की अस्वास्थ्यप्रदता की कल्पना कर सकते हैं। ऐसी परिस्थिति हमें बरवे (रांची जिले के गुमला सबडिवीजन) तथा छेछारी (लातेहार सबडिवीजन के महुआडार थाने के गाँव) परगने में देखने को मिलती है।

घाटियों की बस्तियाँ पहाड़ों पर की बस्तियों से अधिक विस्तृत हैं। यहाँ घरों की संख्या १० से ५० तक तथा कभी-कभी इससे भी अधिक पायी जाती है। बड़ी-बड़ी बस्तियाँ छोट-छोटे टोलों में विभक्त पाई जाती हैं, जिनमें १० से २० घर होते हैं। विशुनपुर थाने के गांव सातो, से नवाटोली एक फर्लांग की दूरी पर स्थित है।

पहाड़ियों की बस्तियों के विपरीत, घाटी की बस्तियाँ सामूहिक रूप से बनी पायी जाती हैं तथा वे एक साथ सटी रहती हैं। किसी विशेष प्रकार की योजना पर आधारित उनकी बनावट नहीं होती परन्तु बस्ती के बीच में बड़े ऊँचे इमली के वृक्ष की छाया में हमें मिलता है उनका "अखाड़ा"।

मैदानी बस्तियाँ

घाटी की बस्तियों से चलकर हम मैदानी बस्तियों में आते हैं। इन मैदानी प्रदेशों की बस्तियाँ निश्चित रूप से बाद की बसी हुई हैं। पहाड़ों तथा जंगलों से घाटियों में आने तथा उससे फिर मैदानों की ओर अग्रसर होने में उरांव लोगों का अधिक समय लगा होगा। अपनी बढ़ी हुई आबादी के कारण इन्होंने उन स्थानों पर बसे हुए मुंडा लोगों को छोटानागपुर के दक्षिणी-पूर्वी किनारे की ओर कर दिया तथा क्रमशः इन लोगों ने छोटानागपुर उपत्यका के मध्य भाग अर्थात् रांची जिले में अपना प्रसार कर लिया।

परन्तु इन मैदानी इलाकों में केवल उरांव ही नहीं रह सके, प्रत्युत उनके पास बिहार के दूसरे भागों से आकर लोग बस गए तथा इन नये आगन्तुकों के व्यवहार से ऊबकर इन उरांवों ने अपना विस्तरण छोटानागपुर के अन्य भागों में कर लिया। यद्यपि आज अधिकांश उरांव छोटानागपुर के मैदानों में रहने लगे हैं फिर भी इनका और हिस्सा पहाड़ी तथा जंगली भागों में रहता है। इन मैदानी बस्तियों में आते ही सर्वप्रथम हमें घास और फूस से निर्मित "ग्राम देवी" का मन्दिर मिलता है तथा दूसरे छोर पर "ग्राम्य जंगल" जिसे "सरना" कहते हैं पाया जाता है। यह "सरना" "सरना बुढ़ी" का निवासस्थान माना जाता है।

लातेहार सबडिवीजन के अधिकांश उरांव ग्रामों में, घर के सामने लकड़ियों के खंभों से घिरा हुआ शाक-सब्जियों का बाग पाया जाता है। इन बागों में वे शाक-सब्जियाँ उपजाया करते हैं जिन्हें बाजारों में बेचकर वे अपना काम चलाते हैं। ऐसी बात पलामू जिले में ही पाई जाती है।

ग्राम की स्थापना

उरांवों की बस्तियों ने ग्रामों का रूप पहले ही ले लिया था अतः आज उनके नये ग्रामों की स्थापना देखना असम्भव-सा ही लगता है। बहुत पहले जब उरांव लोगों ने घने वनों तथा पहाड़ों में अपना ग्राम स्थापित करना प्रारम्भ किया, तो जो बात सबसे पहले उनकी दृष्टि में पड़ी वह थी वहाँ के वातावरण में रहने वाली सैकड़ों अद्भुत प्रेतात्माएँ। अतः जंगलों को साफ करते समय उन्होंने जंगलों के थोड़े हिस्से को वैसे ही छोड़ दिया जिसका नाम "सरना" दिया गया जिसकी पूजा गाँव के "पाहन" द्वारा की जाती है।

सर्वप्रथम ऐसी बस्तियों में इन बस्तियों के बसानेवाले पूर्वजों ने केवल एक ही गोत्र के लोगों को एक गांव में बसाया। परन्तु धीरे-धीरे जैसे-जैसे अन्य गोत्र वाले आते गये उनको भी गाँव में स्थान मिला और अन्त में अन्य जाति के लोग भी उन गाँवों में आकर रहने लगे तथा उरांव लोगों को मदद देने लगे। ऐसी जातियाँ घासी, लोहार, चिक बराइक इत्यादि थीं परन्तु उनसे भी आगे अन्य हिन्दू परिवारों के लोग भी उन गाँवों में शरण पाने के लिए जाने लगे जिससे उनके गाँव की बनावट तथा संचालन में बहुत ही धक्का पहुँचा।

थोड़ी शिक्षा के प्रकाश में तथा दूसरे प्रकार के रहन-सहन के तरीकों के आ जाने से प्राचीन आदिमजाति समाज के अधिक सदस्य अपने "प्राचीन" निवासस्थान से चलकर दूर हो गए तथा इस प्रकार वे ग्राम-स्थापना के पुराने तरीकों से बहुत दूर हो गये। आज उनका दृष्टिकोण एकदम बदला हुआ लगता है तथा वे आज अपने पुराने रीति-रिवाजों तथा ग्रामीण एवं सामाजिक बन्धनों में जकड़ना प्रतिष्ठा की बात नहीं समझते। इस प्रकार ग्रामों की प्राचीन दीवारें आज टूट-सी गई हैं।

जीवन यापन के साधन

भोजन जीवन की प्रमुख आवश्यकता है और इसी प्रकार इनके प्राप्त करने के साधन भी। जन्म से मृत्यु तक मनुष्य अपने जीवन-यापन के साधनों की प्राप्ति के लिए संलग्न पाया जाता है। और इन्हें प्राप्त करने के लिए मानव भौगोलिक तथा प्राकृतिक वातावरण के अनुकूल बनने का प्रयत्न करता है। परन्तु भोजन प्राप्त करने के तरीके आदिम जातियों के सांस्कृतिक स्तर के अनुसार बदलते पाये जाते हैं। आखेट, खाद्य-यपन तथा कृषि ही तीन प्रमुख जीवन-यापन के साधन पुरातन मनुष्यों की दुनिया में पाये जाते हैं। यदि हम अपनी दृष्टि उरांव लोगों के इन साधनों की ओर दौड़ायें तो हमें पता चलेगा कि इनके अन्दर इन तीनों प्रकार के साधन प्रस्तुत हैं। इसका वर्णन अभी उनकी तीन प्रकार की बस्तियों के साथ ही किया गया है। इन प्रागैतिहासिक उरांवों के प्राचीन भोजन के साधन को जानने के लिए हमें, इतिहास की स्मृति की ओर दूर जाना पड़ेगा जिससे हम यह कहने के लिए अपने को समर्थ पाते हैं कि बहुत प्राचीन समय में ये उरांव पूर्ण रूप से शिकारी ही थे तथा शिकार पर ही इनका जीवन निर्भर था। इसके दृष्टान्त

स्वरूप हमें इसक आभास इनके मौसमी शिकार में मिलता है। यद्यपि ये लोग कृषि प्रधान लोग हैं, फिर भी ये भोजन प्राप्त करने के साधन, शिकार तथा खाद्य-यपन को नहीं भूलते।

आखेट

मौसिमी तथा त्योहार सम्बन्धी शिकार "फागु सेन्दरा" जो मार्च महीने में होता है, "विसु सेन्दरा" अप्रील मई में होता है तथा "जेठ शिकार" वर्षा ऋतु के प्रारम्भ में किया जाता है। इन शिकारों में प्रमुख हथियार तीर-धनुष, बलुआ, तलवार, भाला, लबेदा इत्यादि प्रमुख हैं।

आखेट क कार्यक्रम सहयोग पर निर्भर करता है। पूरे गाँव के नौजवान या कभी-कभी दो तीन गाँव के लोग मिलकर शिकार के लिए निकल पड़ते हैं। ऐसी अवस्था में उनके द्वारा एक अगुआ चुना जाता है। इसके लिए जादू तथा अन्य प्रकार की आराधना पूजा की जाती है जिसके अन्दर उनका यह विश्वास रहता है कि इस पूजा के द्वारा वे शिकार के देवों को प्रसन्न करके अधिक जानवर शिकार में प्राप्त कर सकते हैं। ऐसे आखेटों में "धुमकुरिया" संस्थान का बहुत अधिक काम होता है। धुमकुरिया के बच्चे तथा जवान ही इस आखेट का कार्यक्रम पूरा करते हैं। अगुआ चुनने से लेकर आखेट का पूरा कार्यक्रम निभाना तथा आखेट से प्राप्त शिकार का बंटवारा इन्हीं के हाथों में होता है। इन सब कार्यों के लिए उनके अन्दर कार्यों का बंटवारा होता है। सभी कार्य एक निश्चित तथा पूर्व व्यवस्थित ढंग से होता है। इसके अन्दर हमें इनके सहयोग तथा शिक्षा का ही आभास होता है और इन सब के ऊपर उस "धुमकुरिया" संस्थान की शिक्षा, सहयोग तथा व्यवस्था और उसकी वांछनीयता ही दीख पड़ती है।

मछली मारना शिकार के बाद आता है। परन्तु उरांव प्रदेश में ऐसी नदियाँ नहीं जो मछली मारने के कार्यक्रम को पूरे रूप से निभा सकें। मछली मारने के लिए, फंदे तथा जालों का व्यवहार किया जाता है। इन जालों को उरांव अपने हाथों बुनते पाये जाते हैं।

चिड़िया पकड़ना उरांव बच्चों का कार्य रहता है। इसके लिए वे गेंद तथा बांस की पतली सींकों का उपयोग करते हैं। इस प्रकार छोटी-छोटी चिड़ियाँ पकड़ी जाती हैं।

उरांव लोगों के जीविकोपार्जन का प्रमुख साधन कृषि है। अनाज बोना तथा जानवरों को पालना, स्थिर जीवन का चिह्न है। उरांव इस भूभाग के

सबसे अधिक कुशल कृषक समझे जाते हैं। उनके खेती करने के ढंग पड़ोसी आदिमजातियों के तरीकों से अधिक समृद्ध हैं।

एक नये स्थान में बसना एक आदिमजाति के लिए बहुत ही कठिन कार्य है। जंगलों को साफ करने तथा वहाँ बसनेवाले उरांव लोगों को वहाँ की दुष्ट प्रेतात्माओं से बहुत बचना पड़ा। इनका उन्हें सदा भय बना रहता है। ऐसे कुशल कृषक उरांव को भी इस भय को दूर करने का साहस नहीं हुआ बल्कि उन्हें उन प्रेतात्माओं की इच्छाओं तथा उनके दवाओं का शिकार होना पड़ा। अतः उन्होंने इसके लिए इस प्रदेश के पूर्व रहनेवाले, मुंडा लोगों की मदद ली। प्रत्येक उरांव ग्राम में एक मुंडा पाहन प्रायः पाया जाता है।

यहाँ पर दो प्रकार की कृषि योग्य भूमि पायी जाती है। प्रथम "दोन" या गहरी जमीन जो सबसे अच्छी जमीन समझी जाती है, तथा दूसरी "टांड़" जो ऊँची सतह पर होती है तथा जो दोन से कम उपजाऊ समझी जाती है। तीसरी जमीन घाट के ऊपर होती है जहाँ अस्थिर खेती प्रयोग में लायी जाती है। "टांड़" खेत में समयानुसार खाद भी दी जाती है।

इन जमीनों में मुख्यतः धान, बाजरा, गोंदली, महुआ, सुरगुजा, रहर, कुरथी आदि फसल उपजाई जाती है। "टांड़" जमीन में सुरगुजा तथा गोड़ा धान उपजाया जाता है।

उरांव लोगों द्वारा दो प्रकार से अनाज बोया जाता है "बुना" तथा "रोपा"। ऊपरी टांड़ जमीनों में "बुना" का व्यवहार किया जाता है तथा "दोन" तथा गहरी जमीन में "रोपा" का। "घाट" के इलाके में "बुना" तरीके का ही व्यवहार किया जाता है। इन तरीकों के होते हुए भी उरांव उन भूत-प्रेतों की आत्मा को सन्तुष्ट करने के लिए अनेक पूजा तथा बलिदान करते हैं। यद्यपि आजकल बहुतायत से नर-बलि नहीं अपनाई जाती है फिर भी नर-बलि किसी-किसी भाग में आज भी प्रचलित है। मनुष्य को मारकर उसके खून को धान के बीज के साथ मिलाकर खेत में डाल दिया जाता है जिसका मुख्य अर्थ खेत की फसल को बढ़ाने का ही है।

इस ओर से आगे बढ़ने से पहले यदि हम उरांव लोगों की स्थिति पर ध्यान दें तो हमें पता चलता है कि यद्यपि खेती ही इनकी प्रधान जीविका है फिर भी इनके पास आज जीवन-यापन करने के लिए "श्रम" की सहायता लेने की आवश्यकता होती है। जो कुछ भी ये उपार्जन करते हैं वह तीन चार महीनों से अधिक नहीं जाता। अत जमींदारों के खेतों में

या अन्य स्थानों में काम करके पैसा कमाना तथा जीविका पालन करना ही रह जाता है। इस सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि पलामू के उरांव छोटानागपुर के अन्य उरांवों से अधिक समृद्ध हैं। रांची जिले में भी गुमला सबडिवीजन के उरांव अन्य स्थानों से अच्छे हैं। परन्तु शहर में रहनेवाले उरांवों की आर्थिक स्थिति खराब ही प्रतीत होती है। सिंहभूम के उरांवों की और भी दयनीय दशा है। जीविकोपार्जन के लिए वे लोग सिंहभूम की ओर चले गये तथा वहीं बस गये। चाईबासा में मैंने उरांव के ८० घरों को देखा जिनका मुख्य धन्धा वहाँ के बीड़ी बनाने के कारखाने में काम करना है। परन्तु वहाँ भी उन्हें शान्ति नहीं, "हो" लोगों से उनकी बड़ी शत्रुता ही रहती है। "हो" लोग उनका चाईबासा में काम करना पसन्द नहीं करते, अतः एक अन्तःआदिवासी विद्वेष की भावना बहुत ही प्रखर रूप से कार्य कर रही है।

सामाजिक संगठन

उरांव समाज पितृ-शासित समाज है। परिवार के धन का अधिकारी पुरुष ही होता है। स्त्री का कोई अधिकार नहीं रहता।

उरांव समाज की बनावट गोत्र-विभाजन पर आधारित है। शादी-विवाह भी गोत्र के अनुसार ही होता है। एक गोत्रवाला दूसरे गोत्र में ही शादी कर सकता है। जैसे लकड़ा गोत्र वाले, टोप्पो या ऐसे ही अन्य दूसरे गोत्र के साथ विवाह सम्बन्ध स्थापित कर सकते हैं। इन गोत्र तथा जाति चिह्नों में से कुछ इस प्रकार हैं—(१) लकड़ा, (२) रूंडा, (३) गारी, (४) बांडी, (५) किसपोट्टा, (६) तिर्की, (७) टोप्पो, (८) एक्का, (९) खलखो, (१०) लिंडा. (११) मिंज, (१२) कुजुर (१३) बेक तथा (१४) केरकेटा इत्यादि।

यद्यपि उरांव समाज की बनावट इन्हीं जाति चिह्नों तथा गोत्रों पर निहित है, फिर भी इनके अन्दर अपने जाति-चिह्नों से धार्मिक भावना का अभाव ही प्रतीत होता है और उस समय तो यह और भी दुःखपूर्ण अनुभव होता है जब यह पूछने पर कि "वह" किस गोत्र या जाति-चिह्न वाला है तब एक बहुत ही अज्ञानता का आभास मिलता है। जैसा कि आस्ट्रेलिया के आदिवासी या अमेरिका के आदिवासियों में अपने जाति-चिह्नों की ओर एक दृढ़ धर्म की भावना दीख पड़ती है, वैसा इनके अन्दर नहीं दीख पड़ता। इन

जाति-चिह्नों का दृश्य केवल इनके मृतप्राय "धुमकुरिया" भवन में या किसी यात्रा दल के अवसर पर कभी-कभी मिलता है।

पंचायत

न्याय-व्यवस्था ग्राम्य समुदाय के ऊपर अवस्थित है। इसका संचालन ग्राम के बड़े-बूढ़ों द्वारा निर्मित पंचायत द्वारा किया जाता था। इस प्रदेश में आदिमजातियों की अपनी न्याय-व्यवस्था पूर्णरूपेण विकसित तथा विस्तृत थी जिसका वृहत् प्रसार "परहा" पंचायत के नाम से प्रसिद्ध था। इनकी अपनी व्यवस्था के अनुसार ग्रामीण झगड़ों तथा अन्य प्रकार के सामाजिक त्रुटियों तथा अपराधों का फैसला ग्रामीण पंचायतों के द्वारा निपटाया जाता था। ग्राम की परिधि से बाहर के झगड़ों इत्यादि का निर्णय क्षेत्रीय "परहा" पंचायतों के द्वारा किया जाता था। इन परहा पंचायतों का निर्माण सुविधानुसार तीन या पांच या सात या कभी-कभी उससे भी अधिक बारह, इक्कीस तथा कभी-कभी चौरासी ग्रामों को मिलाकर एक "परहा" पंचायत का निर्माण किया जाता था। इन बड़ी "परहा" पंचायतों का सभापतित्व उनके द्वारा चुने हुए "परहा राजा" द्वारा किया जाता था। "परहा राजा" का निर्णय सभी को मान्य होता था। इस परहा राजा के द्वारा झगड़ों के विस्तृत रूप जैसे जंगलों का अधिकार इत्यादि का निर्णय किया जाता था। परहा राजा के अधीन "परहा मुंडा" "महतो" इत्यादि के पदों की भी व्यवस्था थी जिससे न्याय-व्यवस्था तथा इसके संचालन में अत्यधिक सुगमता तथा सफलता मिलती थी।

इन "परहा पंचायतों" की बैठकें प्रायः सामयिक "यात्राओं" तथा मेलों के अवसर पर होती थीं जहाँ प्रत्येक "परहा" के सदस्य अपने विशेष झंडों सहित पधारते थे। कभी-कभी इन "परहा झंडों" की बैठकों में उचित स्थान न प्राप्त होने पर झगड़े प्रायः होते पाये जाते थे।

इन "पंचायतों" तथा "परहा पंचायतों" के द्वारा उरांव समाज की न्याय-व्यवस्था तथा संचालन सफल रूप से किया जाता था। उनके समाज में इन्हीं व्यवस्थाओं के कारण ही किसी प्रकार की आधुनिक सामाजिक बुराइयाँ नहीं घुस सकी थीं। इनके समाज में इनकी सामाजिक व्यवस्था की कड़ी छिन्न-भिन्न न हो सकी थी। सामाजिक गुणों तथा भूलों का उचित मूल्यांकन भी सर्वथा इसी व्यवस्था के आधार पर दृढ़ था। परन्तु जैसे-जैसे बाहरी समाज तथा सभ्यता का इनके समाज पर असर पड़ा वैसे ही इनकी ये सामाजिक शृंखलाएँ

भी छिन्न-भिन्न सी हो गयीं। आज इन "परहा पंचायतों" की याद केवल सामयिक "यात्राओं" तथा "मेलों" के अवसर पर इनके द्वारा लाए गए झंडों से ही ताजी होती है परन्तु उन झंडों का अब कार्य नहीं रहा। अब तो ये एक मृतप्राय चिह्न रूप ही दीख पड़ते हैं।

धार्मिक प्रवृत्तियाँ

उरांव लोगों की धार्मिक प्रवृत्तियाँ उनके धार्मिक विश्वास पर निर्भर तथा केन्द्रित हैं। "सूर्य" उनके नहान देवता हैं जिन्हें वे "धर्मेश" कहते हैं। धार्मिक प्रवृत्तियों में उनके मानसिक अन्तर्द्वन्द्व की भावनाएँ विम्बित तथा प्रतिविम्बित होती दीख पड़ती हैं। जीवन के प्रत्येक पहलू पर इन धार्मिक अन्तर्द्वन्द्वों का पूर्ण प्रभाव उनकी पूजा तथा प्रतिष्ठाओं पर प्रकट होता है। "ग्राम्य झाड़ी" या सरना उरांव लोगों का प्रमुख देवस्थान हैं जहाँ प्रत्येक पर्व तथा त्योहार के समय "पाहन" द्वारा "मुर्गी" के बलिदान द्वारा "सरना बुढ़ी" का आशीर्वाद प्राप्त किया जाता है।

इसके अतिरिक्त प्रत्येक उरांव ग्राम में जाने पर सर्वप्रथम 'ग्राम्य देवी" का मन्दिर दीख पड़ता है जो एक छोटी-सी झोपड़ी के रूप में पाया जाता है।

आज उरांव लोगों में संस्कृति सम्बन्ध की भावना घर कर गई है। आज बहुत अंशों में उनकी संस्कृति की नींव हिल-सी गई है। आज बाहरी आकर्षण तथा पड़ोसी संस्कृति की छाप उनके जीवन तथा संस्कृति पर पूर्ण-रूपेण दीख पड़ती है। धार्मिक क्रियाकल-ापों तथा प्रवृत्तियों में आज यह प्रकट रूप से दिखाई पड़ता है। आज ग्राम्य देवी तथा अन्य हिन्दू देवी-देवताओं का इनके धार्मिक जीवन में समावेश हो गया है। दुर्गा, काली की पूजा, महावीर की पूजा इन लोगों ने बहुत प्रसन्नता से अपना ली है। फिर भी इस संस्कृति सम्ब-ध के युग में उरांव संस्कृति का यह संक्रान्ति काल ही प्रतीत होता है।

——:o:——

मुंडा

मध्यभारत के मुंडा भाषा बोलनेवालों के पीछे एक गूढ़ रहस्य छिपा हुआ है। उन लोगों की उत्पत्ति एवं मूल निवास के विषय में हमलोग पूरे अंधकार में हैं। उनके देशान्तर गमन का प्राचीन विवरण भी हमें लिखित नहीं मिलता। किसी तरह उनके बदलते हुए रस्म-रिवाजों के अध्ययन से कुछ रहस्य का भेद हमें मिल सकता है। परन्तु चूंकि ये रस्म-रिवाज अस्पष्ट हैं, अतः इस तरह का प्रयास वस्तुतः कच्चा तथा अटकलपंची होगा। शरत्चन्द्र राय ने इनके बहुत से गल्प एवं पौराणिक कथाओं की जांच पड़ताल कर उन्हें कालक्रम से रखने का प्रयास किया है। उनका कथन है कि मुंडा तथा मुंडा भाषा बोलनेवाली अन्य जातियाँ मूलतः अरावली पहाड़ी के पार्श्व में रहती थीं तथा वहाँ से पूरब की ओर विंध्य और कैमूर शृंखला की तरफ बढ़ीं। वे लोग आधुनिक सरगुजा तथा छोटानागपुर के दक्षिणी और पूरबी हिस्से तक फैल गये। सन् १९३१ में श्री राय ने अपनी धारणा बदल ली और कहने लगे कि अन्य जनजातियों की तरह मुंडा भी भारत में उत्तरी-पश्चिमी दर्रों से होकर आए। ऋग्वेद, रामायण तथा महाभारत के आधार पर राय इनके भ्रमण के बारे में उस समय तक का पता लगाते हैं जब तक कि ये लोग आर्यों के द्वारा पूरब की ओर खदेड़ दिये गये तथा आधुनिक उत्तर प्रदेश के आजमगढ़ जिले में बस गये। मुंडा परम्परा के अनुसार इनका अनुमान है कि ये लोग उत्तरी भारत के दक्षिणी हिस्से से आधुनिक बुंदेलखंड और मध्यभारत की ओर चले, उसके बाद राजपूताना और फिर उत्तरी-पश्चिमी भारत तथा बाद में आधुनिक रोहिलखण्ड और अवध होते हुए अन्ततोगत्वा बिहार के छोटानागपुर में आ बसे। आखिर वे कैमूर पहाड़ में रोहतास में तितर-बितर हुए। मुंडा और संताल सोन नदी पार करने के बाद दक्षिण, पूरब दिशा की ओर बढ़े और उस स्थान पर पहुँचे जो हिस्सा आजकल हजारीबाग जिले को रांची और पलामू जिले से अलग करता है। यहीं से संताल और मुंडा का संग विच्छेद होता है। संतालों ने छोटानागपुर छोड़ दिया और दामोदर नदी को पार करके सेखर-भूमि (आधुनिक जिला हजारीबाग) तथा बाद में मानभूमि और संताल

परगना में आकर बस गये । रांची जिला में आने पर मुंडा को असुर के साथ खूनी लड़ाई लड़नी पड़ी । असुर पहले से यहाँ बसे हुए थे । यह लड़ाई तबतक चलती रही जबतक कि मुंडा ने असुर को खदेड़कर जिले के दूरस्थ पश्चिमी हिस्से में भगा नहीं दिया ।

मुंडा बोलने वाली बन जाति की उत्पत्ति का पता उनके भाषा संबंधी सादृश्यता की जाँच-पड़ताल से लग सकता है। मुंडा को पृथक् प्रजाति का कहने से अच्छा है कि उन्हें एक विशाल भाषा परिवार का कहा जाय क्योंकि मुंडा भाषा बोलने वाले एक दूसरे से शारीरिक लक्षण में भिन्न हैं । मुंडा भाषा का संसार के अन्य भाषा परिवार के साथ संबंध स्थापित करने के प्रयास से यह प्रमाणित होता है कि हिमालय के अंचल में प्रचलित विभिन्न मुंडा भाषाओं में बहुत कुछ समानता है । इससे यह भी प्रतीत होता है कि दक्षिणी-पूरबी एशिया में बोली जानेवाली मॉन-ख्मेर भाषा के साथ मुंडा भाषा का बहुत कुछ संबंध है । विलियम स्मिट इसे ऑस्ट्रो एशिया-हटिक भाषा समूह कहते हैं जो बड़े ऑस्ट्रिक भाषा परिवार की एक शाखा है तथा जो मैडागास्कर से फैलते हुए इन्डोनेशिया, मलेनिशिया, पॉलिने-शिया होते हुए दक्षिणी अफ्रिका के पश्चिमी किनारा तक फैली है । हैमैंसी फिनिश विद्वान, ने मुंडा भाषा का संबंध फिनोउग्रिक प्रकार की बोली में खोजा, गाईन बॉव्लम जिन्होंने मुंडा की भाषा एवं जाति पर महत्वपूर्ण अन्वेषण किया है, इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि स्मिट और हेमेसी दोनों का सिद्धान्त प्रमाण रहित है । स्मिट के वर्गीकरण का पोषण हाल में एफ० बी० बवीपर, डच विद्वान, द्वारा हुआ है और वस्तुतः आजकल उसी के सिद्धान्त की मान्यता है ।

इस प्रकार भाषा संबंधी समस्या हमें मुंडा की उत्पत्ति एवं वासस्थान के विषय में बहुत कुछ ठीक-ठीक नहीं बताती । फिर भी यदि भाषा स्थिति का प्रश्न हल भी होता है तो हमें भाषा और जाति की इस तरह की समन्विति अन्यत्र नहीं मिलेगी ।

गाँव की सामाजिक व्यवस्था:—मुंडा बहुत प्रारम्भ से ही कृषि कार्य में लगे हुए हैं । ये लोग स्थायी रूप से गाँव में रहते हैं । कृषि की भूमि इनके गाँव के चारों ओर होती है और प्रत्येक गाँव में अपनी भूमि की सीमा पत्थर के टुकड़े द्वारा निर्धारित रहती है । जंगल भी इनके गाँव से दूर नहीं जिससे ये जलावन तथा घर बनाने के लिये लकड़ी लाते हैं । आजकल कुछ

गाँव नदियों के किनारे भी पाये गये हैं। ऊँची भूमि बहुधा वासस्थान के लिए विशेषत: पसन्द की जाती है।

मुंडा गाँव की बनावट की कोई निश्चित रूप रेखा नहीं होती। प्राय पचास से सौ घरों के समूह का गाँव होता है जो बिना किसी निश्चित सिलसिलें के बना होता है तथा जो ढ़ालू एवं समतल भूमि पर बसा होता है। पहाड़ी स्थलों में बरसात के दिनों में गाँव की गली पानी से भर जाती है। परन्तु ढालुआ होने के कारण पानी शीघ्र ही सूख जाता है। समतल गाँव की गलियाँ एक फूट कीचड़ से भरी रहती हैं।

गाँव के मध्य में अखाड़ा वा नृत्य-भूमि रहती है जहाँ सघन वृक्ष के नीचे पत्थर के बड़े-बड़े टुकड़े रक्खे रहते हैं। यह वह आम स्थान है जहाँ गाँव के प्रमुख-प्रमुख लोग इक्ट्ठा होते हैं और पारस्परिक वार्त्तालाप किया करते हैं। त्योहार एवं उत्सव के अवसर पर नृत्य होता है। गाँव के एक छोर पर "ससान" वा अस्थि गाड़ने का स्थान होता है जहाँ गाँव के मूल निवासियों की हड्डियाँ गाड़ी जाती हैं। सिर्फ उन्हीं आदमियों की हड्डियाँ इस ससान में गाड़ी जा सकती हैं जो कि उस गाँव के मूल निवासियों की संतान हैं। इस तरह के प्रत्येक कबीले का अपना-अपना अलग ससान होता है। बाद में बसे हुए व्यक्तियों की अस्थियों को उस स्थान में नहीं गाड़ने दिया जाता है। प्रत्येक परिवार का अपना-अपना अलग-अलग पत्थर का टुकड़ा होता है जिसे ससान दिरी कहते हैं। इस पत्थर के नीचे प्रतिवर्ष जुंगटोपा समारोह के बाद मृतक व्यक्तियों की हड्डी गाड़ी जाती है।

मुंडा गाँव की तीसरी विशेषता है इनका गितिओड़ा जो युवक और युवतियों के सोने का घर होता है। लड़के और लड़कियाँ यौवन प्राप्त करने के बाद अपने माता-पिता के घर में नहीं सोते। ये रातें गितिओड़ा में बिताते हैं। लड़के और लड़कियों के लिए अलग-अलग गितिओड़ा रहता है। गितिओड़ा प्रत्येक मुंडा गाँव में नहीं पाया जाता और न ऊरांव की "धुम-कुरिया" की तरह सामाजिक शिक्षा के लिए यह कोई सांस्कृतिक संस्था ही है।

उनके मकान की बनावट:—सुसम्पन्न मुंडा के निवास के लिए मकान में दो कमरे होते हैं। इसके साथ चतु:कोण भूमि रहती है जिसे ये लोग कमर "रचा" कहते हैं। मकान के पीछे एक "बाड़ी" होती है। सोने के लिए एक कोठरी रहती है और कोने पर मवेशी के रहने का घर होता है। दूसरी कोठरी "माण्डी ओड़ा" कहलाता है जहाँ लोग भोजन करते हैं।

यह पितर-प्रेतात्माओं के रहने का भी घर होता है। घर की छत बहुधा खपड़े से बनी रहती है। दीवालें कहीं-कहीं मिट्टी तथा बाँस के झाँझन की बनी होती हैं। पीछे की जमीन में सब्जियाँ लगायी जाती हैं। घर की बनावट में धनी और गरीब के बीच कोई खास अन्तर नहीं रहता है।

मुंडा परिवार में घरेलू वस्तुओं की संख्या अधिक नहीं रहती है। गृहस्थी के सामान में यथा-हल-फाल, हंसुआ और भिन्न-भिन्न प्रकार के अनाज, कूटने-छांटने के सामान पाये जाते हैं। हरेक परिवार में लड़की काटने की कुल्हाड़ी, मछली पकड़ने की कुमनी, पंछी पकड़ने के फंदे, तथा शिकार के लिए तीर और धनुष पाये जाते हैं। रसोई के वर्त्तन बहुधा मिट्टी के बने होते हैं। जो गाँव शहर से नजदीक है वहाँ पीतल वा काँसे की थाली इत्यादि भी मिलती है। घर पर तैयार की हुई चटाई साधारणतः व्यवहार में लायी जाती है, परन्तु बहुतों के घर में "पारकोम" (पलंग) भी पाया जाता है।

उनके भोजन:—मुंडा का प्रधान भोजन चावल है। सुसम्पन्न लोग चावल के साथ दाल भी खाते हैं। गरीब मुंडा गोंदली, मड़ुआ और मकई भी खाते हैं। मुर्गा सिर्फ बलिदान के बाद ही खाया जाता है। पंच परगना के मुंडा तथा हिन्दू मुंडा को छोड़कर अन्य मुंडा गोमांस, बैल का माँस, सूअर का माँस और भैंस का माँस खाते हैं। सब्जियों में प्याज, मिर्चा, लौकी, टोमैटो, कोंहड़ा, रामतरोइ, बीन्स इत्यादि घर की बाड़ी में उपजायी जाती है। मुंडा का प्रिय पेय हंड़िया है। प्रत्येक परिवार स्वयं इसे बनाता है। बाजार में शराब का भी व्यवहार होता है।

उनकी पोशाक:—मुंडा का पहनावा साधारण एव किंचित् रहता है। पुरुष बहुधा नितम्ब के बीच के भाग में "बटोई" पहनता है। युवक कमर के चारों तरफ एक प्रकार के कपड़े लपेटते हैं जिसे करधनी कहते हैं। बढ़े जो घर पर रहते हैं सिर्फ भगवा पहनते हैं। जाड़े के दिनों में कम्बल का भी व्यवहार ये लोग करते हैं। इन दिनों सुखी मुंडा एक धोती और एक कमीज का सेट रखने लगे हैं। स्त्रियाँ साड़ी को इस तरह पहनती हैं जिससे स्तन पर पर्दा रहे। देहातों में स्त्रियाँ कमर के चारों तरफ एक प्रकार का कपड़ा लपेटे रहती हैं जिसे लंहगा कहते हैं। इससे ऊपर का शरीर नग्न रहता है। बाजार जाने के समय पुरुष पगड़ी लगाते हैं और स्त्रियाँ रेडोमेड ब्लाउज और मिल साड़ी पहन कर बाजार जाती हैं।

युवतियाँ अपने शरीर को आभूषण से सजाती हैं। ये आभूषण बहुधा कांसे-पीतल के बने होते हैं। कान के आभूषण अधिकतर चाँदी के बने होते हैं। काँसे के बाले और लाह की चूड़ियाँ व्यवहार में लायी जाती हैं हाथ और पाँव में अंगूठियाँ पहनी जाती हैं और गले में काँसे का आभूषण भी पहना जाता है। युवक भी आभूषण से शौक रखते हैं। ये लम्बे-लम्बे बाल रखते और हाथ में लोहे का बाला पहनते हैं। फूलों का इनको बड़ा शौक है। इसे ये लोग बाल में लगाते हैं। गोदना स्त्रियों के बीच प्रचलित है।

मुंडा अर्थ परिचालन

आदिवासी के गाँव बहुत अंश में स्वतः सम्पन्न होते हैं। कृषि के अतिरिक्त आदिवासी ग्रामीण अपनी बहुत-सी आवश्यकताओं की पूर्ति स्वयं अपने गाँव में ही कर लेते हैं। बहुत-सी चीजों का उत्पादन वे स्वयं करते तथा अन्य चीजें वस्तु विनिमय के द्वारा प्राप्त कर लेते हैं। मुंडा के गाँवों में हम कपास से काते हुए सूत पाते हैं जिन्हें वे गाँव के जुलाहे के हाथ बेचते हैं। बहुत से क्षेत्रों में लाह का उत्पादन एवं रक्षण होता है। लाह के कीडे कुसुम, तरार और पलास के पेड़ पर पाले जाते हैं। इससे कृषक की आमदनी बढ़ती है। कुछ स्थानों में तसर के कीड़े भी पाले जाते हैं। इससे तन्तु सदृश पदार्थ व्यवसायी तसर जुलाहे के हाथ बेचा जाता है। कहीं-कहीं जंगलों से मधु लाकर रुपये कमाये जाते हैं। अवकाश के क्षणों में कुछ मुंडा कंघी भी बनाते हैं जिसे वे बाजार में बेचते हैं। लोहे तथा मिट्टी के पदार्थ लोहार एवं कुम्हार द्वारा बनाये जाते हैं। इसे मुंडा नहीं बनाते। मुंडा बहुत सुन्दर चटाई बनाते हैं। परन्तु इन चटाइयों का उपयोग इनके घर ही में होता है। टोकरियाँ, तूरी और महली जाति के लोग बनाते हैं।

परन्तु आमतौर पर मुंडा का प्रधान व्यवसाय गृहस्थी ही है। वे पटाई हुई नीची जमीन तथा ऊँची शुष्क जमीन में अन्न उपजाते हैं। ऊँची जमीन को वे टाँड वा "तानर" तथा नीची जमीन को दोन कहते हैं। उनकी गृहस्थी के सामान निकटवर्ती हिन्दुओं से भिन्न नहीं है। कृषि कार्य पुरुष और स्त्री के सहयोग से होता है। अवसर अवसर पर पुरुष और स्त्री का श्रमिक कार्य भिन्न-भिन्न होता है।

शुष्क जमीन में मुख्यतः बाजरा उपजाया जाता है। परन्तु मुंडा क्षेत्र का मुख्य अनाज धान ही है। कहीं-कहीं एक क्षेत्र में साल में दो फसलें होती हैं। घर की बाड़ी में सब्जियाँ लगायी जाती हैं जिसके उत्पादन का श्रेय घर की स्त्रियों और बच्चों को है। मुंडा परिवार में नाना प्रकार के पशु पाले जाते हैं। गाय, भैंस, बैल, बकरी, भेंड़, सूअर तथा मुर्गे इनके घरों में पाले जाते हैं। बैल और भैंस कृषि कार्य के लिए पाले जाते हैं और साथ-साथ गाड़ी में भी जोते जाते हैं। इस पशुओं के रहने के लिए प्रत्येक मुंडा परिवार में घर रहता है।

मुंडा साल में एक बार पशु-त्योहार मनाते हैं। सोहराई के समय पशु की पूजा होती है। बकरे और भेंड़ बच्चे चराते हैं और भैंस अहीर चराते हैं जिन्हें फसल के अवसर पर प्रचलित परिमाण में अन्न दिया जाता है। गाँव की सीमा के अन्दर जंगल में कहीं भी चरागाह की स्वतंत्रता है। इस प्रकार की जमीन को गोचर-भूमि कहते हैं। इस गोचर भूमि की देख-भाल गाँव के मुखिया करते हैं। मुंडाओं की एक विचित्रता यह है कि ये दूध का व्यवहार नहीं करते हैं अतः बहुधा मवेशी दुहे नहीं जाते हैं।

मुंडा के बीच भूमि पट्टा एक जटिल विषय है। इसके बन्दोबस्त का वस्तुतः बड़ा ही प्राचीन इतिहास है। बहुत कम गाँव में खुटकटी पट्टा है जो कि मूल व्यवस्था है। मूल निवासियों के गाँव की भूमि पर सम्मिलित अधिकार की व्यवस्था अब बहुत कम रह गयी है। यह भूमि अब जमींदारों के हाथ में चली गई है जिन्हें साझा या राजा का हिस्सा कहते हैं। कुछ अच्छे जमीन के टुकड़े इनमें से "मांझाहास" कह कर हस्ताक्षरित किये जाते हैं जो मुखिया का हिस्सा होता है। भुंईहरी पट्टा सम्मिलित अधिकार से गाँव के अन्दर व्यक्तिगत अधिकार की ओर अंतिम प्रयास है। भुंईहार वे रैयत हैं जो प्राचीन खुटकटी व्यवस्था पर जमें हुए हैं। वे लोग गाँव के मूल निवासियों की संतान हैं। इस तरह की जमीन के कुछ हिस्से गाँव की सेवा के लिए अलग रक्खे गये हैं। मुंडा, महतो, पाहन, पुजार इत्यादि इसीमें से सेवाभूमि रखते हैं। भुंईहरी गाँव की बाकी जमीन का साझा वा मांझी-हास के द्वारा नीरक्षण होता है। आजकल साझा की जमीन भुंईहरी जमीन जोतने वाले वा अन्य गृहस्थों के द्वारा लगान चुका कर जोती जाती है। अब बहुत सी भुंईहरी जमीन तथा खुटकटी अधिकार मुंडा से दूसरे लोगों के द्वारा भी अपनाये गये हैं। किन्तु इस प्रथा को अब छोटानागपुर टिनेनसी

एक्ट के द्वारा रोके जाने का प्रबंध किया गया है जिससे कोई भी आदिवासी अपना अधिकार किसी गैर आदिवासी को हस्तान्तरित नहीं कर सकता है। परन्तु दुर्भाग्यवश जबतक यह एक्ट पास हुआ तबतक बहुत से आदिवासियों की जमीन हस्तान्तरित हो चुकी थी।

शिकार और मछली पकड़ना जो पहले आर्थिक उद्यम समझा जाता था अब बहुत मुंडाओं के लिए एक सामाजिक एवं धार्मिक क्रिया मात्र रह गया है। साल में एक-आध बार ही यह समारोह के साथ मनाया जाता है। अब बहुत बड़े शिकार नहीं किये जाते। जंगल के कट जाने से शिकार की व्यवस्था और भी लुप्तप्राय हो गयी है। शिकार में जो कुछ भी मिलता है वह सामूहिक ढंग से वितरित किया जाता और प्रत्येक शिकारी को बराबर हिस्सा मिलता है। उन परिवारों के भी प्रत्येक सदस्य को, जो शिकार में अपना आदमी नहीं भेज सके, हिस्सा मिलता है। मछली मारना भी अब प्रमोद की वस्तु मात्र रह गया है और साल में एक-आध बार समारोह के साथ किया जाता है।

मुंडा के अर्थ परिचालन में गाँव के बाजार और हाट का प्रमुख स्थान है। सप्ताह में एक बार मुख्य गाँव के निश्चित स्थान पर हाट लगता है। खास-खास स्थानों में अलग-अलग दिन में हाट लगता है जिससे कि उस इलाके के लोग बारी-बारी से हाट कर सके। ये हाट आदिवासियों के लघु व्यापार में मदद पहुँचाते हैं और व्यापारी एक हाट से बकरे मुर्गे खरीद कर दूसरे हाट में बेच डालते हैं और इस तरह एक-दो दिन के भीतर ही छोटी मोटी आमदनी कर लेते हैं। यहाँ गाँव वाले अपनी बचत का अनाज, कंघी, चटाई, मछली पकड़ने का जाल इत्यादि बेचते हैं। हाट विनिमय का बहुत बड़ा केन्द्र होता है। चावल, बाजरा, दाल, तेल के बीज, रस्सी, टोकरी, मधु, लाह और तसर हाट में लाकर बेचे जाते हैं अथवा तम्बाकू, नमक, कपड़ा, मशाले, सूत, रूई, चीनी मिट्टी के वर्त्तन इत्यादि से इनका विनिमय किया जाता है। हाट में लोहार लोहा का सामान ले, बढ़ई लकड़ी का सामान, तेली तेल, मवेशी वाले मवेशी, मिठाई वाले मिठाई तथा ग्वाले घी लेकर बेचने आते हैं। नाना प्रकार की सब्जियाँ तथा फैशन की वस्तुएँ भी हाट में बेचने के लिये लायी जाती हैं। नाई और पोस्टमैन भी हाट में आता है। इन हाटों में एक बड़ा आकर्षण होता है। शराब की दुकान, जहाँ सस्ती शराब बेची जाती है। इन साप्ताहिक बाजारों के अलावे

बहुत से सामयिक मेले लगते हैं जहाँ वस्तु के क्रय-विक्रय अथवा विनिमय के अतिरिक्त प्रेम का सौदा भी किया जाता है। प्रेमी और प्रेमिका का मिलन होता है और बहुतों के विवाह का निश्चय भी यहीं होता है। बूढ़े अपने रिस्तेदारों से मिलते हैं। मुखिया सामाजिक बातों का प्रचार और बहस करता है, और ढोल के द्वारा प्रमुख घोषणा की जाती है।

मुंडा की व्यवस्था गाँवों में बहुत अंश में प्रतिबंधित है। यद्यपि गाँव के बाजार में व्यापार होता है परन्तु क्रय-विक्रय का बहुधा काम वस्तु-विनिमय द्वारा होता है। इससे मुद्रा की आवश्यकता वस्तुतः रह ही नहीं जाती है। मुद्रा का आदान-प्रदान अब जो कुछ भी हो चला है वह उन व्यक्तियों के कारण से हुआ है जो बंगाल के जूट मिलों में, दामोदर नदी-योजना में, अथवा निकटवर्ती खानों में काम कर पैसा लाते हैं। अब मुंडा के गाँवों तक आधुनिक यातायात की व्यवस्था से नवीन आर्थिक प्रणाली का सृजन हो रहा है तथा नित नूतन परिवर्त्तन हो रहा है।

सामाजिक व्यवस्था

समस्त मुंडा बनजाति दो शाखाओं में विभक्त है। बड़ी शाखा को "महली मुंडाको" तथा छोटी शाखा को "कोमपाट मुंडाको" कहते हैं। बड़ी शाखा मुख्यतः रांची जिले के तमाड़ परगना में पायी जाती है और पातर के नाम से प्रसिद्ध है। छोटी शाखा के मुंडा साधारण श्रेणी में आते हैं। ये दोंनों शाखायें अन्तर्विवाही हैं। बड़ी शाखा छोटी शाखा से सामाजिक दृष्टिकोण से न्यून है। इनकी न्यूनता की कहानी बताती है कि किस तरह एक शाखा के पूर्वज ने दूसरी शाखा का नाल-रूज्जु खाया। परन्तु वास्तविकता यह है कि इस शाखा पर दूसरी शाखा की अपेक्षा हिन्दू धर्म का प्रभाव कम है।

मुंडा बनजाति कई बहिर्विवाही इकाई में बटीं हुई है जिसे "कीली" कहते हैं। मुंडा परम्परा के अनुसार एक कीली के सभी सदस्य एक पूर्वज की संतति हैं। जहाँ तक कबीले या कीली बा प्रश्न है मुंडा बहिर्विवाही है परन्तु जहाँ तक उनकी वनजाति का प्रश्न है वे अंतर्विवाही हैं। मुंडा और किसी अन्य मुंडाभाषी तथा संताल, हो, खड़िया तथा बिरहोर के बीच संमोदन विवाह नहीं हो सकता है। तमाड़ के मुंडा सिर्फ पाटकुम परगना के भूमिज के साथ अंतर्विवाह कर सकते हैं। ये लोग खंगार के साथ भी विवाह नहीं करेगें जो एक समय उन्हीं के स्वजन समझे जाते थे। कुछ परगनों में खँगार खँगार-मुंडा के नाम से प्रसिद्ध हैं।

कीली का नाम बहुधा पशु अथवा वृक्ष या पौधों के नाम पर रक्खा गया है। ऐसा विश्वास है कि इनके पूर्वजों को देवक वस्तुओं से संबंध रहा होगा। एक कबीले वा कीली के सदस्य अपने को एक पूर्वज की संतति समझते हैं यद्यपि इनके पूर्वजों का सुदूर पता नहीं लग सकता। जब कीली सदस्यों की संख्या बढ़ी तो उनकी उपशाखाओं का निर्माण हुआ जिससे कि मुंडा को दुल्हन खोजने के लिए दूर न जाना पड़े। इस तरह का विभागीकरण मुख्यतः मुंडा के छोटानागपुर आने पर हुआ। इनका प्रमाण हमें उनके कीली के नाम (यथा हेमरोम, हासदा, सोरेन इत्यादि) हैं जो संताल और भूमिज से मिलते हैं जो मुंडा के छोटानागपुर आने से पूर्व उसके स्वजन थे।

तमार परगना में मुंडा के बीच सामाजिक स्तरण स्पष्ट है। इनके छः वर्ग या जाति-प्रभेद हो सकते हैं। यह समुदाय दो भाग में विभाजित हो सकता है। (अ) जमींदार, और (आ) रैयत। भाग (आ) में शीर्ष में जमींदार आते हैं जो ठाकुर कहलाते हैं तथा जो पन्द्रह गांवों के मालिक होते हैं। इसके बाद "मानकी" का स्थान है जो दस या बारह गाँव के मालिक होते हैं। इन जमींदारों में से बहुतों ने संगणना के समय अपने को क्षत्रिय इस मतलब से बताया जिससे अपने निकटवर्ती हिन्दुओं की आंखों में ऊँचे बने रहें। परन्तु सभी तरह से व्यावहारिक रूप में वे मुंडा हैं। ये दोनों वर्ग अंतर्विवाही हैं। तीसरे वर्ग में मुंडा वा गाँव के मुखिया आते हैं जिसको एक गाँव होता है जो खुदकट्टी अधिकार, जो जमींदार के पदाधिकारी में मिला रहता है, वह अपने परिवार के अन्य लोगों के साथ जमीन बन्दोबस्त करता है। इस तरह के जमींदार बाबू कहे जाते हैं। भाग (आ) में मुंडारी लोग हैं जो मुंडा रैयत हैं। शुंडरी और उपरोक्त चार वर्ग में आर्थिक एवं सामाजिक असमानता के कारण अन्तर्विवाह सम्भव नहीं है। तमाड़ में मुंडा समाज के नितल में पातर हैं जो वनजाति की महली मुण्डाको" शाखा के होते हैं। यद्यपि इनलोगों को भी कुछ जमीन के टुकड़े रहते हैं, फिर भी इनके और अन्य पाँच वर्ग के बीच सामाजिक संव्यवहार नहीं है। सिर्फ अन्तर्विवाह अकाल्पनिक नहीं है प्रत्युत् पातर के हाथ से स्पर्श किये गये जल का भी व्यवहार वर्जित है।

इस तरह हम देखते हैं कि यद्यपि तमाड़ में मुंडा समुदाय एक ही वनजाति के हैं, फिर भी उनमें सामाजिक भेदभाव बहुत है। यदि कोई

ऊँचे वर्गवाला निम्न वर्ग की किसी लड़की को प्यार करता है तो वह उससे बिना विवाह किये हुए कान्ता के रूप में रख सकता है। घर में उसे अलग कमरा दिया जाता है और उसका बनाया हुआ खाना नहीं खाया जाता। एक ही सामाजिक वर्ग में भी सभी, सभी का बनाया हुआ भोजन नहीं खा सकते हैं। किसी के बनाये हुए भोजन के खाने के पूर्व उसके साथ पारिवारिक सम्बन्ध देखना होता है। इस प्रकार का सामाजिक स्तरण जाति प्रथा से बहुत कुछ मिलता है और वस्तुतः यह उनके हिन्दुओं के साथ रहने का फल है।

परिवार

मुंडा का साधारणतः व्यष्टि परिवार होता है। फिर भी सम्पन्न लोगों में सपिण्ड और आत्मीय सम्बन्धी सभी एक ही साथ रहते हैं। वे लोग पितृ-पिण्डक और पितृ-स्थानीय हैं। पिता का अधिकार सर्वोपरि है। स्त्रियाँ सम्पत्ति की उत्तराधिकारिणी नहीं हो सकतीं यद्यपि उन्हें पोषण तथा वैवाहिक खर्च पिता के उत्तराधिकारी से लेने का अधिकार है। मुंडा स्त्री आर्थिक उद्योग में हाथ बंटाती है। घर पर और बाहर काम करती है। रसोई बनाना, बुनना और बच्चे की देखभाल करना उसके ऊपर है। समाज में अपने पति के सामने यद्यपि उसका स्थान अधरिक है, फिर भी न्यून नहीं है। प्रायः प्रत्येक नवीन उपक्रम पर उसकी इच्छाओं पर विचार किया जाता है। खासकर बच्चों के पालन में उसका मुख्य स्थान है। पुरुष, स्त्री और बच्चों के बीच श्रम विभाजन की व्यवस्था है जो बहुत से आर्थिक उद्यम में सहायता पहुँचाती है। मुंडा बच्चों का विशयोपयोजना तथा अनुशासन के लिये प्रथम स्कूल उनका घर है जहाँ वे प्रारम्भिक शिक्षा पाते हैं।

रक्त सम्बन्धी पारिभाषिक शब्दावली इनके बीच वर्ग विभेदक है, यद्यपि निकट सम्बन्धी और दूर के सम्बन्धी तथा बड़े और छोटे भाई-बहन के बीच भेद व्यवहार रहता है। व्यक्ति और उसकी पत्नी के छोटे भाई-बहन के बीच तथा स्त्री और उसके पति के छोटे भाई-बहन के बीच औपहासिक सम्बन्ध रहता है। इस प्रकार का सम्बन्ध पितामह और पौत्री के भी बीच पाया जाता है और यद्यपि अवस्था की असमानता से इनके बीच विवाह सम्भव नहीं होता, परन्तु इनके उपहास में बहुधा काम का अंश रहता है। व्यक्ति और उसकी पत्नी के माता-पिता एवं बड़े भाई-बहन के बीच तथा स्त्री और उसके पति के माता-पिता एवं बड़े भाई-बहन के बीच परिहार सम्बन्ध रहता है। कुछ कुटुम्बों का अपने सम्बन्धियों के नामकरण, विवाह एवं मृत्यु के अवसर पर कुछ निश्चित व्यवहार होता है जिसका पालन करना

उसका कर्त्तव्य है। बच्चे का नामकरण पितामह के नाम पर होता है और इस प्रकार के व्यक्ति को उसके साथ 'सखी' या 'मिता' के नाम से विशिष्ट सम्बन्ध रहता है। मामा को अपने भगिना-भगिनी के विवाह के मौके पर निश्चित कर्त्तव्य करना होता है। मृतगृह समारोह के अवसर पर भी कुछ सम्बन्धियों का खास कर्त्तव्य होता है।

जीवन-चक्र

बचपन :—मुंडा माता-पिता के लिये 'नवीन जीवन' का प्रारम्भ आनन्द का विषय है। विवाह के पश्चात् बच्चे के जन्म की प्रतीक्षा उत्सुकतापूर्वक की जाती है। रति और गर्भ के बीच का सम्बन्ध इन्हें मालूम है। परन्तु जीवन का प्रारम्भ बिना बोंगा की कृपा से नहीं हो सकता है। यह अवसर आनन्द का अवसर है अवश्य परन्तु इसमें किसी प्रकार का जलसा इत्यादि नहीं मनाया जाता है। इनलोगों के बीच गर्भ विधि नहीं है, और जो कुछ भी है वह हिन्दुओं से ली गयी है जिनके साथ वे सैकड़ों वर्षों से रहते आये हैं। गर्भवती एवं गर्भ के बच्चे को खतरे से बचाने के लिये, गर्भ नष्ट तथा आसोत्र जन्म के खतरे के लिये समारोह किया जाता है। इस तरह के समारोह में 'गारसी बोंगा' की आराधना खासकर प्रथम गर्भ में की जाती है। ज्योंही स्त्री के पिता वो भाई के द्वारा यह बात जानी जाती है कि वह गर्भवती है त्योंही समारोह किया जाता है। मुंडा स्त्री गर्भ के समय अधिक प्रतिबंध एवं निषेध नहीं मानती है।

बच्चे के जन्म के अवसर पर घासी जाति की स्त्री प्रसाविका का काम करती है यद्यपि ऐसा भी उदाहरण मिला है जहाँ घर की बुढ़िया ने ही प्रसव के अवसर पर काम किया है। लड़के और लड़की के जन्म से मुंडा के आनन्द में कोई अन्तर नहीं पड़ता है। लड़का पितर को पिंड देगा और खानदान को बनाये रखेगा। लड़की जब पिता का घर छोड़ेगी तो गौशाला को गाय से भर देगी। मुंडा के बीच जन्म के अवसर पर गाने के लिये कोई खास गीत नहीं है, और बहुधा इस आनन्द के गीत में विवाह के ही गीत गाये जाते हैं।

बच्चे के जन्म से समस्त परिवार को अशौच हो जाता है। इस तरह का अशौच छठी समारोह के साथ समाप्त होता है। साधारणतः छठी समारोह जन्म के आठवें दिन मनाना चाहिए, परन्तु कभी-कभी खास मौके पर पाँचवें दिन में ही समाप्त हो जाता है। गाँव के सभी लोग शामिल होने के लिये आमंत्रित किये जाते हैं और नवजात शिशु के माता-पिता घर-घर जाकर निमंत्रण देते हैं। नाई सभी, सगोत्रीय सम्बन्धियों का केश काटता है और बच्चे तथा बच्चे की मां का नाखून

काटता है। बच्चे के सिर के कटे हुए बाल को दोने (पत्ते के प्याले) में रखा जाता है। बच्चे की तेल से मालिश की जाती है तब माता सहेलियों के साथ नदी में स्नान करने जाती है। पुराना खाली घड़ा और चटाई लेकर वह चलती है और उसके साथ की अन्य स्त्रियाँ प्रसूती का कपड़ा इत्यादि लिये चलती हैं। चटाई जला दी जाती है और घड़ा भी तोड़ दिया जाता है। नदी पहुँचने पर कपड़े धोये जाते हैं और सभी स्त्रियाँ स्नान करती हैं। बच्चे का बाल भी फेंक दिया जाता है। बच्चे को घर पर ही स्नान कराया जाता है। समस्त घर धोया एवं साफ किया जाता है। घर को इस तरह पवित्र करने के पश्चात् परिवार में सभी सदस्य 'एडिंग' के अन्दर जाकर पितर की पूजा करते हैं। पति-पत्नी को नवीन वस्त्र दिया जाता है। उस दिन पड़ोसी पका हुआ भोजन एवं मुर्गे का शोरवा भेजते हैं। भोजन का अन्त 'डियनली' नामक एक विशेष शराब पान से होता है। उस समय यदि पिता की इच्छा हुई तो स्त्री बच्चे के नाम का प्रस्ताव रख सकती है। परन्तु साधारणतः नामकरण दूसरे दिन होता है जिसे 'साकिन' कहते हैं।

बचपन में दूसरा प्रमुख उत्सव होता है कर्ण भेद वा 'लुतुरतुकुई'। यह प्रथम, द्वितीय वा तृतीय अवस्था में मनाया जाता है। इस अवसर पर साखी प्रमुख भाग लेता है। वह अपने साथ उपहार, चावल, दाल, नमक, सरसों का तेल, हंडिया, बकरा और नवीन वस्तुएं लाता है। कुछ विधि के पश्चात् बच्चे के कान ताँबे या चाँदी की सुई से छेद दिये जाते हैं। काले मुर्गे का बलिदान दिया जाता है। भोजन एवं शराब पीने के बाद सिंग बोंगा की बच्चे की आयु एवं स्वास्थ्य के लिये प्रार्थना की जाती है।

स्तन त्यजन समारोह आजकल देर से होता है। जबतक बच्चे में शारीरिक क्षमता न आ जावे तथा माता के बिना न रह सके तबतक स्तन त्यजन नहीं कराया जाता है। स्तन त्यजन क्रमिक नहीं होता, प्रत्युत एकाएक उसकी व्यवस्था की जाती है। उच्चाजु प्रक्रिया बच्चे को स्तन त्यजन के लिये प्रयुक्त की जाती है। कभी-कभी कड़ुवे या तीते पदार्थ का लेप माता के चुचुक पर लगा दिया जाता है जिससे बच्चा स्तन पान न कर सके। जिद्दी बच्चे को माता के स्तन तक पहुँचने पर थप्पड़ भी खाने पड़ते हैं। बच्चे को माता से दूर अन्य कुटुम्बों के यहाँ भी भेज दिया जाता है जिससे आप से आप बच्चे की दूध पीने की आदत छूट जाय।

प्रारम्भिक शैशवावस्था में बच्चे और बच्चियाँ अपने माता-पिता के साथ खेत

में काम करते हैं और घर का काम-काज सीखते हैं। छोटी-छोटी लड़कियां नदी से पानी लाते हुए तथा जंगल से घास एवं लकड़ी का बोझ ढोते हुए बहुधा देखने में आती हैं। लड़के अधिकांशतः स्कूल नहीं जाते और जिस गाँव में मिशन स्कूल भी है वहाँ भी स्कूल में लड़कों की संख्या बहुत कम है। वे शिक्षा को महत्त्व नहीं देते क्योंकि वे लोग शिक्षित को परम्परा को छोड़ते हुये देखते हैं। क्रिश्चियन परिवार आर्थिक उद्योग में व्यवधान होने पर भी अपने बच्चे को स्कूल भेजते हैं। इस हालत में मुंडा शिक्षितों की संख्या बहुत कम है।

'गितिओड़ा' जो पहले प्रारम्भिक परम्परागत शिक्षा का स्थान था अब प्रायः समाप्त हो रहा है। कुछ गाँवों में तो यह बिल्कुल ही नहीं पाया जाता है। जिस गाँव में पाया जाता है वहाँ लड़के अपनी परम्परा एवं वनजाति की कहानी से अवगत होते हैं, पहेलियाँ हल करते, तथा बाजे बजाना सीखते हैं। नाच, नाटक और ग्राम्य खेल गाँव की रंगभूमि अथवा 'अखरा' में होते हैं। यहाँ नाच अक्सर हुआ करता है। सभी उम्र के मर्द और औरतें इसमें शामिल होती हैं, यहाँ युवक और युवतियाँ नाच की मुद्रा सीखती हैं।

बच्चों का खेल कई प्रकार का होता है। साधारण मुंडा परिवार में हम खिलौने नहीं पाते। बच्चे बड़ों को नकल करना सीखते और यही उनका खेल होता है। लड़के बड़ों की गृहस्थी एवं शिकार को नकल करते और लड़कियाँ रसोई पकाने एवं घर सम्हालने की नकल करती हैं। लड़कियों का दूसरा खेल है गोटी का खेल जिसे 'गूटी' कहते हैं। लड़कियाँ चतुर्भुज खींचकर भी खेलती हैं। जहाँ मिशन स्कूल हैं वहाँ बच्चे हॉकी एवं फुटबाल भी खेलते हुए नजर आये हैं। परन्तु अन्य गाँव के बच्चे ऐसा खेल नहीं खेलते।

शैशवावस्था के प्रारम्भ में बच्चे का सम्पर्क अपने परिवार के सदस्यों से रहता है। अपने पिता का उसे प्यार मिलता है। बड़े भाई अथवा बड़ी बहन उनकी देखभाल के लिये हैं परन्तु कभी-कभी वे इनको मरम्मत भी किया करते हैं। अपने पिता के रक्त सम्बन्धियों से बच्चे तमीज सीखते हैं। अपनी माता के कुटुम्ब से वे प्रेम पाते हैं। और यही कारण है कि बच्चे अपनी माता के भाई और बहन तथा अपनी माता के पिता के साथ अधिक समय व्यतीत करना पसन्द करते हैं।

जब वह शिशु से लड़का हो जाता है तो परिवार के सदस्य के अतिरिक्त लोगों से उसका सम्पर्क बढ़ता है। वह गाँव के अपने कुटुम्ब तथा कबीले के आदमी से मिलता है। उसे अपने निकट कुटुम्बों के सम्बोधन के लिये शब्द

होते हैं। इसके अलावे निकट सम्बन्धियों एवं गाँव के अन्य जाति बिरादरी के लिये उन्हें अलग-अलग शब्द होते हैं। दो लड़के अथवा लड़कियों का व्यक्तिगत मैत्री समारोह नवीन सम्बन्ध को जन्म देता है। मैत्री के उत्सव में उपहार का विनमय होता है। इस तरह सम्बन्धित दो परिवारों के बीच शादी-विवाह नहीं हो सकता है।

युवावस्था के पूर्व लड़के और लड़कियाँ उम्र के अनुसार अलग-अलग खेल का गुट तथा काम करने का गुट बनाती हैं। इस तरह का गुट गाँव के भिन्न-भिन्न कार्यों में हाथ बटाँता है।

लड़के और लड़कियाँ किशोरावस्था के पूर्व से ही आर्थिक एवं घर के कार्य मे हाथ बँटाती हैं। लड़कियाँ घर को साफ करने, मवेशी को खिलाने, रसोई बनाने तथा छोटे-छोटे बच्चों की देखभाल करने में अपनी माता को सहायता पहुँचाती हैं। वे अपनी माता के साथ जंगल में लकड़ी चुनने के लिये जाती हैं या नदी या तालाब से पानी लाने के लिये जाती हैं।

छोटे लड़के बकरे, भेंड़ तथा भैंस की देखभाल करते हैं। वे अपने पिता को खेती के कामों में मदद पहुँचाते हैं।

अन्य वन जातियों को तरह इनके बीच बचपन के अन्त का कोई समारोह नहीं मनाया जाता है। लड़कों में परिवर्त्तन बहुत क्रमिक होता है अतः बाल्यावस्था से यौवनावस्था में प्रवेश करने को कोई खास उम्र नहीं पहचानी जा सकती है। लड़कियों की युवावस्था का उनके रजस्वला होने से पता चलता है। परन्तु इसके लिये कोई खास समारोह नहीं मनाया जाता है। जिस गाँव में गितीओड़ा है वहाँ लड़के और लड़कियाँ अपने-अपने घर में नहीं सोते। जहाँ गितीओड़ा के घर नहीं हैं वहाँ किसी सुखी व्यक्ति के घर के बरामदे पर लड़के सोते हैं और लड़कियाँ किसी विधवा के घर सोती हैं।

यौवनावस्था

यौवनावस्था के प्रारम्भ से ही काम-आकर्षण को नियंत्रित किया जाता है। लड़के साहस एवं शौर्य के कार्यों में अग्रसर होते हैं। वे अपने बाल एवं आकृति को आकर्षित बनाने का भरपूर प्रयास करते हैं। वे लोग नाच-गान में पटु होते हैं और लड़कियों की बात में विशेष ध्यान देते हैं। लड़कियाँ अपने रूप पर बहुत ध्यान रखती हैं। वे बाल झारने, तेल लगाने एवं बाल संवारने की कला में दक्ष होती हैं। उन्हें बाल में फूल लगाने तथा हाट से खरीदे हुए छपे ब्लाउज को पहनने में आनन्द अनुभव होता है। वे इस बात पर ध्यान रखती हैं कि उनके रूप पर लड़के

और लड़कियां आकर्षित हों। लड़के और लड़कियां खुलकर मिलते हैं। युवक और युवती जीवन के कई मौके पर, कृषि कार्यों में, एकांत जंगल में जहाँ वे लकड़ी चुनने जाते हैं, तथा नदी किनारे में एक दूसरे से मिलते हैं और अपने-अपने प्रेम को प्रदर्शित करते हैं। रंगभूमि में लड़के और लड़कियाँ मिलते और एक साथ नाचते-गाते तथा नाच समाप्त होने पर पुनः मिलते हैं। यह सच है कि मैत्री का परिणाम प्रेम मिलन होता है जिसमें एक दूसरे के प्रति अपने को समर्पित कर देता है, परन्तु समाज का नियम है कि एक ही कबीले के लड़के और लड़कियाँ आपस में घनिष्ठता नहीं बढ़ा सकते। फिर भी समाज के इस नियम के उल्लंघन की परवाह प्रेमांध लड़के और लड़की नहीं करते। पंचायत इन्हें सजा देती और यदि कबीले के अन्दर दो लड़के और लड़की प्रेमी और प्रेमिका का सम्बन्ध विच्छेद नहीं करते तो वे समाज एवं गाँव से बहिष्कृत किये जाते हैं।

विवाह

वनजाति के प्रत्येक सदस्य के लिये विवाह एक आवश्यक कर्त्तव्य है। यहाँ तक कि प्रत्येक देवी-देवताओं को भी पति-पत्नी है। विवाह के पश्चात् ही कोई मुंडा वन समाज का पूर्ण विकसित सदस्य हो सकता है। विवाह आवश्यक है क्योंकि इससे संतान पैदा होती है जो पितर की अराधना करती है। यद्यपि पंच परगना के हिन्दू प्रभावित मुंडा के बीच बालविवाह पाया जाता है, परन्तु अधिकांश मुंडा यौवन के पश्चात् विवाह प्रबन्ध करते हैं। कोई भी लड़का तबतक विवाह नहीं करता जबतक कि वह शिकारी नहीं बने और कोई भी लड़की तबतक विवाह के लायक नहीं समझी जाती जबतक कि खजूर की पत्ती से चटाई नहीं बना लेती, अथवा सूत कातना नहीं जानती।

मुंडा के बीच कई प्रकार के विवाह प्रचलित हैं,। एक पत्नीवाद साधारण नियम है। कोई भी स्त्री अपनी सौत की उपस्थिति बर्दास्त नहीं कर सकती, बशर्ते कि वह बन्ध्या न हो। कुछ दिन पूर्व हरण विवाह की प्रथा प्रचलित थी। लड़का अपने पसन्द की किसी लड़की को हाट या अन्य मेलों से अपने मित्रों की मदद से हर करके ले जाता था। इस तरह का प्रबन्ध बधू-मूल्य से छुटकारा पाने के लिये किया जाता है। जहाँ वधू मूल्य की झंझट नहीं है वहाँ इस तरह का विवाह प्रायः विरले ही है। 'राजीखुशी' विवाह में लड़के और लड़की स्वयं हाथ बटाते हैं। इस विवाह में माता-पिता द्वारा आयोजित विवाह की तरह अधिक विधियाँ नहीं होती हैं। वधू-मूल्य के लिये कोई खास आग्रह नहीं किया जाता और जो कुछ भी वर की तरफ से मिलता है उसे वधू के माता पिता स्वीकार कर लेते

हैं। 'हठ विवाह' के भी कुछ उदाहरण मिलते हैं जिसमें स्त्री अपने प्रेमी के घर जाकर जबर्दस्ती रहने लगती है जो किसी कारण उससे विवाह नहीं करना चाहता कहीं-कहीं 'सेवा विवाह' के भी उदाहरण मिलते हैं। वधू मूल्य को ससुर के घर में जाकर सेवा के रूप में चुकाया जाता है। विधवा विवाह तथा वैवाहिक सम्बन्ध विच्छेद किये हुए व्यक्ति के विवाह में वधू-मूल्य का लेन-देन प्रायः नहीं ही होता है। इस तरह के विवाह को सगाई कहते हैं। परन्तु सबसे अधिक प्रचलित विवाह वह है जो माता-पिता के द्वारा ठीक किया जाता है। ऐसा कहा जाता है कि पहले लड़के और लड़कियाँ विवाह की बातों में स्वच्छन्द थीं और कबीले के बाहर मनोनुकूल विवाह करती थीं। परन्तु आजकल वर-वधू का चुनाव माता-पिता के हाथों पर और अन्ततोगत्वा शुभ लक्षणों पर निर्भर करता है।

जब लड़के के माता-पिता किसी अच्छी लड़की के बारे में सुनते हैं तो वे अपने किसी आत्मीय को उस लड़की के घर भेजते हैं। रास्ते में यदि उस व्यक्ति को किन्हीं अशुभ लक्षणों का दर्शन हुआ तो वह वापस आ जाता है और यदि शुभ दर्शन हुये तो घरकैती प्रारम्भ हो जाती है। उसी प्रकार घर-बार का पता लगाते हैं। इस प्रकार के आने-जाने में प्रतिनिधियों को भोजन दिया जाता है। जब हरेक चीज ठीक हो जाती है तो 'वाला' वा मंगनी समारोह का शुभ दिन ठीक किया जाता है। इस अवसर पर वधू-मूल्य भी निर्धारित किया जाता है। मुंडारी भाषा में वधू-मूल्य को 'कुरी गोनोंग' कहते हैं। पहले जमाने में कुरी गोनोंग में मुद्रा नहीं मांगा जाता था, सिर्फ मवेशी लिये जाते थे। समस्त मुंडा के देश में वधू-मूल्य भिन्न-भिन्न हैं। आजकल कुरी गोनोंग में तीन चार गायों के अलावे कपड़े तथा १२ से १५ रुपया तक नगद दिया जाता है। कुरी गोनोंग कभी भी विवाह में बाधा नहीं डालता है। यदि परिस्थितिवश लड़के के पिता तत्काल कुरी गोनोंग देने में असमर्थ हैं तो बाद में वे इसे थोड़ा-थोड़ा करके चुका सकते हैं। वाला समारोह के बाद लोगनोत विधि मनायी जाती है। विवाह साधारणतः फसल के बाद जब कि मुंडा को कृषि कार्यों से छुटकारा मिल जाता है, ठीक होता है। इस समय सभी कुटुम्बियों को देने के लिए चावल और हंड़िया रहती है जिस पर उन्हें आमंत्रित किया जाता है। विवाह में कई प्रकार की विधि मनायी जाती है। वर और वधू को तेल मालिश किया जाता है। आशीष की विधि अथवा चुमन मुख्य विधि है। अन्त में वर-वधू के माथे पर सिन्दूर लेपता है। जब वर वधू के घर पहुँचता है तो एक प्रकार की विधि दी जाती है जिससे वधू वर के कबीले में प्रवेश करती है।

मुंडा समाज में वैवाहिक सम्बन्ध विच्छेद प्रचलित है। न पुरुष और न स्त्री जीवन भर बंधे रह सकते हैं। अनुचित काम सम्बन्ध, वंध्यापन, चोरी की आदत और अन्य कारण से सम्बन्ध विच्छेद होता है। सम्बन्ध-विच्छेद पंचायत के सामने होता है। पंचायत निश्चय करती है कि पति को कितना रुपया विवाह का खर्च वापस होना चाहिए। वैवाहिक सम्बन्ध विच्छेद के समारोह को "सकनचारी" कहते हैं। सम्बन्ध विच्छेद के बाद पुरुष और स्त्री पुनः विवाह कर सकते हैं। इस प्रकार के विवाह को सगाई कहते हैं।

पुरुष के लिये विवाह एक नूतन सम्बन्धी क्षेत्र कायम करता है। इन सम्बन्धियों से वह हमेशा मिलता-जुलता रहता है। उनलोगों से वह अतीव प्रेम एवं देखभाल करता है। उसके बदले में वह अपनी पत्नी के बड़ों के प्रति श्रद्धा रखता है तथा छोटे के प्रति प्रेम प्रदर्शित करता है। सास-ससुर के प्रति श्रद्धा परिहार तक पहुँचती है। स्त्री के छोटे भाई के साथ वह उपहास किया करता है। उसकी पत्नी की छोटी बहन उसकी गुप्त पत्नी है क्योंकि श्याला सम्बन्ध की प्रथा इनके यहाँ प्रचलित है।

स्त्री का अपने पति के सम्बन्धियों के साथ घनिष्ट सम्बन्ध रहता है। मुंडा पितृ पिण्डक लोग हैं। पत्नी विवाह के पश्चात् शीघ्र पति के घर रहने को आती है। वह क्रमशः पति के कबीले की सदस्या तथा बाद में घर की मालकिन बन जाती है। अतः सास के रहने पर भी दुल्हे की अपेक्षा दुल्हन का स्थान अधिक प्रमुख है। यद्यपि स्त्री अपने माता पिता के घर बराबर आया करती है, परन्तु घर में उसका अधिकार नहीं रह जाता। दुल्हन को अपनी सास के अधीन कायदा-कानून सीखना पड़ता है जिसके लिये वह आनाकानी करती है। युवती और बूढ़ी स्त्री क बीच का झगड़ा परिवार के सदस्यों में फूट लाता है और मुंडा परिवार में ऐसा बहुधा पाया जाता है कि भाई और पिता के अलग-अलग चूल्हे हैं। यद्यपि दुल्हन को सास के प्रति श्रद्धा है, परन्तु दैनिक कार्यों में उनको आपस में सम्पर्क होने के कारण वे दोनों परिहार सम्बन्ध नहीं रख सकते।

दैनिक जीवन

मुंडा पुरुष तड़के उठते हैं और शौचादि के पश्चात् बासी नास्ता करते हैं जो रात का बना रहता है। तब वह खेत को कृषि सामान ले चल पड़ते हैं वहाँ देर तक काम करते हैं। खेत ही में स्त्रियाँ भोजन लेकर जाती हैं। दोपहर में वे घर लौटते हैं और गोधूली के पहले भोजन कर लेते हैं।

स्त्री सुबह में घर के बर्त्तन इत्यादि साफ करती है। फिर नदी से पानी लाती है। तबतक रसोई करने का समय हो जाता है और रसोई पकाकर स्त्री पुरुष के लिये खाना ले खेत जाती है। स्त्री पुरुष के कार्यों में सहायता पहुँचाती है। गोधूली के बाद पुरुष और स्त्री स्वच्छन्द हो बातें करते हैं। कहानी कहना, पहेली हल करना तथा नाच इत्यादि गाँव के अखड़ा का रोमांस है।

वृद्धावस्था

बूढ़ों को बुद्धि एवं अनुभव के लिए समस्त समाज में आदर और सम्मान किया जाता है। गाँव की पंचायत में उनकी बातों का महत्त्व दिया जाता है। उम्र अधिक होने पर शारीरिक बल क्षीण हो जाने पर बूढ़े यथासाध्य आर्थिक धंधे में हाथ बँटाते हैं। छोटे उनका मजाक भी उड़ाते हैं परन्तु वे हंसकर उन्हें स्वीकार कर लेते हैं। युवक की बदलती हुई गति को वे बर्दास्त नहीं कर सकते। संसार के इस परिवर्तन को वे आश्चर्य से देखते हैं। विवाह और त्योहार के अवसर पर बूढ़े भी आनन्द से दिल खोलकर शामिल होते हैं। कभी-कभी तो उनके मजाक युवकों से भी भद्दे होते हैं।

वृद्धावस्था स्वयं एक व्याधि है। इस अवस्था में आकर लोग चक्षु शक्ति एवं श्रवण शक्ति खो बैठते तथा बहुधा दम्मा की बीमारी के शिकार हो जाते हैं। इसके अतिरिक्त कई प्रकार की बीमारियाँ इन्हें सताती रहती हैं।

मुंडा दैहिक और दैविक बीमारी में भेद समझते हैं। जादूगरनी भी बीमारी पैदा किया करती है। उसके द्वारा की गई बीमारियों का इलाज ओझा या मति द्वारा होता है। जब इनलोगों से बीमारी आराम नहीं होती तभी लोग अस्पताल जाया करते हैं। क्रिश्चियन मुंडा ओझा के पास नहीं जाते। वे मिशन के अस्पताल में जाना पसन्द करते हैं। अस्तु, साधारणतः मुंडा को, मृत्यु के पहले उचित चिकित्सा नहीं हो पाती।

मृत्यु के पश्चात् मृतक को स्थान-स्थान की प्रथा के अनुसार गाड़ दिया जाता है। अथवा जला दिया जाता है। जलाने में अधिक खर्च होता है अतः सिर्फ सम्पन्न एवं हिन्दुओं से प्रभावित मुंडा ही मुर्दा को जलाते हैं। दूसरे लोग मुर्दा गाड़ते हैं। उस क्षेत्र में भी जहाँ मुर्दा जलाने की प्रथा है, बरसात के दिनों में मुर्दे गाड़े जाते हैं। क्रिश्चियन क्षेत्र में मुर्दा गाड़ने की प्रथा अधिक प्रचलित है।

मृत्यु से मृतक के परिवार के लोगों को अशौच हो जाता है। तीसरे, पाँचवें सातवें अथवा नवें दिन मृतक के सगोत्रीय सम्बन्धियों को 'अम्बल अदेर'

समारोह के लिये मृतक के घर जमा होना पड़ता है। उनलोगों की दाढ़ी हजामत होती है और नाखून काटे जाते हैं। यह शुचि समारोह होता है। मृतक की रूह को 'एडिंग' में प्रतिष्ठित किया जाता है। इससे अशौच का अन्त हो जाता है और परिवार पुनः साधारण अवस्था में आ जाता है। वर्ष में एक बार 'जंगटोपा' समारोह मनाया जाता है जिसमें मृतक की हड्डी या अस्थि कबीले के श्मसान में गाड़ी जाती है।

धर्म एवं त्योहार

मुंडा के पूजा का मुख्य ध्येय है देवियों को प्रसन्न करना जिसमें उनका कल्याण हो। शरत चन्द्र राय ने कहा है कि उनके धर्म को जीववाद कहना धोखा नहीं है तो अपूर्ण अवश्य है। मुंडा सर्व शक्तिमान देवी पर विश्वास करते हैं जिसे वे 'सिंग बोंगा' कहते हैं। 'सिंग बोंगा' दिन का बोधक है और बोंगा देवी का। किसी समय 'सिंग बोंगा' सूर्य भगवान के प्रतिरूप समझे जाते थे। परन्तु मुंडा इसे मानने को सहमत नहीं हैं, वह न तो सूर्य है और न सूर्यलोक में रहता है। वह स्वर्ग में अवश्य रहता है। उसे भोजन की आवश्यकता नहीं है। जब वह मनुष्य को नुकसान पहुँचाता है तो उसका मतलब बुरे कामों के लिये सजा देना रहता है। मुंडा का विश्वास है कि प्रारम्भ में सिंगबोंगा मनुष्य को दर्शन दिया करते थे जब मनुष्य पवित्र थे। परन्तु अब मनुष्य पापी हो गये हैं अतः वे अदृश्य हो गये। एक वही ऐसा देवता है जिसे मुंडा वास्तविक रूप में बिना किसी मतलब के पूजता है। वह सिर्फ सफेद (जो पवित्रता का सूचक है) वस्तुओं के बलिदान को पसन्द करता है। वह प्रत्येक नवीन कार्य एवं सभी बलिदान के पूर्वस्मरण किया जाता है। खाने के पूर्व कुछ अनाज उसके नाम से जमीन पर छोड़ दिया जाता है। वह सर्वोपरि है एवं अन्य देवी-देवताएँ उसके अधीनस्थ हैं। दुर्दिन में सिंग बोंगा की अभ्यर्थना की जाती है।

दूसरे वर्ग में गाँव की देवी आती है जिसे 'हातु बोंगाको' कहते हैं। तब घर की देवी 'ओराबोंगाको' जो परिवार-मृतक-पूर्वज हैं। इसके आशीष की कामना प्रत्येक सामाजिक एवं धार्मिक समारोह पर की जाती है। इसके अतिरिक्त वर्ग में अहितकारी प्रेतात्माएं यथा-चुरीन, माउरा, अपसान्स, हानकर और नासन बोंगा इत्यादि आते हैं, जो अस्वाभाविक मृत्यु से मरे हुए व्यक्तियों के रूह होते हैं। इनको छोड़कर अन्य रूह अथवा प्राकृतिक देवता हैं, यथा बुरूबोंगा, इकिर बोंगा और नामा बोंगा। ये सब उदार प्रेत (मेनीता बोंगा) और ईर्षालु प्रेत (बनीता बोंगा) के बीच के बोंगा हैं, इनका काम लोगों की रक्षा करना है। इसके

अलावे पाँचवें प्रकार की देवी हैं जिनका काम लोगों का उपकार ही करना है। ये परिवार के सदस्यों की रक्षा किया करती हैं। हिन्दू मुंडा बनजातीय पूजा में शामिल नहीं होते हैं यद्यपि कि वे पास की, गाँव की देवियों की पूजा से अपने को दूर नहीं रख सके हैं।

१६ वीं सदी के अन्त में मुंडा के धार्मिक जगत में बहुत बड़ा उथल-पथल हुआ। बिरसा मुंडा या बिरसा भगवान इस नये धर्म के अवतार हुये। इनकी धार्मिक प्रणाली हिन्दू और इसाई धर्म के समिश्रण से बनी हुयी थी। बिरसा को मानने वाले एक ईश्वर को मानते हैं जिसके अवतार स्वयं बिरसा हैं। ये लोग यज्ञोपवीत पहनते हैं। मांस इत्यादि नहीं खाते। बिरसा के नहीं मानने वालों के साथ खाना नहीं खाते हैं तथा गुरुवार को काम नहीं करते हैं।

मुंडा बहुत से त्योहार मनाते हैं जिसमें से बहुत अर्ध धार्मिक रूप के हैं और कृषि के साथ सम्बन्ध रखते हैं। माघी पर्व जनवरी में मनाया जाता है। फागू पर्व हिन्दू के होली पर्व से मिलता-जुलता है। दूसरे दिन सभी लोग शिकार में जाते हैं। सबसे मुख्य पर्व है सरहुल जो चैत महीने में मनाया जाता है। धान बोने और काटने का पर्व होता है। कर्मा और दसाई (दशहरा) पर्व हिन्दुओं से लिया गया है। सोहराई पर्व मवेशियों की रक्षा के लिये कार्तिक महीने में मनाया जाता है और इसके देवता 'गोरिया बोंगा' को बलिदान चढ़ाया जाता है, 'सोसो' बोंगा पर्व हरेक जगह नहीं मनाया जाता है परन्तु जहाँ यह मनाया जाता है वहाँ मति के द्वारा सिंग बोंगा के गीत गाये जाते हैं।

सामाजिक नियंत्रण

बहुत प्राचीन काल से मुंडा के बीच सामाजिक नियंत्रण की व्यवस्था है। युवावस्था के प्रारम्भ से मुंडा सुनता और सीखता है कि उसे क्या करना चाहिए और क्या नहीं करना चाहिए। अनेक प्रकार के निषेध बताये जाते हैं। यदि कोई अज्ञानवश वा जानबूझ कर इनका उल्लंघन करता है तो उसे दैनिक दंड भोगना पड़ता है। चोरी, बलात्कार या अनुचित काम सम्बन्ध यदि सामाजिक दंड विधायक की नजर से बच भी जाय तो उसे दैविक दंड भोगना ही पड़ता है। इनके विपरीत कुछ प्रत्यक्ष सन्मोदन हैं। शिकार करने, मछली पकड़ने, टोकरी बनाने और गाने की चतुराई को बड़ी प्रशंसा की जाती है। जो कोई इस क्षेत्र में निपुण होता है उन लोगों के उदाहरण समाज में अनुकरण के लिये रक्खे जाते हैं। आतिथ्य भी एक गुण समझा जाता है और भोज इत्यादि करने से व्यक्ति का सामाजिक स्थान ऊँचा बन जाता है।

गाँव के कुएँ अथवा अखाड़ा की बातचीत नम्र प्रकार का अप्रत्यक्ष सम्मोदन है। गाँव के प्रत्येक व्यक्ति का व्यवहार गाँव के सभी लोगों की जानकारी का विषय है। पुरुष अथवा स्त्री अपने-अपने व्यवहार का मूल्यांकन गाँव की जनता के प्रभाव से करते हैं। इस तरह गाँव की जनता बहुत अंश में लोगों के व्यवहार पर नियंत्रण रखती है। विशेष प्रकार के अपराध की जाँच-पड़ताल श्रेणीबद्ध पंचों यथा टोला पंचायत, हातू पंचायत, और परहा पंचायत के द्वारा होती है। इनका काम है बनजातीय नियमों का निरीक्षण करना। कबीले के बहिर्विवाही तथा बनजातीय अन्तर्विवाही नियमों का उल्लंघन करनेवाले अपराध की जाँच-पड़ताल इस पंचायत के द्वारा होती है। मार-पीट, खून-खतरा, लूट इत्यादि के अपराध की जांच पड़ताल गाँव की पंचायत करती है। गाँव की पंचायत उत्तराधिकार के प्रश्न, घर की सम्पत्ति का बंटवारा और वैवाहिक सम्बन्ध-विच्छेद के प्रश्नों पर विचार करती है तथा अपराधियों को अपराध के अनुसार सजा देती है। छोटे-छोटे अपराध की सजा में जुर्माना किया जाता है। बड़े अपराधों के लिये सामाजिक निष्कासन स्थायी अथवा अस्थायी हो सकता है। अस्थायी निष्कासन में व्यक्ति को निर्दोषी की क्षतिपूर्ति तथा पंचों को भोज देकर समाज में पुनः स्थान मिल सकता है।

हातू पंचायत के आफिसर होते हैं गाँव के मुखिया जो मुंडा या महतो कहलाते हैं, पाहन या धार्मिक मुखिया तथा कुछ अन्य बुजुर्ग इस पंचायत में रहते हैं। मुंडा को बहुत-सा प्रबन्ध कार्य रहता है जो सरकार अथवा जमींदार के द्वारा मिला रहता है। पुलिस शक्ति भी उनके हाथों में रहती है। गाँव में समुदाय के लिये काम करने के लिये बिना लगान की सेवा भूमि उन्हें मिली रहती है। यही बात पाहन के साथ है जो पंचायत में मदद पहुँचाने के अलावे सरना में गाँव भर की भलाई के लिये बलिदान चढ़ाता है। उसकी मदद के लिये एक सहायक होता है जिसे पूजर अथवा पनभर कहते हैं। पंचायत के अन्य सदस्य शिक्षा अथवा आर्थिक कामना के कारण बुलाये जाते हैं। पाढ़ा पंचायत में बहुत से अधिकार होते हैं। ये आफिसर लोग गाँव वालों से सम्बन्धित रहते हैं जो कई गाँव के संयुक्त पाढ़ा में होता है। भुँईहरी पट्टी और मानकी पट्टी में पाढ़ा पंचायत के कानून अलग-अलग होते हैं। इन आफिसरों का मुखिया पाढ़ा राजा कहलाते हैं। उसे सहायता पहुँचाने के लिये दिवान, कोतवार, पाण्डे, लाल, दरोगा इत्यादि हैं। इन दिनों पाढ़ा आधुनिक ढंग से मुकदमें का फैसला करता है। शपथ का स्थान अभी भी है। जो व्यक्ति शपथ लेता है वह कुछ धान, गाय का गोबर, मिट्टी का ढेला अपने माथा के ऊपर रखकर बोलता है। धान अन्न का द्योतक है, गाय मवेशी

का और मिट्टी जमीन का। झूठ शपथ लेने से अन्न, मवेशी और भूमि की क्षति होगी।

इन दिनों सरकार के द्वारा प्रायोजित पंचायत मुंडा गावों में पायी जाती है। यह सामाजिक बातों में भी हस्तक्षेप करती है। पहले कुछ मुकदमें अदालत में लाये जाते थे। परन्तु वे मुकदमें सरकारी अदालत में लाये जाते थे जिसका इन्साफ पाढ़ा पंचायत में संतोषजनक न होता था। परन्तु अब सरकार द्वारा प्रायोजित पंचायत का महत्व लोग समझने लगे हैं तथा मुकदमों का निर्णय गाँव में ही हो जाया करता है। आधुनिक पंचायत निसंदेह गाँव की एकता एवं परोपकार में सहायक हो चुनाव का मूल सूत्र कई प्रकार से गाँव की कचहरी में प्रतिपादित होता है। भविष्य में ऐसी उम्मीद की जाती है कि इस तरह की व्यवस्था से लोगों का बड़ा ही उपकार होगा।

'हो'

'हो' सिंहभूमि जिले के अन्तर्गत कोलहान नामक स्थान में मुख्य रूप से पाये जाते हैं। कोलहान पहले एक सरकारी रियासत थी। यद्यपि इस जिले के बाहर भी लोग छिट-पुट रूप में पाये जाते हैं, फिर भी कोलहान में इनकी जन-बाहुल्यता का रूप असाधारण कहा जा सकता है। कोलहान प्रकृति की एक विचित्र भूमि है। यहाँ की पहाड़ी नदियाँ बरसाती हैं। बरसात के दिनों को छोड़ कर साल भर इसमें पानी का अभाव रहता है। अस्तु सिंचाई का प्रबन्ध बाँध और तालाब के द्वारा किया जाता है। यहाँ के जंगलों में धब्बे चर्म वाले तथा चतुर्सींग युक्त हिरन, जंगली भैंसा, सांभर, नील, गाय, बाघ, चीता, भालू, हिनस, गीदड़, कारसक तथा अन्य जंगली जानवर प्रचुर संख्या में पाये जाते हैं। साँपों के अतिरिक्त चींटी, मधुमक्खी, हड्डा, बिच्छू, तथा कनरबज्रा यहाँ के प्राकृतिक वैचित्र्य को बढ़ाने वाले जीव हैं। रहस्यमयी प्रकृति जहाँ एक ओर अपनी विचित्रता का प्रदर्शन करती है, वहाँ दूसरी ओर अपने वैभव से सुख की अनुभूति भी कराती है। वस्तुतः कोलहान के खनिज वैभव के प्रलोभन में देशान्तर से बसने वालों ने आकर अकेलेपन को दूर कर दिया है।

'हो' कोलहान के मूल निवासी हैं या नहीं इसका कोई ऐतिहासिक प्रमाण नहीं मिलता। हाँ, मुंडा के साथ उनकी जो कुछ भी भाषा एवं सांस्कृतिक समानताएँ पायी जाती हैं, उससे यह अनुमान किया जा सकता है कि ये दोनों जातियाँ कुछ ही शताब्दी पूर्व एक दूसरे से अलग हुयी थीं फिर भी कोलहान में 'हो' की व्यापकता उनके सांस्कृतिक जीवन में परिवर्तन के स्पष्ट रूप को प्रकट कर देती है। उदाहरणार्थ, लैण्ड टेन्योर की प्रथा 'मुंडा' और 'हो' में एक दूसरे से बिल्कुल भिन्न है।

'हो' के अलावे यहां के मूल निवासी प्रधानतः उड़िया, भूइयाँ तथा ग्वाले हैं। कुम्हार तथा कहार भी कुछ गाँवों में प्राचीन काल से बसे हुये हैं। हो पुरुष और स्त्री के लिये जो निन्दित एवं तिरस्कृत शब्द व्यवहृत हैं वे हैं क्रमशः 'कोल' तथा 'कुई'। और इसी सिलसिले में जिस देश में वे रहते उसे कोलहान कहते हैं।

'हो' का कोई विशेष आकर्षक रूप नहीं होता। उनका कद छोटा, नाक चिपटी और चमड़े का रंग काला होता है। उनकी आँखें छोटी पर काली होती है। उनके

बाल लहरदार से घुंघराले तक होते हैं। दाढ़ी और मुँछें लुप्तप्राय ही रहती हैं। चिबुक संकीर्ण तथा ओष्ठ मध्यमाकार होता है। उनके दाँत बड़े स्वच्छ एवं स्वस्थ होते हैं।

चावल का बने हड़िया बहुत प्राचीन काल से हो का मुख्य भोजन एवं पेय रहा परन्तु अब देशीय शराब का स्वागत कर उनलोगों ने वस्तुतः अपने जीवन की सबसे बड़ी गल्ती की है। कमजोर अस्थि ले जीवन के जिस निम्न धरातल पर वे अवस्थित हुये हैं, वह वस्तुतः अधोपतित मानव संतान के रूप में हमारे समक्ष लड़खड़ाते हुये प्रतीत होते हैं। हम संतोष कर लेते हैं उनकी स्त्री को देखकर जो उनके विपरीत स्वस्थ, सबला, मनमोहनी एवं सुशीला होती है।

वर्त्तमान शासन व्यवस्था के अन्दर आने के पूर्व हो की आन्तरिक शक्ति बहुत कुछ प्रज्वलित थी। उनमें सर्वजन-प्रियता के असाधारण गुण प्रचुर मात्रा में मौजूद थे। कर्नल टिकेल तो उनकी सत्यप्रियता, ईमानदारी, कृतज्ञता तथा उनके प्रमुदित सरल प्रवृत्ति से इतने प्रभावित थे कि वे उन्हें कानूनविहीन देखना पसन्द करेंगे, परन्तु ब्रिटिश राज्य के न्यायालय में जाकर अपने गुण को नष्ट करने के लिए न जाने देंगे। अप्रत्यक्ष शासन व्यवस्था ने बहुत-सी कुरीतियों को जन्म दिया है जिससे हो के बीच बहुत से दुराचार फैल गये हैं। तत्पश्चात् निम्न जातियों से उनके सांस्कृतिक सम्बन्ध ने भी उन्हें बर्बाद कर दिया है। अब उनके सरल स्वाभाविक गुण उनसे दूर होते जा रहे हैं।

गाँव की बनावट :—हो के आदर्श गाँव ऊँची जमीन पर अथवा लहरदार धरातल के बीच पर्वत पृष्ठ पर बसे हुए हैं। अधिकांश गाँव चौरस पर्वत शिखा पर बसे हुए पाये जाते हैं। आधुनिक गाँवों का सृजन अब नदी के किनारे अथवा पहाड़ी झरने के पास नदी के उन्नत घाट में होने लगा है। गाँव की सीमान्त रेखा पर शृंखलाबद्ध पत्थर की पिट्ठिया निश्चल रूप से गड़ी रहती है। पास ही 'ससान' रहता जहाँ कबीले अथवा 'कोली' के पूर्वज तथा वंशज चिर विश्राम लेते रहते हैं। गाँव का इन्हीं दो छोरों पर रहता है। मृतक की इस समाधि पर रक्खे ससान जानेवाले पृथुल प्रस्तर खण्ड निकट के पहाड़ी से लाये जाते हैं जिसमें पारस्परिक सहयोग का परिचय मिल जाता है।

कोलहान का प्रत्येक गाँव दो या दो से अधिक टोले में विभक्त रहता है। ये टोले छोटी तराई अथवा स्वच्छ खुले मैदान, अथवा संकीर्ण रास्ते जिसके दोनों तरफ टोले के अपने-अपने 'ससान' होते हैं, एक दूसरे से अलग रहते हैं। किसी-किसी गाँव में अखरा अथवा नृत्य-भूमि गाँव के बीच रहती है जिसके पूरब और

पश्चिम टोले बसे रहते हैं। कहना न होगा कि कोलहान में ग्राम योजना का बहुत कम महत्त्व है।

घर की बनावट :—हो के गाँव में निर्मित घर को हम तीन श्रेणियों में विभाजित कर सकते हैं। (१) दो अथवा अधिक कमरे वाले उपयुक्त एवं समृद्ध घर, (२) मध्यम आकार के घर जो उतने विस्तृत न होते हुए भी भोजन एवं विश्राम के लिये अलग-अलग कमरे में विभक्त रहते हैं, (३) छोटे कुटीर जो या तो विश्राम एवं भोजन के लिए व्यवहार किये जाते अथवा पशु के रहने के लिये घर का काम करते हैं। हो के घरों में खिड़कियों का सर्वथा अभाव पाया जाता है। भोजन-गृह को ये लोग पवित्र मानते हैं। इनके घर कच्ची दीवाल के बने होते हैं। घर की छावनी विभवानुसार, फूस अथवा खपड़े की बनी होती है। दीवाल रंगीन होती है तथा उसपर सुन्दर चित्रकारी की हुई रहती है। हो रेखा-चित्र की कला में निपुण होते हैं। ये कबूतर पालने के बड़े शौकीन होते अतः प्रत्येक परिवार को कबूतर पालने के लिये लकड़ी के बने पिंजड़े रहते हैं। कोलहान गरीब परिवार को एक ही घर रहता जिसमें वह विश्राम भी करते तथा अनाज भी रखते हैं। भोजन को किसी तरह खुले आँगन में अथवा घर से संलग्न बरामदे पर पका लिया जाता है।

भोजन, वस्त्र एवं आभूषण :—हो सूअर पालते तथा उसका माँस खाते हैं। परन्तु प्राप्त होने से गौ माँस भी खा लेते हैं। जाति और झुंड की सामुदायिक विभिन्नता के साथ-साथ उनमें खान-पान की भी विभिन्नता पायी जाती है। सबसे प्रथम उच्च जाति में 'मुंडा' 'मानकी' तथा उनके कुटुम्ब आते हैं। ये झुंड पाक कला में अन्य निम्न जातियों से अपेक्षाकृत अधिक कुशल हैं और मसाले के विभिन्न उपयोग से परिचित हैं। निम्न श्रेणी के लोग स्वदेशी पाक के पूर्ण विज्ञान को अनाघ्रात रखना चाहते हैं जिसमें वे मसाला के उपयोग को भोजन के लिये आवश्यक नहीं मानते। ये निम्न श्रेणी के लोग प्रजा या रयत कहलाते हैं। वस्तुतः ये दोनों वर्ग अभिरुचि, झुकाव तथा प्रवृत्ति में एक दूसरे से बहुत अधिक भिन्न प्रतीत होते हैं। परन्तु दोनों वर्गों में खाद्य सम्बन्धी दो लक्षण समान रूप से आये हैं। प्रथम दूध तथा इससे बने पदार्थों की ओर अरुचि और दूसरा 'हली' नामक पेय का बड़े पैमाने में प्रयोग। इनके बीच 'हली' का व्यापक उपयोग पेय मात्र न रहकर अब पवित्रता की भी वस्तु मानी जाने लगी है। भोजन व्यवस्था में अकृत्रिमता के साथ संतुलन का अभाव नहीं है। वे वस्तुतः एकबार पूर्ण भोजन

करते, फिर चावल के सड़े घोल, फल तथा शिकार से प्राप्त वस्तुयें तो हैं ही। जिन लोगों पर आधुनिकता की छाप पड़ गयी है वे अब विभिन्न प्रकार के भोजन का उपयोग करने लग गये हैं। कुछ भी हो ये लोग अतिथि के स्वागत में बड़े ही प्रवीण होते हैं। अपने अतिथि को भोजन एवं मनोरंजन से स्वागत करना इनकी बहुत बड़ी विशेषता है। हो अपने को अधिक सजते-धजते नहीं। निम्न जातियाँ जो कोलहान में रहती हैं शायद ही कभी कमर के ऊपर कोई आभूषण रखती हों। जाड़े के दिनों में ऊनी कम्बल अथवा गुदड़े का ओढ़ना तो विवशता ही से होता है। आधुनिक फैशन के प्रभाव में आकर युवकों ने पायजामा पहनना शुरू कर दिया है। स्त्रियाँ भी अच्छी साड़ी, रंगीन ब्लाउज तथा जूती पहनने लगी हैं। वे छाते को कमर से बाँधकर नाचने की कला भी जान गयी हैं। प्राचीन पोशाक में परिवर्त्तन की लहर समस्त कोलहान में फैल गयी है। दूसरी ओर कोलहान के सुधारक संघ स्वदेश प्रिय होने के नाते स्वदेशोत्पन्न पोशाक का समर्थन कर रहे हैं।

हो फूलों के बड़े शौकीन हैं। फूलों की माला तथा फूलों से बने आभूषण अति प्रिय शृंगार हैं। लकड़ी के बने नेकलेस, एक छोटा सा कान रिंग और एक जोड़े बाले किसी युवक के प्रिय आभूषण हो सकते, परन्तु बूढ़े के लिये तो यह अतीत की मात्र कल्पना रह जाती है। स्त्रियाँ सस्ते शीशे की चूड़ियाँ, छोटे से करणहार, प्लास्टिक का बाला अंगूठी और बंधी से संतोष कर लेती हैं। स्थायी आभूषण का जो प्रयोग होता है वह है गोदना। और आभूषण तो टूट जायेंगे, बिक जायेंगे परन्तु शरीर पर का गोदा हुआ यह गोदना कौन छीन ले जायेगा? और यह तो पवित्रता सूचक चिन्ह भी है। इसके न रहने से अशुभ तथा पाप होता है। फिर गाँव के बाजार में जब गोदना गोदने के लिये आता है तो क्यों न गोदा लिया जाय। पुरुष और स्त्री का कोई भेद नहीं। परन्तु डिजाइन तो वही बने बनाये हैं जो पूर्वजों के प्रिय रहे। स्त्रियों के ललाट पर यह शुभ होता है और पुरुषों की छाती पर कल्याणकारक। इस रीति के विरुद्ध जो चले उन्हें अविश्वास की दृष्टि से क्यों न देखा जाय। इन्हीं चिन्हों से व्यक्ति की आत्मा पहचानी जाती है। अस्तु, गोदना की आवश्यकता है।

वास्तुकला :—हो की मर्मज्ञता में कोई संदेह नहीं है परन्तु कला का रूप वहाँ जीवन के एक विचित्र स्रोत से बहता हुआ मालूम पड़ता है। कला का मार्ग अवरुद्ध नहीं कहा जा सकता, हाँ, उत्तरदायित्व के प्रश्न ने उसे जटिल बना रखा है। यह या तो श्रमविभाजन का परिणाम है या सहयोगिता की भावनाओं से प्रेरित

है। एक हो जानता है कि यदि वह चाहे तो मनचाही वस्तु को (टीकरी, रस्सी इत्यादि) बना सकता है, और ऐसा करना उसके लिये प्रचुर आवश्यक भी है; परन्तु वह इसे जानते हुए भी इनकार कर देगा तथा किसी दूसरे के सुपुर्द कर देगा जिसकी वह जीविका है।

कृषि कार्य :—हो की जमीन उर्वरता तथा अनाज के प्रकाशान्तरोनुकूल कई वर्गों में विभक्त है। खेती के लिये कोलहान में इस तरह तीन प्रकार की जमीन पायी जाती है। (१) बेरू, (२) बाड़ी और (३) गोरा। कोई भी आदमी अपनी जमीन को स्वेच्छानुसार नहीं बेच सकता। जमीन खानदानी तथा अविच्छिन्न होती है। अतः किसी व्यक्ति की जमीन उस व्यक्ति के पुत्र तथा पौत्र की होगी। यद्यपि हिन्दू की कानून पद्धति से उनका कोई विरोध सम्बन्ध नहीं है, फिर भी उनकी पहुँच 'दायभाग' से अधिक मिताक्षरा के साथ प्रतीत होती है।

हो जमीन की उर्वरता को खाद्य के माध्म में पुनः प्राप्त कराने की आवश्यकता को जानते हैं। खेत में जैसे हो पौधे ६-७ इंच के हो जाते हैं, वैसे ही पहलीबार हल के द्वारा तथा दूसरी बार हाथ से घास पात सफाई कर दी जाती है।

वस्तुतः हो के आर्थिक जीवन का आधार खेती ही है। समस्त देश में मेले लगते हैं जो कोलहान के कृषकों का रोचक विनोद केन्द्र होते हैं। इन मेलों के अलावे साप्ताहिक बाजार भी लगते हैं। शिकार और मछली पकड़ना इनके जीवन के सूनेपन को दूर करने के सबसे उत्तम साधन हैं।

उद्योग और पारस्परिक सहयोगिता :—इनके आर्थिक और सामाजिक जीवन में विश्लेषणात्मक शक्तियों के रहने के बावजूद आज भी उनके दैनिक जीवन में आदान-प्रदान की सहयोगिता प्रमुख वस्तु बनी हुई है। उदाहरणार्थ हो अपनी खेत जोतने बोने के लिये एक साथ हल का व्यवहार कर सकते हैं, परन्तु इस काम में वे अपने ग्रामीण की सहायता लिये बिना रह नहीं सकते। स्त्रियाँ भी इसी तरह झुंड बनाती हैं तथा एक दूसरे के जीवन निर्वाह में पारस्परिक सहयोग देती हैं। मछली पकड़ने का काम भी समुदाय से होता है। मर्द, स्त्री और बच्चे इसमें एक चाव से भाग लेते हैं। ये सब मछली को एकत्रित करना तथा उसे सड़ने से सुरक्षित रखने का काम बड़ी सावधानी से करना जानते हैं। सूखी मछलियाँ हो की प्रिय खाद्य वस्तु हैं।

द्रव्य और विनिमय—परिश्रमिक को द्रव्य के रूप में चुकाना हो के बीच प्रचलित नहीं है। उसके बीच पारिश्रमिक देने की विधि ने वितरण के कार्य-क्रम

को अव्यवस्थित बना दिया है जो मुख्यतः वस्तु से वस्तु का प्रत्यक्ष विनिमय के सिलसिले में लेन-देन के आधार परवेष्ठित है। आज मजदूर को द्रव्य के रूप में जो मजदूरी मिलती है वह वस्तुतः अभिशाप रूप ही है। वे उस द्रव्य की उपयोगिता आवश्यक व्यवस्थाओं को छोड़कर मधुशाला के प्याले में उड़ेल देते हैं। और यही कारण है कि आज उनका स्वास्थ्य चिन्तनीय बन गया है।

सामाजिक संघटन—हो जन जाति कई कबीलों में विभक्त है। इन कबीलों का नाम किसी भौतिक वस्तु के नाम पर होता है। पशु-पक्षी तथा पौधों के नाम पर ही बहुधा इनका नाम करण होता है। इन सबों को टोटेमिक (या इष्ट चिह्न) कहा जाता है। विवाह सम्बन्ध के जो दो मुख्य विचारणीय प्रश्न हैं उनमें वस्तुतः कीली का प्रतिबन्ध तथा वहिर्गोत्रीय का कानून सर्व प्रथम आते हैं। यह वस्तुतः उनके वैवाहिक सम्बन्ध की आधार भूत शिला होती है।

इनके बीच टोटेमिक वस्तुओं के विषय में प्रचलित विश्वास का अन्दाज उनकी टोटेमिक वस्तुओं की सहायता की मान्यता अथवा पाधों के द्वारा लोगों की निर्देशित होने की कल्पना से लगाया जा सकता है। इसके अतिरिक्त टोटेमिक वस्तुओं का कबीले के लोकपाल होने की भावना इस विश्वास की जड़ को और मजबूत बना देती है।

यह सत्य है कि वंशनामे हो के लिये एक समर्पित समुदाय की निर्देशिका के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। इनके बीच जो एकमात्र प्रतिबंध माना जाता है वह वस्तुतः यही है कि एक वंश के लोग आपस में विवाह नहीं करते। कीली वहिर्गोत्रीय नियम को छोड़कर कई व्यावहारिक प्रतिबन्ध भी है यथा समुदाय के बाहर विवाह करने के लिये कोई निषेध नहीं, परन्तु लोग सम्बन्ध व्यवस्था सीमा के अन्दर ही करना पसन्द करते हैं। यह उनका व्यावहारिक प्रतिबन्ध कहा जायगा।

परिवार—जिस परिवार में यह रहते हैं उसकी सामाजिक व्यवस्था का धरातल कीली या सेप्त है। कीली के स्वरूप का 'सिब' या गोत्र से बहुत कुछ साम्य है। कीली के सभी सदस्य एक दूसरे से सम्बन्ध के प्रबन्ध में बंधे रहते हैं। जब किसी गाँव में एक से अधिक कीली रहते हैं तो सामाजिक उद्यम में गाँव का प्रमुख उत्साही कीली के अधीनस्थ होता है। आर्थिक उद्यम में जब समस्त गाँव के लोग लगे रहते हैं, गाँव के बड़े बूढ़े का अधिकार सबसे महत एवं मान्य समझा जाता है। मुख्यतः कीली एक सामाजिक और राजनैतिक इकाई है।

अतः हो तीन प्रकार के सामाजिक समूह से परिचित हैं। पहला तो वह एक परिवार का सदस्य है तथा तत्सम्बन्धी कर्त्तव्य और अधिकार का भागी है। दूसरा वह कीली का सदस्य है तथा उसके नियमों से वह आवद्ध है। तीसरा वह 'हातु' का सदस्य है जिसके ऊपर उसका अधिकार एवं उत्तरदायित्व है। बाहर से देखनेवाले को ऐसा प्रतीत होता है कि हो का गाँव—राजनैतिक एवं सामाजिक एकांग है। परिवार के सदस्यों के साथ सुकुमार शैशव भावनाओं का प्रतिभू व्यक्ति की रक्षा एवं पोषिक प्रक्रिया के नियंत्रण के आधार पर निर्भर करता है। यह वस्तुतः हो के बीच नित्य प्रति के 'आडिंग' में स्थापित कीली पूर्वजों की पूजा से और भी स्पष्ट हो जाता है। कीली बहुधा गांव से अधिक प्रभावशाली होता और धर्म एवं सामाजिक सम्बन्ध में हो अपने 'कीली कोड' के अत्यन्त भक्त एवं विश्वसनीय होते हैं। 'कील' और 'हातू' के बीच का व्यापक सम्बन्ध प्रत्येक गाँव के अन्दर आर्थिक निर्भरता की माप, प्रामीण मुंडा द्वारा प्रतिपादित राजनैतिक अधिकार के स्वरूप तथा साथ-साथ स्थापित क्षेत्र में जनसंख्या की बनावट के सम्बन्धित माप पर निर्भर करता है।

स्त्रियों का स्थान :—कोलहन में स्त्री-पुरुष के बीच श्रमविभाजन का सिद्धान्त वस्तुतः स्पष्ट नहीं है। साधारणतया उद्योगी (तीव्र) उत्तेजित तथा अवसर दुःसाध्य कार्य पुरुषों के माथे रहता है और जहां तक धैर्य तथा नीरस कार्यों का प्रश्न है वे सब स्त्रियों के माथे मढ़े जाते हैं। वस्तुतः आर्थिक व्यवसाय पुरुष के द्वारा होता और इसमें स्त्रियाँ उनकी मात्र सहयोगिनी रहती हैं। जब पुरुष कोई नीरस कार्य करने में अपने सूनेपन को प्रकट करता है तो स्त्रियाँ बहुधा उसमें हाथ बटाकर उनके मन के बोझ को हल्का कर देती हैं। पुरुष स्त्रियों से इस तरह अधिक अवकाश का आनन्द उठाते हैं। परन्तु पुरुषों की कर्मक्षेत्र से भागने की इस प्रवृत्ति ने उन्हें आलसी बना दिया है। जबतक ये स्त्रियों के परिश्रम पर मौज करना पसन्द करते रहेंगे, तबतक तो वे उनके मुंहताज होने की समस्या से भी संतुष्ट रहेंगे।

स्त्रियाँ जो कुछ भी अधिकार पाती हैं वह वस्तुतः अपने कठिन परिश्रम, नौकरी तथा सहनशीलता के लिये ही। चूंकि वे गृह-कार्य के लिये आवश्यक हैं, अतः उन्हें कुछ प्रोत्साहन देना नीति होगी। आज कोलहान में यद्यपि आर्थिक प्रतिबन्ध कोई विशिष्ट प्रथा नहीं है, फिर भी स्त्री या पुरुष स्वच्छन्दतापूर्वक अपने-अपने निश्चित कार्य को आपस में अदल-बदल नहीं कर सकते। कोलहान में स्त्रियों की आर्थिक स्वतंत्रता उनके सामाजिक पुनरुत्थान का कारण बनने में मदद नहीं दे सकती। वह पारिवारिक सहयोगिनी के बावजूद भी एक परिश्रम करने

घाली दासी, बच्चा पैदा करने की मशीन तथा मात्र स्त्री के और कुछ भी नहीं समझी जाती है।

जीवन-चक्र

(अ) बचपन—चूँकि 'हो' बीसी अथवा आठ दिन की पवित्रता मनाते हैं, अतः अलग रहने की अवधि में स्वामी को ही सूतिका गृह के एक कोने में भोजन पकाना पड़ता है। इस अवधि में आडिंग, रसोईघर के चलते वर्जित रहता है। यह कोठरी या झोपड़ी इस काम के लिये कुछ हफ्ता पहले ही स्वामी द्वारा बनाई जाती है। जलती आग, लोहे के औजार, काटेदार झाड़ियाँ, घर के बाहर जादूई सोटा या छड़ी ये सब बच्चे और बच्चे की माँ को बुरी नजर से बचाने के लिये रखे जाते हैं। कौड़ी, गुनारी या पीपल की डाल प्रायः उर्वरता के चिह्न हैं। ये सभी चीजें बच्चे की माँ और होने वाले बच्चे के निरापद होने के लिये रखी जाती है इससे इसका यह अर्थ नहीं कि शिशु की मृत्यु नहीं होती है या बहुत कम होती है। लेकिन जाति का विश्वास है कि मानव शक्ति सीमित है और लाख कोशिशों के बावजूद भी दुर्घटनायें हो ही जाती हैं।

हो जाति में तीन प्रकार की अनियमित प्रसव पीड़ा होती है : (१) गर्भपात (२) अपरिपक्व प्रसव-पीड़ा और शिशु जन्म तथा (३) असह्य प्रसव पीड़ा और माँस का सिकुड़न। इन सबों के लिये हो जाति में अपनी प्राकृतिक औषधियाँ हैं।

जब प्रसव पीड़ा प्रारम्भ होती है, स्वामी किसी विधवा को धाई के रूप में ले आता है जिसे कुछ मामूली शुल्क देना पड़ता है। धाई अब आवश्यक नहीं समझी जाती है क्योंकि स्वामी को स्वयं स्त्री-सम्बन्धी आवश्यक पड़ने पर मदद करनी पड़ती है। जब बच्चा जन्म लेता है तब माँ उसे ले लेती और धाई अथवा बच्चा का पिता मकई के तीक्ष्ण पौधे से नाभी को काटता है। नवजात शिशु का शरीर साफ कपड़े से पोछ दिया जाता है तथा अन्य सफाई कर दी जाती है। नाभी इत्यादि तुरन्त ही नहीं गाड़ दी जाती है किन्तु मिट्टी के नये बर्त्तन में दो दिन तक रखी जाती है। यदि बच्चों में बिमार होने के लक्षण नहीं दिखलाई पड़ते तो घर के आँगन में बहुत नीचे गाड़ दी जाती है।

जन्म के बाद ही पिता जल गरम करता है और शिशु को उससे अच्छी तरह धो दिया जाता है। तत्पश्चात धाई कटोरे में तेल लेती है और उसे गर्म कर बच्चे के शरीर में मालिश करती है। जन्म के पहले दिन में माँ को

'लेन्टिल' का झोल और पिता को इलिया के कुछ पुलिये दिये जाते हैं। शिशु का जन्म परिवार के लिये आनन्ददायक होता है और यह खबर जल्द ही सारे गाँव में फैल जाती है। कीली और गाँव के वृद्ध आते हैं और दम्पत्ति को बधाइयां देते हैं।

बच्चे का नामकरण एक महत्वपूर्ण अवसर होता है। देहरी ही इस काम के लिये शुभ दिन चुनता है और वह दिन भोज और आनन्द में बिताया जाता है। यह २६ वें दिन पर मनाया जाता है। किसी व्यक्ति के लिये बच्चा का साखी बनना आम बात है। साखी उत्सव नामकरण के साथ मनाया जा सकता है या नहीं भी मनाया जा सकता है। हो जाति में साधारणतः बच्चा को मृत सम्बन्धी का नाम दिया जाता है, लेकिन साखी जीवित सम्बन्धी या ग्रामीण या मित्र होता है। आजकल हो बच्चों के नाम में भी पैतृक विचित्रता नहीं होती है। साखी व्यवहार भी शायद आर्थिक कारणों के चलते अपनी जन-प्रियता खो चुका है। साखी पर बच्चा ही हर प्रकार से सहायता करने का बन्धन हो जाता है—बीमारी में, कष्ट में गरीबी में और मित्रता में—यह आजीवन और बलवान होती है।

प्रारम्भिक शिक्षा और सभ्यता अधिकांशतः बच्चे तैरना जानते हैं। सात-आठ वर्ष की अवस्था प्राप्त करते-करते हो बालक साधारणतः मछली मारने, चिड़िया पकड़ने, तैरने, खेत जोतने, रोपने-काटने तथा अन्न तैयार करने के काम सीख लेते हैं। हो बालिका सबेरे उठकर घर के सामने की दालान को बुहारती है तथा अपने छोटे भाई-बहन को लिये फिरती रहती है जब तक कि उसकी माँ घर लीपती-पोतती, वर्त्तन साफ करती, पानी लाती तथा परिवार में सबों को भोजन खिलाती है। शिष्टता की शिक्षा बच्चे अपने माता-पिता ही से पाते हैं।

यद्यपि हो लड़के युवावस्था में अपना जातीय धंधा सीखते हैं, परन्तु उन्हें अब रोटी के लिये पसीने नहीं बहाने पड़ते। वस्तुतः दस वर्ष से लेकर बापला उत्सव तक उनका जीवन अत्यन्त सुलभ एवं विनोदमय होता है। जबतक उनके माता-पिता जिन्दे हैं तबतक उन्हें अन्न-वस्त्र की कोई चिन्ता नहीं रहती।

खेल और नाच के अवसर पर युवकों की शिष्टता का परिचय मिलता है जो लड़के और लड़कियां जातीय शिष्टता को अथवा बड़े की आज्ञा को अवज्ञा के कान से सुनते हैं उन्हें इस नाच और खेल में भाग लेने नहीं दिया जाता है।

उनके खेल—हो बहुत प्रकार के खेलों से परिचित हैं जिसमें से अब बहुत अप्रिय हो रहे हैं। प्रत्येक हो गाँव में प्रभात और संध्या को जीवन का नूतन

वसन्त आता है। अखाड़े की रंग-भूमि में सहयोगिता और चतुराई की लहरें उद्वेलित होती रहती हैं। कुछ खेल तो ऐसे हैं जिनमें बच्चे अपने बुजुर्गों के उत्पादक कार्य-क्रम का अनुकरण करते हैं तथा कुछ खेल तो ऐसे हैं जिनके द्वारा पशुओं के कार्य-कलापों तथा उनकी बोल-चाल सीखते हैं।

दौड़ना, तैरना, पेड़ पर चढ़ना तथा गाँव के किसी व्यक्ति के द्वारा किये गये नाच की कला का अनुकरण करना, इत्यादि उनके प्रिय खेल हैं। सांड़ गर्जन तथा अंधा थोपी तो शरारती बच्चे के अतिप्रिय खेल हैं जो कभी-कभी शोर मचाकर बड़े-बूढ़े की भी नाक में दम कर देते हैं। बड़े लड़के गोली अथवा कौड़ी भांजना खेल सकते हैं परन्तु वे छोटे बच्चे के साथ मिलजुल नहीं सकते।

(आ) विवाह-विधान

हो मिलन को आवश्यक समझते हैं। प्राणीमात्र में इस मिलन की आवश्यकता को महसूस करते हैं। यहाँ तक कि वे लोग निर्जीव पदार्थ को भी अविवाहित न रहने देते। इस प्रकार वृक्ष के विवाह तथा अन्य प्राकृतिक वस्तुओं के जैसे सूरज, चाँद और पृथ्वी के विवाह की प्रथा समस्त कोलहान में प्रचलित है। जब साल के वृक्ष फूलों से लद जाते हैं तो धरती पुष्पहार से सुसज्जित हो दुल्हन सी अपने प्रेरणात्मक सूरज से जिससे उसको जीवन-शक्ति मिलती है, प्रणय की याचना करती सी मालूम पड़ती है। देवरी या पुरोहित सूरज का अभिनय करता है और उसकी पत्नी पृथ्वी का। इस तरह यह ईश्वरीय विवाह प्रतिवर्ष पार्थिव विवाह का घूंघट उठा देता है।

हो का यौन-जीवन पूर्ण संयमित रहता है। विवाह के वैधिक कानून के कारण वर्ष के कुछ निश्चित समय तक यौन प्रत्यक्ष रूप से नियंत्रित रहता है। गृहस्ती के व्यस्त दिनों में हो घर में यौन सम्बन्ध वर्जित रखते हैं। जब वे शिकार में या मछली पकड़ने के लिये बाहर जाते हैं तो यौन वर्जित रक्खा जाता है।

यों तो साधारणतः लोग गाँव के बाहर विवाह का सम्बन्ध खोजते हैं, परन्तु असफल होने पर गाँव में भी वैवाहिक सम्बन्ध किया जा सकता है। हो अपनी बिरादरी के बाहर शादी नहीं करता परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि उनको ऐसा करने में किसी सामाजिक विधान की रुकावट है। कोई भी आदमी पीर के अथवा एक निश्चित दूरी के अन्दर विवाह करता है। जब कोई आदमी आन्दी प्रकार की शादी करता है तो उसके बच्चे साधारणतः उसके ससुर के परिवार अथवा कीली में व्याहे जाते हैं।

जब किसी स्त्री का पति मर जाता है और वह शिशु विहीन है तो ऐसी अवस्था में वह अपने मृतक पति के छोटे भाई से शादी कर सकती है। परन्तु यदि पत्नी के बच्चे नहीं होते तो उसकी छोटी बहन से शादी करना आजकल स्वीकृत नहीं है। परन्तु आर्थिक दृष्टिकोण से पत्नी की बहन को पाना यदाकदा ही होता है। पति को लेकर दो बहनों के बीच का सम्बन्ध शायद ही कटु हो। जब कि कोलहान में यह बहुत साधारण बात है कि दो स्त्रियाँ पति के घर में प्रेमपूर्वक एक साथ सोया करती है। हो साधारणतः अपने से बड़ी उम्रवाली स्त्री के साथ शादी करते हैं। विधवाओं को विवाह करने का अधिकार है परन्तु वे बहुधा विधुर के साथ विवाह करती है।

हो अपनी माता के भाई की लड़की तथा पिता की बहन की लड़की से विवाह कर सकता है। कहीं-कहीं माता की बहन तथा विधवा मौसी के साथ भी विवाह करने का प्रचलन दृष्टिगोचर होता है। परन्तु पिता की बहन की लड़की अथवा अपनी बहन की लड़की से विवाह करने का प्रचार अधिक नहीं है। बहिर्गोत्रीय वैवाहिक सम्बन्ध के कानून का बड़ी सावधानी से अनुकरण किया जाता है।

पत्नी प्राप्त करने के लिये हो के बीच कई प्रथायें हैं जिनमें (१) अंदी (२) दिक्कू अंडी (३) अपोरटुपी (४) राजी खुशी और (५) अनादर मुख्य हैं। प्रथम में व्यावहारिक विधि बहुत ही आवश्यक है, परन्तु अन्य में इसका उतना महत्व नहीं है। फिर भी आज गोनोंङ की आर्थिक कठिनाइयों के फलस्वरूप अब विधिवत विवाह तथा अंदी की प्रथा का क्रमिक लोप हो रहा है। समृद्ध परिवार भी अब अपोरटुपी तथा राजीखुशी के मिलन को अपनाने लगे हैं। इस दशा में गोनोंङ यदि दिया भी जाता है तो मिलने के बाद।

अंदी में विवाह का निर्णय वर-वधू के माता-पिता के द्वारा होता है। एक घटक तथा "दुतम" सम्बन्ध को पक्का करने के लिये चुने जाते हैं, फिर 'कन्या मूल्य' का निर्धारण होता है। इस अवसर पर गाँव के मुखिया तथा सखियों की अनुमति ली जाती है। विवाह वयस्क होने के बाद किया जाता है जिसमें लड़की की उम्र १८-२० और लड़के की उम्र साधारणतः २४ वर्ष की रहती है।

दिक्कू आंदी में भी विधिवत व्यवहार का अनुकरण किया जाता है जिसमें देवरी का स्थान मुख्य रहता है। इसमें एक ब्राह्मण बुलाये जाते हैं जो अपने साथ शालिग्राम शिला लाते हैं। उस शालिग्राम शिला के समक्ष दम्पति अखंड प्रेम एवं

विश्वास को निभाने की प्रतिज्ञा करते हैं। दुल्हा लोहे की छुरी लेकर दुल्हन के चारों तरफ सात बार घूमता है और उसके माथ में सिन्दूर लेप देता है। फिर दुल्हन भी उसके माथे पर सिन्दूर लगा देती है। हो के बीच जब तक लड़की की शादी का वर्त्तालाप वर पक्ष द्वारा नहीं लाया जाता तबतक अपनी लड़की के वैवाहिक भविष्य का जिक्र करना सभ्यता के विरुद्ध समझा जाता है।

बहुत से अपौरुषी विवाह न हो पाते यदि लड़की अपने घर में प्रसन्न रहती। कोई भी लड़की बलात्कार से दूसरे कीली में लायी जाय तो सामाजिक कलंक का शिकार नहीं बनती। ९९ प्रतिशत बलात्कार विवाह का अर्थ चिर मिलन पाया गया है। विवाह में सबसे महत्वपूर्ण वस्तु है सिन्दूर का लेप, अन्य क्रिया अप्रधान हैं।

राजीखुशी परस्पर विचार एवं प्रेम के फलस्वरूप है जिसमें दुल्हन का मूल्य नहीं चुकाना पड़ता। युवक और युवती जब एक दूसरे से प्रगाढ़ प्रेम में बन्ध जाते तथा एक दूसरे से विवाह करने को राजी हो जाते हैं परन्तु यदि उनके माता-पिता इसपर अनिच्छा प्रगट करते हैं तो वे दोनों चुपके से निकल भागते और तबतक नहीं लौटते जबतक कि उनके माता-पिता अपने विचार में परिवर्त्तन न लावें।

अनादर प्रथा में लड़की जबरदस्ती अपने प्रिय के घर जाकर रहने लगती है जहाँ वह अपने को पति प्रेम की वेदी पर तिरस्कार एवं भर्त्सना सहकर सारे अरमान और सुख की आहुति दे देती है।

वृद्धावस्था की आधि-व्याधि और चिकित्सा :

आधि-व्याधि मनुष्य को प्रत्येक अवस्था में लगी ही रहती हैं परन्तु वृद्धावस्था के पहुँचने पर यह और भी प्रमुख रूप धारण कर लेती हैं। हो का विश्वास है कि आर्थिक कठिनाइयों की तरह शारीरिक अस्वस्थता, व्याधियाँ अथवा मृत्यु भी बोंगाओं के हस्तक्षेप के फलस्वरूप होती हैं। और ये जादूगरों या डायनों के जादू या आप-से-आप उनकी सम्पत्ति या शरीर को हानि पहुँचाने के लिये आ जाती हैं। डायनों का भी, जिनकी संख्या बहुत रहती है, उन्हें बहुत डर होता है।

बीमारी या मृत्यु डायनों की दुष्टता से होती है। इसलिये बोंगा या दूसरे दयालु देवताओं को बलिदान देने से ही इनका निवारण होता है। परन्तु अब बाहरी दुनियां के संसर्ग से उनलोगों में ऐसी चेतना आ रही है जिसमें वे बीमारियों को प्राकृतिक कारण समझने लगे हैं। इनकी चिकित्सा देहाती चिकित्सा पद्धति के अनुसार होती है। उन्हें बहुत-सी जड़ी-बूटियों की सार्थकता पर परम्परा ज्ञान होता जो एक पीढ़ी दूसरी पीढ़ी को दे जाती है।

हर बीमारी में हो देवनवा की सलाह लेते हैं। उनकी हर बीमारी की चिकित्सा का सिलसिला होता है। वह बीमारी के लक्षण का अध्ययन कर तथा देखकर ही जान सकता है कि बीमारी का कारण प्रेतों का उपद्रव या डायन और जादूगर की करामात या कोई प्राकृतिक कारण है। रोगी के पेशाब पर उनकी प्रतिक्रियाओं का अध्ययन किया जाता है और इससे बीमारी का पता लगता है। जब उसकी चिकित्सा असफल हो जाती है तो वह ईश्वरीय शक्ति की मदद लेता है।

जब देवनवा को पूजा या स्वप्न में बीमारी के कारण का पता मिलता है तो असन्तुष्ट बोंगा को संतुष्ट करने की पक्रिया का भी ज्ञान प्राप्त हो जाता है। हर हालत में बलिदान आवश्यक है। पशु का रक्त, सिर, पिल्ही और फेफड़ा बोंगा को चढ़ाया जाता है। चिकित्सा असफल होने पर देवनवा जीवितों को आगाह कर देता है कि प्रेत का क्रोध अभीतक शांत नहीं हुआ है और परिवार के दूसरे सदस्य भी इसके शिकार हो सकते हैं। रोगी की मृत्यु के पश्चात भी बलिदान दिये जाते हैं। पूजा उत्सव का मृत्यु के बाद ही अन्त नहीं होता। मृत्यु का कारण, मृत्यु के बाद रोआ या आत्मा जो रूप लेता है उसका पता रोआ अदर उत्सव में लगाया जाता है।

इस तरह हो के लिये बीमारियाँ डायनों या जादूगरों तथा दुष्ट प्रेतों के चलते भी होती हैं। बीमारी या मृत्यु लाने वाली शक्ति तीन तरह की हैं। (१) बोंगा जो निराकार होते हैं। (२) डायन और जादूगर जो बांझ, बूढ़ी और कुरूप औरतें या वे व्यक्ति जिनका रहन-सहन आश्चर्यजनक रहस्यमय होता है। (३) देवनवा जो डायन चिकित्सक होते हैं।

शुद्ध कार्य—लाश को गाड़ना और जलाना दोनों प्रथायें हो के बीच प्रचलित हैं। उच्च श्रेणी के मनुष्य लाश को जलाते हैं और निम्न वर्ग के मनुष्य लाश को गाड़ते हैं इससे पता चलता है कि लाश को गाड़ने का रिवाज सब से पुराना है। लेकिन जिनकी अप्राकृतिक मृत्यु होती है यथा चेचक, कुष्ट या बगिया बोंगा के चलते उनकी लाश गाड़ी जाती है।

साधारणतः हो ताड़, साली और एडेल पेड़ की लकड़ी व्यवहार करते हैं। इन पेड़ों के अभाव में पीपल, करैया और सखुआ पेड़ व्यवहार में लाये जा सकते हैं। अन्य आर्थिक क्रियाओं की तरह मृत्यु या श्राद्धक्रिया में एक गांव का दूसरे गांव से सहयोग अभी भी शक्तिशाली लक्षण है। अर्थी कोली के सदस्यों के द्वारा बनाई जाती है। हो जाति में यह रिवाज है कि मृत मनुष्य की कीली के सभी

सदस्य तथा अन्य गाँव के सम्बन्धी और मित्र चावल, इली, नये कपड़े और द्रव्य का उपहार लेकर मृत्यु का समाचार सुनते ही आते हैं ।

आजकल पुनर्जन्म में विश्वास अस्पष्ट हो गया है और कुछ मनुष्य ऐसे हैं जो पुनर्जन्म पर विश्वास नहीं करते । हो के नाम इस बात के सबूत हैं कि उनमें पुनर्जन्म पर परम्परागत विश्वास है । पितामह मृत्यु के बाद पौत्र के रूप में जन्म लेता है और बच्चों के नाम परिवार में मृत मनुष्यों के मृत्यु क्रम में रखे जाते हैं ।

धर्म और त्योहार :—क्रिश्चियन मीशन और हिन्दू पड़ोसियों के सांस्कृतिक समागम के कारण हो के धार्मिक विचारों का विश्लेषण करना असम्भव है । इससे उनकी संस्कृति में बहुत मिलावट आ गयी है ।

हो और संथालों ने क्रिश्चियन मिशनरियों की सहायता अपने आर्थिक विकास के लिए आवश्यक नहीं समझी । कोलहान के उच्च वर्गों में हिन्दुत्व की तरफ और ईसाई धर्म के विरुद्ध प्रवृत्ति है । हाल तक ईसाई धर्म मानने वालों से लोग घृणा करते थे । इसलिये आगे धर्म परिवर्तन की सम्भावना नहीं है ।

सूर्य, चन्द्रमा 'नदी' पहाड़ हो के मुख्य बोंगा हैं । देसौली मुंडा और हो दोनों का ग्राम्य देवता है । सिंग बोंगा हो का मुख्य देवता है क्योंकि उसी ने उन्हें पैदा किया । नागे बोंगा अथवा नदी देवी बहुत संवेदनशील बोंगा है । कोलहान के कुछ हिस्सों में वह सिंग बोंगा को स्त्री समझी जाती है । देसौली साधारण उपकारी और दयालु देवता समझा जाता है । देसौली पानी देता है, तूफान को रोकता है और फसल देता है । मरंगबुरु भी हो का पुराना देवता है ।

विदेशी देवताओं के अपनाने से हो के अपने देवता पृष्ठभूमि में चले गये हैं । देवरी और डेयोनवा का अन्तर महत्वपूर्ण है । गाँव में एक से अधिक डेयोनवा हो सकते हैं । लेकिन देवरी एक ही होता है । देवरी सिर्फ दयालु देवताओं की पूजा करता है लेकिन डेयोनवा को हजारों प्रेतों से ताल्लुक रहता है ।

बोंगा को हो एक शक्ति समझते हैं जो पौधों में जान देता, वर्षा देता है ।

त्योहार :—बहुत दिनों से इनके बीच हिन्दू बनाने का कार्य चल रहा है और ये हिन्दू के बहुत से उत्सव भी मनाते हैं लेकिन उनके अपने भी बहुत से पर्व मनाये जाते हैं । आधुनिकता के रंग में आकर एक हो सोच सकता है कि विवाह जन्म और मृत्यु के अवसर पर मनाये जाने वाले पर्व उत्सव अनावश्यक है फिर भी उनके नहीं मनाने से उनमें भारी भय का संचार होता है । अतः

कोलहान में आज पर्व त्यौहार मुख्यतः परम्परागत नियमों तथा उपयोगिता के ध्येय से मनाये जाते हैं।

हो सात पर्व मनाते हैं। इनका सम्बन्ध उनके कृषि जीवन से है और इसलिये उनका समय और ऋतु कृषि की आवश्यकताओं के अनुसार निर्धारित होते हैं। नीचे लिखे पर्व इनके द्वारा मनाये जाते हैं। (१) माघी (२) बाहा (३) डमुरी (४) होरो (५) जोमनना (६) कोलोम (७) बतौली। छठ, दिवाली, दसहरा और चैत पर्व भी मनाये जाते हैं। चैत पर्व में महादेव पूजा, हेमना में लक्ष्मी पूजा, दीवाली में काली या श्यामा पूजा हो के बीच जनप्रिय हो रही है।

अधिकांश पर्व कृषि से सम्बन्धित होते हैं और खेत की उर्वरता को बढ़ाने के लिए तथा उपज को प्राकृतिक तथा दैवी आफतों से बचाने के लिये मनाये जाते हैं। इन पर्वों का ध्येय दूसरी कृषि जातियों के क्रिया की तरह होता है। लेकिन पूजा करने का तरीका तथा भाग लेने की विधि अजीब होती है। ये पर्व इस तरह से ठीक किये जाते हैं कि कृषक अपना ध्यान दुर्द्धर्ष अवस्था पर एकाग्र कर सकें। कुछ पर्व खेत जोतने और बीज बोने के पूर्व मनाये जाते हैं और कुछ फसल कटने के बाद। उत्सव मनाने की कोई नियत तिथि नहीं होती, अपितु यह ग्रामीणों की आर्थिक दशा तथा कृषि की आवश्यकताओं पर निर्भर करती है। हो का खास पर्व होता है माघी जो जनवरी या फरवरी में मनाया जाता है। निस्संदेह इस पर्व में युवक युवतियों का प्रेम पूर्ण दुस्साहस करने का तथा ग्रामीणों को शराब पीने का अवसर मिलता है। जीवन साथी चुनने का भी सुअवसर इसमें मिलता है जो परम्परागत वैवाहिक सीमा तक कन्या मूल्य की अधिकता की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। गीत जिन्हें माघीराग कहते हैं, मुख्यतः प्रेमोत्पादक होते हैं। माघी पर्व की धार्मिकता उसके सामाजिक पहलू से कम महत्वपूर्ण नहीं है। पाँच दिनों की वृहत् पूजा से ही उत्सव की पवित्रता का पता लगता है।

खड़िया

खड़िया बिहार की प्रमुख जन-जातियों में से एक है। बिहार के अतिरिक्त इसकी एक बड़ी आबादी उड़ीसा और मध्यप्रदेश में भी है। रांची जिला के अन्तर्गत इसकी आबादी गुमला और सिमडेगा सबडिविजन में केन्द्रित है। इनकी कुछ आबादी सिंहभूम और मानभूम जिले में भी है। साधारणतः खड़िया तीन प्रकार के होते हैं : पहाड़ी खड़िया, दुध खड़िया और ढ़ेलकी खाड़िया।

ग्राम संगठन :—खड़िया के गाँव की बनावट उनके जातीय विभाजन पर निर्भर करती है। पहाड़ पर रहने वाले खड़िया का छोटा-छोटा निवास-स्थान होता है जहाँ चार से एक दर्जन तक झोपड़ियाँ पहाड़ी ढलाव पर बिखरी हुई पायी जाती हैं। दुध और ढ़ेलकी खड़िया का निश्चित गाँव होता है. जिसमें ५० और १०० के बीच झोपड़ियाँ होती हैं। परन्तु पहाड़ पर रहने वाले खड़िया के गाँव अस्थायी होते हैं। रोग के प्रकोप, भूमि की उपज में कमी अथवा अन्य सामाजिक एवं आर्थिक कठिनाइयों के कारण वे एक जगह को छोड़कर दूसरी जगह चले जाते हैं। प्रत्येक दुध और ढ़ेलकी खड़िया गाँव में अखाड़ा, या नृत्य वा मिलने का स्थान, पवित्र बगीचे, श्मशान भूमि इत्यादि रहती है। पहाड़ पर रहने वाले खड़िया के पार्श्व में पवित्र बगीचे अवश्य होते हैं परन्तु न तो उनका अखाड़ा रहता है और न श्मशान भूमि ही। शरत चन्द्र राय ने लिखा है कि दुध और ढ़ेलकी खाड़िया को कुवांर और कुवांरियों के सोने के लिये एक घर होता है जिसे 'गीतिओ' कहते हैं। यह घर गाँव में अतिथि शाला का भी काम करता है। इस घर की आकृति कुछ नवीन ढग की होती है, परन्तु साधारणतया बनावट में यह अन्य घरों से अधिक भिन्न नहीं होता है। परन्तु मैंने युवा शयनागार कहीं नहीं पाया और न इसके पहले कहीं पाये जाने का प्रमाण ही मिला। जो भी हो, यह अब बिल्कुल लुप्तप्रायः है और 'गीतिओ' के अब कहीं नामोनिशान भी नहीं पाये जाते हैं।

गाँव की रूपरेखा की कोई निश्चित बनावट नहीं है। सैकड़ों की संख्या में घर बिना किसी निश्चित आकार के बने हुये होते हैं। दुध और ढ़ेलकी खड़िया के घर की बनावट प्रायः एक-सी है। पहाड़ों पर रहने वाले खड़िया के घर प्रायः

चौकोर होतें हैं। घर की दीवार साल के रोपे हुए डंठल पर मिट्टी से प्लास्टर की हुई होती है। छत दो तरफ से ढालुवां होती है, यह लकड़ी के खम्भों पर आश्रित रहता है तथा घास से छाया जाता है। एक ही कमरा सोने और भोजन बनाने के उपयोग में लया जाता है। दुध और ढ़ेलकी खड़िया के घर अच्छे होते हैं। इनके घर एक दो फीट ऊँची नींव पर बने होते हैं। इनके घर की छत पर खपड़े होते हैं। पहले ये घास से ही बने होते थे परन्तु आजकल खपड़े का ही उपयोग किया जाता है। घर में खिड़कियों का अभाव रहता है। बहुत से घरों में गाय वगैरह रखने के लिए एक छावनी बगल में बना दी जाती है। बहुत से सम्पन्न खड़िया परिवार को गाय और सूअरों को रखने के लिये अलग-अलग घर होता है।

पहाड़ पर रहने वाले खड़िया के घर-गृहस्थी के सामान में भोजन बनाने तथा शिकार करने की साधारण वस्तुएँ व्यवहार में रहती हैं। वे हल का उपयोग नहीं करते। जमीन खोदने के लिये लकड़ी की बनी छड़ी का व्यवहार किया जाता है। इस छड़ी में कभी-कभी लोहे के भाग भी जुटे होते हैं जिने 'खरडा' कहा जाता है। वृक्ष काटने के लिये कुल्हाड़ी का उपयोग किया जाता है। भोजन पकाने के बर्तन मिट्टी के बने होते हैं जिसे ये लोग हाट और बाजार में द्रव्य अथवा वस्तु विनिमय द्वारा खरीदते हैं। इस वस्तु विनिमय में जंगली पक्षी, हिरण के चमड़े, मधु इत्यादि का व्यवहार किया जाता है।

साधारणतः पहाड़ पर रहने वाले खड़िया को बिछौने के लिये ताड़ या खजूर की बनी चटाई रहती है। सिर्फ सुखी सम्पन्न परिवार में ही चादर बिछावन के काम में लाये जाती है बहुत से खड़िया घरों में मिट्टी का बना बहुत बड़ा बर्त्तन रहता है जिसमें पानी रक्खा जाता है। पत्तियों से बने बर्त्तन तरल पदार्थ तथा भोजन के काम में लाये जाते हैं। गृहस्थी के अन्य समानों में अनाज कूटने तथा जमा करने की वस्तुएँ पायी जाती हैं। इस सिलसिले में शाल की पत्तियों से तथा बाँसों के बने सामान का उपयोग विशेष तौर पर होता है। कुछ खड़ियों के पास अवकाश के क्षणों को व्यतीत करने के लिए चर्खा और तकली रहती है। शिकार के आयुध में तीर, धनुष, लाठी, भाला, गंड़ासा तथा तेज धारों वाला फरसा पाया जाता है। मछली पकड़ने के विभिन्न उपकरण भी बहुत सी झोपड़ियों में पाये जाते हैं। हल, कुदाल तथा अन्य कृषि के सामान दुध और ढ़ेलकी खड़िया के द्वारा व्यवहार में लाये जाते हैं।

भोजन :—दुध और ढ़ेलकी खड़िया का प्रधान भोज्य पदार्थ चावल है। पहाड़ पर रहने वाले खड़िया का भी प्रधान भोजन पदार्थ चावल ही है। जिसे वे

स्वयं तो नहीं उपजाते परन्तु विनिमय के द्वारा उन्हें अपने पड़ोसियों से मिल जाता चावल के अतिरिक्त ये, शिकार में मिले जानवर तथा फल-मूल पर निर्भर करते हैं। ये सब्जियाँ भी उपजाते हैं। कोंहड़ा, बड़ बीन्स और अन्य हरी तरकारियाँ इनकी प्रिय सब्जियों में आती हैं। खड़िया भोजन को पकाने, उबालने तथा तलने की विधि से अवगत हैं। परन्तु भोजन में ये लोग अधिक मात्रा में नमक व्यवहार किया करते हैं। खड़िया अपने भोजन उबाल कर, सेंक कर या भूनकर बनाते हैं जिसमें काफी मात्रा में नमक डाल दिया जाता है, नमक से मिला चावल उबाला जाता है जिसका पानी ये लोग बाहर नहीं फेंकते। दुध और ढ़ेलकी खड़िया रसदार सब्जी तथा दाल बनाते हैं जिसमें अधिक मात्रा में नमक मिलाया रहता है। मिल जाने पर ये लोग मछली और मांस भी खा लेते हैं, परन्तु अधिकांशतः गौ माँस खाना ये वर्जित रखते हैं। भोजन में सरसों तेल का ही व्यवहार होता है।

ये लोग फल में जामुन, बैर और खजूर खाते हैं। बच्चे बहेड़ा के बीज भी चुन-चुन कर खाते हैं। कटहल और आम के पेड़ दुध और ढ़ेलकी खाड़िया लगाते हैं। उड़द, अरहर और बौदी की दाल ये लोग बड़े चाव से खाते हैं। वे लोग पके हुए जामुन से एक प्रकार का सिरका भी तैयार करते हैं। पशु के माँस में वे बन्दर तथा भेंड़ के माँस से परहेज करते हैं। सभी खड़िया मुर्गा पालते हैं तथा इसका माँस भी खाते हैं। पहाड़ों पर रहने वाले बहुत से खड़िया पत्तों से बनायी गयी बीड़ी पीते हैं जिसे 'फीका' कहा जाता है। परन्तु दुध और ढ़ेलकी खड़िया तम्बाकू चूना के साथ खाते हैं।

प्रसाधन और परिधानः—खड़िया बच्चे ७-८ इंच चौड़े तथा डेढ़ गज लंबे कपड़े का लंगोटा पहनते हैं। इसे 'खड़िया' कहा जाता है। वयस्क लोग 'खड़िया' के ऊपर से एक प्रकार की 'करधनी' लपेटते हैं जो १३-१४ इंच चौड़े तथा २-३ गज लम्बे कपड़े का बनी होती है। बाजार या अन्यत्र कहीं जाने के अवसर पर वे मोटे कपड़े ऊपर से रख लेते हैं, आजकल कम्बल का भी ये लोग व्यवहार करने लगे हैं। छोटी-छोटी बच्चियाँ डेढ़ फीट चौड़े मोटे कपड़े पहनती हैं जिसमें लाल या काले पाढ़ भी लगे होते हैं। ये ही बड़ी होने पर २ गज लम्बा और ढाई फीट चौड़ा, पाढ़ या बिना पाढ़ का लहंगा पहनती हैं। युवतियाँ अपने उन्नत स्तनों को छिपाने के लिये ऊपर से एक अन्य कपड़े का व्यवहार करती हैं। स्त्रियाँ, विशेष कर युवतियाँ त्योहारों के अवसर पर अपने बालों को फूल और पत्तियों से सजाती हैं। यौवन और रूप आभूषणों के बीच और भी खिल उठता है। इनके आभूषण कांसा और पीतल के बने होते हैं। कहीं-कहीं चाँदी के आभूषण भी पाये गये हैं।

इनके प्रिय आभूषण गले के हार, कान का फूल, बाहों का आभूषण और अंगुलियों में पहनने वाली अंगूठियाँ हैं। लड़के हाथों में बाला पहनते हैं। युवक और युवतियाँ, बाजार से लाये हुए हार को बड़े चाव से पहनती हैं। स्त्रियाँ एक हाथ में साधारणतः ६-७ चूड़ियाँ पहना करती हैं। इन आभूषणों के नाम जो कुछ भी इनके यहाँ प्रचलित है, ऐसा प्रतीत होता है कि, वे वस्तुतः हिन्दुओं के नाम से लिये गये हैं। बच्चे दोनों हाथों में पीतल की बनी 'बेरियाँ' का व्यवहार करते हैं। इनके प्रसाधन और परिधान अपने हैं जो कृत्रिम होते हुए भी अकृत्रिम हैं, इनका नैसर्गिक सौन्दर्य कृत्रिम प्रसाधन और परिधान में भी प्राकृतिक प्रतीत होता है।

हस्तकला :—दुध और ढेलकी खाड़िया परिवार में बहुधा चर्खा और तकली का प्रचार-देखने को मिलता है। स्त्रियाँ ताड़ और खजूर के पत्तों से बैठने और सोने के लिये चटाई बनाती हैं। कभी-कभी चटाई बाँस के छिलके से भी बनाई जाती है। ये लोग साबे घास से और चोप से रस्सी बनाते हैं। बहुत से खाड़िया घरों में कोल्हू भी देखने को मिलती है।

कृषि तथा भूमि :—पहाड़ों पर रहने वाले खाड़िया अभी तक नियमित रूप से खेती नहीं करते हैं, सिवाय उनमें जो सरकार द्वारा बसाये गये हैं। दालभूम में, खाड़िया, 'भूम' प्रकार की खेती करते हैं। जिसमें जंगल का एक हिस्सा चुन लिया जाता है, उसमें पेड़-पौधे काटकर गर्मी के दिनों में छोड़ दिये जाते हैं। सूख जाने के बाद आग लगा दी जाती है। फिर राख बिखेर दी जाती है बरसात आने पर उसी जमीन में मड़ुआ, दलहन और भुट्टा का बीज खोदकर के रोप दिया जाता है। जबतक फसल पक नहीं जाती, तब तक उसमें जोत-कोड़ करने की आवश्यकता नहीं रहती। कुछ लोगों के घर के आसपास भी जमीन रहती है जिसमें ये लोग सब्जियाँ लगाते हैं। नियमित रूप से खेती सिर्फ दुध खाड़िया ही करते हैं। ढेलकी खाड़िया कुछ अंश में और पहाड़ों पर रहने वाले खाड़िया अनियमित रूप से खेती करते हैं। इनके खेती करने के तरीके, खाद देना, खेत पटाना, बीज लगाना, बोना और काटना सब कुछ इनके निकटवर्ती मुंडा और उराँव के सदृश्य हैं। इनकी मुख्य फसल धान है, परन्तु सब्जियों के अतिरिक्त ये तरह-तरह की दालें भी उपजा लेते हैं।

जमीन व्यक्तिगत रूप से जोती जाती है और छोटे-छोटे गृहस्थ जमींदार को जमीन की मालगुजारी देते हैं।

शिकार :—खाड़िया, मुख्यतः पहाड़ों पर रहने वाले खाड़िया, शिकार

कला में कुशल हैं। तीर-धनुष तथा भाला इनके शिकार के प्रधान साधन हैं। ये प्रायः सभी जानवरों का शिकार करते हैं। हिरण, खरगोश और कबूतर का शिकार मुख्य रूप से किया जाता है। शिकार करना इनका प्रधान पेशा है। यहाँ तक कि मनोरंजन और त्योहार के अवसरों के लिये शिकार आवश्यक समझा जाता है।

मछली पकड़ना इनका धंधा नहीं है और न मछली इनके नित्य के भोजन में ही आती है। फिर भी मछली पकड़ने के अनेक तरह के जाल का ये उपयोग करते हैं। मछली पकड़ने का इनका सबसे उत्तम तरीका है पानी को पुल के अन्दर से निकाल कर और पुनः उस इकट्ठे पानी में जहर या इसी तरह की कोई जड़ी-बूटियां मिला देना जिससे मछलियां मर जाती हैं और तब ये लोग उन मरी मछलियों का संग्रह कर घर ले जाते हैं।

पहाड़ों पर रहने वाले खाड़िया पेड़ पर चढ़ने में बहादुर होते हैं। ये लोग मधु और मोम इकट्ठा करते हैं। रात को ये लोग मधुमक्खी के छाता के पास धूंआ लगाते हैं जिससे कुल मधुमक्खियां उड़ जाती हैं। दूसरे दिन सुबह में 'छाता' से मधु निकाला जाता है। यह पेशा वस्तुतः बड़ा ही खतरनाक है। दालभूम में पहाड़ों पर रहने वाले खाड़िया लोग मधु निकालने के पहले पहाड़ी देवी की जिसे ये लोग 'पार' कहते हैं, पूजा करते हैं।

प्रायः सभी प्रकार के खाड़िया हाट या गाँव के बाजार में जाते हैं जहाँ इनके वस्तु विनिमय हुआ करते हैं। ये मधु शाल की पत्तियों और पत्तियों के बने कटोरे, शिकार किये हुए जानवरों के सींग और खाल तथा कभी-कभी पकड़े गये जानवर और पक्षी को भी विनिमय का साधन बनाते हैं। दुध और ढ़ेलकी खाड़िया अपने निकटवर्ती हाट में जाकर अपने वस्तु का विनिमय द्रव्य से करते हैं। पुनः उस द्रव्य से ये तम्बाकू, नमक इत्यादि वस्तु जिसे वे स्वयं नहीं उपजाते खरीदते हैं और इस तरह अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं। हाट इनलोगों के लिये सिर्फ वस्तु विनिमय का स्थान नहीं, प्रत्युत इनके आमोद-प्रमोद का भी प्रमुख साधन है। इन्हें हाट में कोई काम हो या नहीं परन्तु ये हाट के दिन सज-धज कर हाट आयेंगे अवश्य। स्त्री, पुरुष, जवान और बूढ़े सभी हाट जाते हैं। हाट पर बर्तन बनाने वाला कुम्हार, लोहार, हजाम, टोकरी बनाने वाला तथा सौदागर अपने-अपने सामान लेकर रहते हैं। चावल से बनी शराब खुले आम बाजार में बिकती है। जादूगर और बन्दरवाला भी तमाशा दिखाया करते हैं। वस्तुतः हाट नवीन सांस्कृतिक सम्बन्ध को बनाने के लिये उत्तम साधन है। हिन्दू और

मुसलमान सौदागर सभी हाट में खाड़िया से मिलते हैं और टूटी-फूटी हिन्दी में बातें करते हैं। अस्तु, हाट आर्थिक एवं सामाजिक जीवन पर गहरा प्रभाव डालता है।

गाँव में उद्योग धंधे में सहयोग देना परम्परागत नियम चला आ रहा है। कृषि में, बोने, रोपने और काटने के समय पारस्परिक सहयोग मिला करता है। परन्तु इन दिनों 'अहं' की बू आ जाने से यह पारस्परिक सहयोग की भावना वस्तुतः कम हो गई है। उरांव के गाँव की तरह युवक और युवतियों का प्रबंधित जत्था खाड़िया के गाँव में नहीं पाया जाता है। यदि पंचायत तथा संगठन की अन्य व्यवस्था इन गाँवों में हो तो खाड़िया जनता का बड़ा ही उपकार होगा।

सामाजिक संगठन

सिंहभूम और मानभूम के पहाड़ों पर रहने वाले खाड़िया में वैवाहिक सम्बन्ध के लिये बहिर्गोत्रिय व्यवस्था पायी जाती है। परन्तु इनके गोत्रों के नाम और दुध और ढ़ेलकी खाड़िया के गोत्र के नाम भिन्न हैं। मानभूम के पहाड़ों पर रहने वाले खाड़िया के गोत्र निषेधक के नाम हैं, गुल्गु, भुइया, जारू, बध, तेसा और हेम्बरोम। सिंहभूम के पहाड़ों पर रहने वाले खाड़िया के बीच छः गोत्रों के नाम पाये जाते हैं, वे हैं, कुसली, खेलुआ, कुजूर, अंगारिया, कुईया या भूंइया और गुलु।

दुध और ढ़ेलकी खाड़िया के बीच पैतृक बहिर्गोत्रिय व्यवस्था पाई जाती है जो उनके विवाह और सम्बन्ध के सिलसिले में बहुत महत्व रखती है। गोत्र के सभी सदस्य यह मानते हैं कि वे सभी एक उभय पूर्वज की सन्तान हैं जिनका पंजिय पता लगाना मुश्किल है। ये सभी सदस्य भाई नाता रखते हैं तथा आपस में वैवाहिक वा यौन सम्बन्ध का निषेध बरतते हैं। समगोत्र के अनुचित यौन सम्बन्ध की भावना इनमें इतनी प्रखर है कि वे इसे 'गोत्र वध' कह कर पुकारते हैं।

ढ़ेलकी खाड़िया आठ गोत्र में विभक्त हैं। इनके नाम क्रमशः भूरू, सोरों, समद या बागे, बारलीहा, जारहाद, हंसदा या दमदम, भाई और टोप्नों हैं। इनमें भाई और टोप्नों अन्य गोत्रों की अपेक्षा निम्न कोटि के समझे जाते हैं। अस्तु इन दोनों गोत्र वालों के द्वारा बनाये हुए भोजन अन्य गोत्र वाले अस्वीकार करते हैं। सामाजिक श्रेणी में 'भुरू' गोत्र का स्थान प्रथम आता है और इनके बाद समद अर्थात् केरकेटा का। इन्हीं दोनों गोत्रों के आदमी जातीय प्रमुख समझे जाते हैं।

पंचायत में, जाति सभा में, जन्म और मृत्यु के भोज में प्रायः सभी सार्वजनिक अवसर पर इनकी मान्यता होती है और ये सब पैनदिहा अथवा जल देने वाला कहलाते हैं। पुनः मुरू गोत्र वाले को ही सामाजिक भोज के अवसर पर पहला ग्रास भोजन खाना चाहिये। इस प्रकार हम पाते हैं कि ढ़ेलकी खाड़िया के बीच एक प्रकार का गोत्रीय विभाजन है।

दुध खाड़िया, दुमदुम, कुलु, केरकेटा, बिलुंग, सोरेन बास, टेरू, टोप्पो और कीर नौ प्रकार के गोत्र मानते हैं। इनमें दुमदुम, कुलू और केरकेटा अन्य गोत्रों से श्रेणी में उच्च समझे जाते हैं। इन तीन गोत्रों में से ही जातीय प्रमुख अथवा जातीय 'करटाहा' चुना जाता है। दुमदुम गोत्र राजा कहलाता है, कुलु 'रानी' और केरकेटा गोत्र भंडारी कहलाता है। ये प्रत्येक गोत्र अपना भिन्न-भिन्न मूल स्थान बतलाते हैं जहाँ से ये छोटानागपुर आये।

कोई भी खाड़िया यह नहीं मानता कि 'निषेध' प्रभृति का उनपर कुछ प्रभाव होता है। निषेध वस्तु को मारना या खाना वर्जित अवश्य है, परन्तु ऐसा कोई भी प्रमाण नहीं मिलता जिससे यह कहा जाय कि 'निषेध' की ओर उनका धार्मिक दृष्टिकोण है। जब कभी निषेध वस्तुओं को खाने का प्रश्न उठता है, ये लोग कोई न कोई तरीका निकाल ही लेते हैं। उदाहरणार्थ दुध खाड़िया के 'वा' अथवा चावल गोत्र के व्यक्ति चावल नहीं खाते हैं, ऐसी बात नहीं है। वे सिर्फ माड़ नहीं पीते। उसी तरह 'विलुम' और नीमक गोत्र वाले कच्चा नमक नहीं खाते हैं और यदि वे नमक खाते भी हैं तो दो या उससे अधिक अंगुलियों को खाते वक्त मुँह में रखना जरूरी है।

खाड़िया परिवार में पिता मुख्य अभिभावक होता है और उसी से वंश की परम्परा चलती है। कुछ उदाहरण में दत्तक पुत्र अथवा दूर के रिश्ते के दामाद एक ही परिवार में पाये गये हैं।

आर्थिक उद्योग में परिवार एक मुख्य इकाई है जो खानदान सांस्कृतिक रीति को प्रश्रय देता चला आ रहा है।

परिहास और परिहार का सम्बन्ध खाड़िया में उसी प्रकार है जिस तरह मुंडा में पाया जाता है। परिहास (लन्डा नाता) पत्नी के छोटे भाई-बहन के साथ दादा-दादी और पोता-पोती के बीच छिड़ा करता है। परिहार का सम्बन्ध पत्नी की बड़ी बहन और बड़े भाई तथा हरेक माता-पिता के साथ माना जाता है। स्त्री अपने पति के बड़े भाई-बहन तथा माता-पिता से परिहार का सम्बन्ध रखती है।

परिवार में खाड़िया स्त्री का बुरा स्थान नहीं है। यद्यपि स्त्री पति के अधीन है, फिर भी बच्चों के पालन-पोषण में तथा गृह-कार्य में उनका समुचित अधिकार और कर्त्तव्य है। स्त्रियाँ कुछ अधिक पर्व त्योहारों के अवसर पर दूर रक्खी जाती हैं अवश्य, परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि वे सामाजिक स्थल में न्यून हैं। प्रायः स्त्रियों के मासिक स्राव का समय उन्हें स्त्रियों को दूर रखने को बाध्य करता है। यह मासिक स्राव दुष्ट भूतों को आकर्षित करता है ऐसा उनका विश्वास है। परन्तु कोई भी ऋतुमती स्त्री श्मशान जाने के लिये अथवा पवित्र वृक्षों के पास जाने में सम्मिलित नहीं की जा सकती है और न 'धागु' अथवा 'कडलेटा' बलिदान में रह सकती है। स्त्रियाँ बलिदान नहीं दे सकती हैं। कुंवारी लड़की बलिदान का 'माँस' नहीं खा सकती है।

जीवन-चक्र

शैशव-पहाड़ों पर रहने वाले खाड़िया लोगों में स्त्रियाँ गर्भावस्था में किसी तरह का 'निषेध' नहीं रखती है। जब प्रसव का समय आता है तब गर्भवती स्त्री नये घर में लायी जाती है। दुध और ढ़ेलकी खाड़िया प्रसूता के गृह को एकान्त रखते हैं। जब प्रसव-पीड़ा बहुत तेज रहती है तो सहायता के लिये 'पोनो मोसर' देवता की आराधना करते हैं। प्रसव के समय उसी जात की 'धाई' को बुलाया जाता है। 'नाभि' दरवाजे के कोनों पर बर्त्तन में रखकर गाड़ दी जाती है। बच्चे का जन्म समस्त परिवार को 'अशौच' में रख देता है। यह 'अशौच' पहाड़ों पर रहने वाले खाड़िया के लिए ६ दिन तथा अन्य खाड़िया के लिए ७ दिन तक रहता है। पुनः बच्चे और बच्चे की मां को पवित्र स्नान कराया जाता है। समस्त घर साफ-सुथरा किया जाता है। घर की अन्य स्त्रियाँ आकर बच्चे और बच्चे के माँ-बाप के सिर में तेल लगा जाती हैं। यह नाच-गान और आनन्द का समय होता है और अब किसी तरह का निषेध नहीं रह जाता। अब परिवार के लोग माँस खा सकते हैं और नाच गान में शामिल हो सकते हैं। कुछ घरों में जन्म के २१ वें दिन शुद्धिकरण होता है। इस दिन बच्चे का नामकरण भी होता है। साधारणतः बच्चे का नाम उसके मृतक सम्बन्धी के नाम से लिया जाता है और ऐसा विश्वास किया जाता है कि उस मृतक व्यक्ति की आत्मा बच्चे में वापस आ गई है। जब बच्चा बैठने लायक हो जाता है तब लगभग अपरिवर्तित रूप से दूसरा नाम बिना किसी विधि व्यवहार के ही दिया जाता। पहला नाम गुप्त रक्खा जाता है चूंकि यह डर बना रहता है कि कोई दुष्ट प्रेत उसके वास्तविक नाम के द्वारा कोई उत्पात न मचाये।

यह आवश्यक माना जाता है कि पाँच-छः साल के पूर्व ही बच्चे अथवा बच्चियों का कर्णभेद हो जाय। खाड़िया लोगों का ऐसा विश्वास है कि यदि बच्चे बिना कर्णभेद के मर जायँ तो वे अपने मृतक पूर्वजों के साथ नहीं मिल सकेंगे। अस्तु कर्णभेद के पहले जो बच्चे मर जाते हैं उन्हें निर्धारित श्मशान से अलग गाड़ दिया जाता है। कर्णभेद बच्चे को सामाजिक जीवन प्रदान करता है। वरछई अथवा नवाखिया भोज के प्रातःकाल यह हुआ करता है। पहाड़ों पर रहने वाले खाड़िया में जाति के कोई दो व्यक्ति मिल कर बच्चे का कर्णभेद करते हैं। दुध खाड़िया में कर्णभेद वह व्यक्ति करता है जिससे कि बच्चे का नाम लिया जाता है। परन्तु ढेलकी खाड़िया में मूल गोत्र का कोई व्यक्ति कर्णभेद कर सकता है। यह अवसर सुन्दर भोज का अवसर रहता है जिसमें अतिथि का शराब से सत्कार किया जाता है। प्रथम बच्चे के जन्मोत्सव में बकरा बलिदान किया जाता है परन्तु अन्य जन्मों पर मुर्गा का ही बलिदान दिया जाता है।

खाड़िया मर्द और औरतें लम्बे-लम्बे बाल रखती हैं। परन्तु सांस्कृतिक प्रभाव तथा ईसाई धर्म के प्रचार से उनके व्यवहार में परिवर्तन आ रहा है। जब बच्चे १२ वर्ष के होते हैं तो उनके बाल उनके नाना के द्वारा रीति के अनुसार बाँध दिये जाते हैं। नाना की अनुपस्थिति में कोई अन्य सम्बन्धी जो बच्चे के गोत्र से भिन्न रहता है इस उत्सव को सम्पन्न करता है। गाँवों में लड़के १०-१२ वर्ष के होने पर बाँह पर ६ निशान लगवाते हैं जो उनके साहस और जातीय परिचय का निशान माना जाता है। जहाँ तक लड़कियों का सम्बन्ध है, उनका समाज में पदार्पण सांकेतिक रूप से किया जाता है जिसमें गोदना का विचित्र निशान बनवाया जाता है। गोदना के सम्बन्ध में ढेलकी खाड़ियों का विधान अन्य लोगों से अधिक व्यापक मालूम पड़ता है।

बच्चों पर आरम्भ से ही वातावरण का प्रभाव पड़ता है और वह जातीय जीवन में उतर आता है। अपने बड़ों से वह शिक्षा, सदाचार और उत्तरदायित्व सीखता है। इनमें से बहुत-सी शिक्षायें अचेतन तथा स्वाभाविक रूप से एक दूसरे को देता है तथा दूसरा उन्हें ग्रहण करता है।

खाड़िया बच्चों के लिये नाना प्रकार के खेल हैं। कुछ खेल ऐसे हैं जिसमें युवा लड़के और लड़कियाँ साथ खेलते हैं, कुछ खेल सिर्फ लड़कियों द्वारा खेले जाते हैं और कुछ सिर्फ लड़कों के ही द्वारा। उनलोगों का एक खेल 'फोरा' कहलाता है जो कपड़े के गेंद से खेला जाता है। इस के अलावा उनके बीच कितने अन्य खेल प्रचलित हैं।

बचपन में लड़कों को अपने निकट सम्बन्धियों से परिचय होना प्रारम्भ

होता है। खाड़िया लोगों में पैतृक संघटन है अतः बच्चे अपने पैतृक सम्बन्धियों से शीघ्र ही परिचित हो जाते हैं। सम्बन्धियों के लिये सम्बोधन सूचक शब्द व्यवहार में लाये जाते हैं। सम्बोधन में उम्र में बड़े-छोटे का ज्ञान हो जाता है। प्रत्येक सम्बन्धी का अपना-अपना कर्त्तव्य अधिकार निश्चित रहता है। पिता का यह कर्त्तव्य होता है कि प्रथम विधिवत् शुद्धि के अवसर पर अपनी सन्तान का पहला बाल वह स्वयं काटे।

उत्सव

ढ़ेलकी खाड़िया में मामा अपने भांगिना के नामकरण उत्सव का संचालन करता है। उसे उसके विवाह के समय भी विधि करनी पड़ती है। नाना अपने नाती अथवा नतनी का केश बन्धन उत्सव करता है। उसकी अनुपस्थिति में उसका बेटा, यानी बच्चे का मामा यह उत्सव मनाता है।

परिवार में पिता का सर्वाधिकार रहता है। वह बच्चे की शिक्षा में मुख्य भाग लेता है। जब बच्चा आठ-नौ साल का हो जाता है तो उसे वह अपने काम पर लिवा ले जाता है जहाँ वह काम सीख सके। माता का कार्य बच्चों का प्रतिपालन है। जबतक बच्चा २–३ साल का रहता तबतक तो वह अपनी माँ पर पूर्णतया निर्भर रहता ही है, परन्तु अन्न-प्राशन के बाद भी माता हमेशा ध्यान रखती है कि उसका बच्चा ठीक से रहे और खाये-पीये। बड़े सयाने बच्चों का काम होता है छोटे बच्चों को देखना जिसमें बड़े छोटों को चपत लगाने से बाज नहीं आते। इन निगरानी और अनुशासन में छोटे बच्चे बड़ों को अत्याचारी समझते हैं और शैशवावस्था की यह गहरी छाप उनके भावी जीवन पर बहुत बड़ा मनोवैज्ञानिक प्रभाव डालती है। बच्चे बड़ी बहन के साथ बहुत कम रक्खे जाते हैं और बड़े भाई के साथ अधिक। बाबा के साथ उनका मेल जोल कुछ दिनों के बाद अधिक बढ़ जाता है। साधारणतः यह देखा जाता है कि यदि बूढ़े बाबा अलग घर में खाना बनाते हैं तो भी वे अपने पोतों को प्यार से बहलाने में हाथ बटाते हैं।

जब बच्चे कुछ सयाने हो जाते हैं तो क्रमशः उनके परिचय की परिधि बढ़ जाती है और तब वे भ्रातृ और पित्र पक्ष के सम्बन्धियों से परिचित होने लग जाते हैं।

विवाह खाड़िया समाज में प्रत्येक युवक के लिए नितान्त आवश्यक माना जाता है। विवाह के पश्चात् ही कोई व्यक्ति जात का पूर्ण सदस्य बन सकता है। दुध और ढ़ेलकी खाड़िया वैवाहिक सम्बन्ध में बहिर्गोत्रीय नियम का पालन करते हैं

परन्तु जहाँ तक उनके अपने स्वजात का प्रश्न है, वे अन्तर्गोत्रीय है। इस नियम को भंग करना बहुत बड़ा अपराध समझा जाता है।

सभी खाड़ियों में फुफेरे अथवा चचेरे भाई-बहन से शादी करने की प्रथा प्रचलित है। कोई भी आदमी अपनी पत्नी को बड़ी बहन से शादी नहीं कर सकता है, और न कोई विधवा अपने पति के बड़े भाई से शादी कर सकती है। साधारणत: कोई खाड़िया अपने गाँव में वैवाहिक सम्बन्ध नहीं करता है। परन्तु आजकल यह नियम कुछ-कुछ उठता जा रहा है। जबतक लड़का सयाना नहीं हो जाता है तथा अपना जीविकोपार्जन स्वयं नहीं कर सकता है तबतक उसके विवाह की चर्चा नहीं होती है, परन्तु अब हिन्दुओं के प्रभाव से युवावस्था के पूर्व ही विवाह होना प्रारम्भ हो गया है। विवाह की उम्र साधारणत: लड़कों के लिए २०-२१ वर्ष है और लड़कियों के लिए १५-१८ वर्ष। 'असली' प्रकार के विवाह में लड़के अथवा लड़की का कोई हाथ नहीं रहता है। विवाह का ठीक-ठाक करना उनके माता-पिता का काम है, इनका काम है सिर्फ उसे स्वीकार करना। इन सब बातों से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि हिन्दुओं का प्रभाव इनलोगों पर अधिक है।

नियमित विवाह को छोड़कर कई प्रकार से इनके बीच विवाह होता है। किसी लड़की को भगाकर अथवा जबरदस्ती लड़की के माथ में सिंदूर लेपकर अथवा लड़की का अपने प्रियतम के घर में जबरन प्रवेश से अथवा सगाई या विधवा विवाह से विवाह भिन्न-भिन्न रूप में इनके यहाँ पाया जाता है। कभी इनमें से दो-तीन प्रकार के विवाह का सामंजस्य होने पर विधिवत विवाह कराया जाता है, और 'असली' प्रकार के विवाह की तरह यह अनियमित विवाह सम्पन्न होता है।

जब किसी खाड़िया लड़के के माता-पिता को किसी अच्छी लड़की का पता चल जाता है तो वे अपने मित्र अथवा कुटुम्बी को उस लड़की के माता-पिता का विचार जानने के लिये भेजते हैं। जब लड़की के माता-पिता को सम्बन्ध पसन्द हो जाता है तो फिर लड़के के पिता दो-तीन सम्बन्धियों के साथ बात पक्की करने को एक बर्तन में चावल की शराब लेकर लड़की के घर जाते हैं। यह बारात तभी अपने गाँव से प्रस्थान करती है जब उसे रास्ते में शुभ शकुन मिलता है। अपशकुन मिलने पर वे यात्रा स्थगित कर देते हैं। वस्तुत: इसी मिलन के अवसर पर गाँव के सदस्यों के समक्ष मंगनी की बात निश्चित हो जाती है। अतिथियों का स्वागत

भोजन और पेय पदार्थ से अच्छी तरह से किया जाता है। कन्या मूल्य का निश्चय दूसरी विधि से किया जाता है जिसमें मोल-तोल का भाव प्रदर्शित किया जाता है। कन्या मूल्य का प्राचीन नियम है पाँच गाय, परन्तु आजकल सिर्फ एक रुपया एक गाय के बराबर समझा जाता है। साधारणतः दो गायें, तीन रुपया, और कन्या की माता के लिये एक साड़ी कन्या के मूल्य में दी जाती है। एक समय निर्धारित किया जाता है जब कि कन्या मूल्य दिया जाये और उसी समय विवाह का दिन भी तय हो जाता है। विवाह की विधियाँ अनेक हैं तथा वे विधियाँ हिन्दुओं से अपनायी गयी प्रतीत होती हैं। इन दिनों बहुत से विवाह इसी प्रकार ठीक होते हैं। और अब जबरदस्ती विवाह करने अथवा भगाकर विवाह करने की प्रथा धीरे-धीरे लुप्त हो रही है। खाड़िया के बीच एकात्म विवाह की प्रथा प्रचलित है। एक पत्नी के जीवन काल में दूसरी पत्नी का स्वागत अनियमित नहीं होने पर भी हेय समझा जाता है। तलाक देने का अधिकार पति और पत्नी दोनों को है। पत्नी वा पति का विवाहोपरान्त अनुचित यौन सम्बन्ध, पत्नी का बन्ध्यापन, उस में आलस तथा गृह कार्यों में ढिलाई, पति के घर में रहने से, असहमति तथा चोरी की आदत और गाँव के पँचों द्वारा 'डाइन' होने का आरोप, बहुधा तलाक का कारण पाया जाता है। तलाक का प्रश्न गाँव के समक्ष रक्खा जाता है जो कारण को भली भाँति समझने पर स्वीकार या अस्वीकार करता है। यदि तलाक का कारण पत्नी का पर पुरुष से अनुचित संग है तो लड़की के पिता को कन्या मूल्य वापस कर देना होता है।

विवाह स्त्री और पुरुष के लिये सम्बन्धियों का नूतन दृश्य उपस्थित करता है। परन्तु परिचय शीघ्र ही घनिष्ठता में परिवर्तित हो जाते हैं। पुरुष अपनी पत्नी के घर उसे लाने के लिये, अथवा उसके भाई-बहन की शादी के अवसर पर कई बार आता-जाता है। अपने श्वसुर के साथ वह परिहार का सम्बन्ध रखता है जो उसके प्रति श्रद्धा और मान का परिचय समझा जाता है। परन्तु सास के साथ उसका दूरत्व कुछ-कुछ उन्मुक्त व्यवहार की ओर झुका रहता है। क्योंकि जब कभी वह यहाँ आता है तो सास ही उसके आराम की देखभाल करती है। पत्नी के छोटे भाई-बहन को वह आदर और सम्मान प्रदर्शित करता है।

विवाहोपरान्त स्त्री अपने पति के घर जाती है। यह घर उसके लिये नवीन है, फिर भी उसे जीवन पर्यन्त यहीं रहना है। अतः यहाँ उसकी मैत्री और निकटतम सम्बन्ध शीघ्र ही परिवार के सदस्यों से हो जाता है। पति के छोटे भाई के साथ उसे परिहास का सम्बन्ध रहता है तथा परिवार में वह उसका प्रियपात्र भी होता है। पति की छोटी बहन भी उसी प्रकार उसकी प्रिय पात्री है। परन्तु

कुछ दिनों के बाद यह तस्वीर बिल्कुल बदल जाती है। छोटी अविवाहित ननद सास और पतोहू के झगड़े में अस्त्र का काम करती हुई पाई जाती है और यह संदेह और परिस्थिति उनके आपस के मधुर सम्बन्ध को तोड़ देती है। स्त्री अपनी सास के साथ अत्यधिक परिहार का व्यवहार नहीं रख सकती क्योंकि उसके साथ वह हमेशा काम करती है। सास, पतोहू के लिए कठिन शासक के रूप की अतिपूर्त्ति होती है। पत्नी और माता के प्यार का एकमात्र केन्द्र वह व्यक्ति होता है जिसका विवाह हाल में हुआ रहता है। अस्तु, यदि वह व्यक्ति अपना केन्द्र किसी भी दिशा की ओर बढ़ाता है तो एक न एक परिधि से वह दूर हो जाता है। यह मनोवैज्ञानिक और ज्यामितिक सत्य प्रत्येक परिवार में परिलक्षित होता है। स्त्री, पति के पिता, चाचा, बड़े भाई तथा अन्य बड़े कुटुम्ब के साथ परिहार का सम्बन्ध रखती है।

खाड़िया पुरुष और स्त्री के दैनिक कार्य को देखने से पता चलता है कि वे कितने व्यस्त रहते हैं। परिवार का प्रमुख सदस्य तड़के उठता है और लड़कों के सहयोग से वह पहले मवेशियों को घर से बाहर निकालता है। माता लड़कों को लेकर कुएं पर जाती है, पानी लाती है और घर साफ करती हैं। घर की मालकिन अथवा कोई लड़की खाना पकाती है। मर्द और लड़के खेत में काम करने जाते हैं और दोपहर को काम पर से लौटते समय यदि किसी की इच्छा हुई तो स्नान कर एक साथ खाना खाते हैं। स्त्रियाँ तथा युवा लड़कियाँ मर्दों के खा लेने के बाद भोजन करती हैं। दिन के भोजन में वे भात को दाल या सिर्फ उबाली गयी सब्जियों अथवा पत्तियों के साथ खाते हैं। दोपहर में मर्द या तो जलावन की लकड़ी छुड़ाते, अथवा जंगलों में लकड़ी काटने जाते हैं या खेत में काम करते हैं। स्त्रियाँ गाछ की टहनियाँ तोड़ती हैं, या पत्ते बटोरती हैं। गर्मी के दिनों में वे मिट्टी के ढेले फोड़तीं, चावल कूटतीं या चटाई बुनती हैं। बीज बोना अथवा रोपना या फसल काटना भी औरतें अपनी जिम्मेदारी समझती हैं। संध्या को स्त्रियाँ खाना बनाती हैं। खाना खाने के बाद वह सूत कातती हैं अथवा नृत्य स्थल में नाच और मनोरंजन के लिये जाती हैं।

समाज में बूढ़ों की इज्जत उनकी बुद्धि और अवस्था की बदौलत की जाती है। प्रत्येक मुख्य अवसर पर उनकी राय ली जाती है। ये पंचायत के भी सदस्य होते हैं। बड़े और जवान बेटों का यह कर्त्तव्य है कि वे उनका भरण-पोषण करें और उन्हें उनकी वृद्धावस्था में आराम दें। परन्तु प्रायः यह देखा जाता है कि एक ही घर में रहकर बूढ़े अपना खाना स्वयं पकाते हैं। क्योंकि

उन्हें अपने बेटे और पतोहू से नहीं पटती है। फिर भी बूढ़े अपने पोते के प्रति असीम प्रेम प्रदर्शित करते हैं और पोते उनके अवकाश के क्षणों में मनोरंजन का साधन हुआ करते हैं, तथा वह उनकी देखभाल भी किया करते हैं।

वृद्धावस्था में शरीर और स्नायु का ह्रास होने लगता है। वस्तुतः वृद्धावस्था स्वयं एक रोग है। अनेक रोग इस अवस्था में घर दबाते हैं जिसकी चिकित्सा ओझा और मती के द्वारा होती है। ये ओझा और मती सिर्फ मंत्र का ही प्रयोग नहीं करते वरन अनेक जड़ी-बूटियों तथा औषधों से रोगी की चिकित्सा किया करते हैं। कुछ रोगी इससे ठीक भी हो जाते हैं, परन्तु बहुतों में ये लोग असफल रहते हैं। अस्पताल और दवाखाना जो आधुनिक ढंग से मौजूद हैं वे वस्तुतः इतनी बड़ी खाड़िया जनसंख्या के लिये अपर्याप्त हैं। इस प्रसंग में कुछ ऐसे अस्पताल भी हैं जो मिसनरी (ईसाई संस्था) के द्वारा संचालित किये जाते हैं।

जब मौत आती है तो ऐसा कहा जाता है कि मनुष्य की रूह अथवा "जीओम" नाशवान शरीर से अलग हो जाता है। इस जीओम अथवा अभौतिक आत्मा के अतिरिक्त एक "चैन" अथवा छाया होती है जो मनुष्य के जीवन काल में आत्मा के साथ रहती है। यह वह "छाया" होती है जो रसोईघर में पूर्वज रूह के साथ सम्मिलित होने के लिये बुलाई जाती है। मौत समस्त परिवार को अशौच में डाल देती है। खाड़िया में मृतक को जलाने और गाड़ने दोनों तरह की प्रथा प्रचलित है। मृतक कपड़े में अथवा जाल में लिपटा हुआ लकड़ी की अस्थि पर लेकर श्मशान ले जाया जाता है। प्रत्येक खाड़िया गाँव को अपना-अपना श्मशान स्थल होता है जो नदी या झरने के किनारे होता है। एक दो दिनों के बाद शुद्धि-करण होता है जिसमें गांव के सभी लोग बुलाये जाते हैं। इसके बाद घर के लोग मछली खा सकते हैं परन्तु मृत्यु का अशौच नौ दिन के बाद ही छूटता है। इस बीच में नाच और गान वर्जित रहता है और परिवार के लोग मांस नहीं खाते। "छाया" को बुलाने की विधि या तो दाह-संस्कर की रात में होती है अथवा उसके बाद परन्तु हर हालत में अन्तिम शुद्धिकरण अथवा "तीलजंग" विधि के पूर्व यह अवश्य मनाया जाता है। गर्भवती स्त्रियों के श्राद्ध संस्कार कुछ भिन्न होते हैं।

जादू धर्म और पर्व

जादू खाड़िया समाज में महत्वपूर्ण वस्तु है। यह एक ऐसा अस्त्र है जिसकी दो धार हैं— "बुरा" और "भला"। अकाल, जीर्णरोग तथा संक्रामक रोग में इसका सहारा लिया जाता है जिससे लोगों की रक्षा हो। यह, मनुष्य को बुराई भी

कर सकता है। जब दुष्ट आँखों से देखा जाय तो यह रोग अथवा मृत्यु का भी कारण बन जाता है। अस्तु, खाड़िया किसी नये मार्ग में प्रवेश होने के पूर्व अथवा किस्मत आजमाने में जादू की सहायता लेते हैं। डाईनपन पर इन लोगों का विश्वास है जो जादूगर के द्वारा परिचालित किया जाता है। पकड़े जाने पर डाईन को कठिन सजा मिलती है तथा उसे गाँव निष्कासन की भी सजा बहुधा दी जाती है। इस डाईन की करामात से बचाने वाले डाक्टर होते हैं जिन्हें "देओंरा" कहते हैं। ये मौका पड़ने पर विशिष्ट कार्य के लिये गाँव या व्यक्ति विशेष द्वारा बुलाये जाते हैं।

जीवन-चक्र के सिलसिले में मनाये जाने वाले विधि और उत्सव के अतिरिक्त खाड़िया बहुत से ऐसे पर्व और त्योहार भी मनाते हैं जो उनके आर्थिक जीवन, जातीय जीवन और सामयिक उद्योग में समृद्ध को भावना से सम्बन्धित रहते हैं। पहाड़ों पर रहने वाले खाड़िया के त्योहार अन्न एकत्रित करने तथा अधिकतर शिकार से सम्बन्धित हैं। ये कुछ सार्वजनिक पूजा भी प्रथमअन्न और कटनी के उपलक्ष में करते हैं। इनलोगों ने अपने पड़ोसियों से कर्मा त्योहार को अपना लिया है। खाड़िया के अन्य शाखावाले "जानकोर" पूजा अथवा फागू त्योहार मनाते हैं जो बसन्त के शिकार से सम्बन्धित हैं। बहुत से कृषि उत्सव काटने, रोपने और बोने के अवसर पर भी मनाये जाते हैं।

ग्राम संगठन और सामाजिक नियंत्रण

भिन्न-भिन्न प्रकार के खाड़िया को अपनी-अपनी संचालित प्रणाली होती है। पहाड़ों पर रहने वाले खाड़िया के मध्य कोई संगठित ग्राम्य जीवन नहीं होता है, फिर भी गाँव में देहरी प्रमुख होता है जो धार्मिक और सामाजिक मुखिया भी होता है। दुध और ढेलकी खाड़िया उसे कालो, या बैगा या पाहन कहते हैं। परन्तु मुखिया को सर्वाधिकार नहीं रहता, वह मुख्य-मुख्य बातों में घर के बड़े लोगों की सलाह से काम करता है। वस्तुतः मुखिया और गाँव के बड़े-बूढ़े गाँव की पंचायत बनाते हैं। गाँव की सभा सामाजिक अथवा धार्मिक निषेध के कानून को तोड़ने और आपस के झगड़े जैसी बातों का फैसला किया करती है। मुखिया गाँव के बड़े-बूढ़ों की सलाह से सार्वजनिक पूजा के लिये चन्दा एकत्रित किया करते हैं। विवाह और श्राद्ध कर्म में पंचायत के सदस्य आमंत्रित किये जाते हैं जब कोई व्यक्ति अपने दामाद को बसाता है तो उसे पंचायत के सदस्यों के समक्ष करना पड़ता है। त्योहार और सार्वजनिक पूजा में पंचायत के सदस्य बुलाये जाते हैं और देहरी सबके समक्ष पूजा करता है।

निषेध के कानून को तोड़ने वाले की ओर भी पंचायत का ध्यान आकर्षित होता है। सबसे बड़ा सामाजिक जुर्म है जातीय अन्तर्मुखी और गोत्र बहिर्मुखी के कानून के विरुद्ध जाना। इसके अलावे अन्य छोटे-छोटे अपराध हैं, जैसे कोई स्त्री फागू अथवा कडलेटा पूजा में उपस्थित रहे, इस पूजा के समय पवित्र स्थान में प्रवेश करे, ऋतुमती अवस्था में कुंए से पानी खींचे, हल पाली स्पर्श करे अथवा घर मरम्मत करे, कोई खाड़िया जेल से आने अथवा बहुत दिनों के प्रवास से आने के बाद किसी को स्पर्श करे। ये सभी जुर्म अन्य जातीय अपराध में गिने जाते हैं और प्रत्येक अपराध के लिये जुर्माना देना होता है। वर्जित यौन सम्बन्ध का दोषारोपण यदि किसी व्यक्ति पर किया गया है और मुजरिम अपने दोष को अस्वीकार करता है, तो इस हालत में पुनः छान-बीन के लिए कुटुम्ब-सभा बुलाई जाती है। इस तरह के जुर्म की सजा है जातीय बहिष्कार, अस्तु कुटुम्ब सभा के फैसला' होने पर ही वह व्यक्ति पुनः जाति में स्वीकार किया जाता है। नैषेधिक कानून को तोड़ने वाले यथा वर्जित यौन सम्बन्ध के दोषी, तथा गाय और बैल की हत्या करने वाले को अपने पाप का प्रायश्चित करना पड़ता है। वह कबूतर अथवा बकरे को सूर्य देवता के नाम पर बलिदान कर उसका लहू पीता है और पंच को हंडिया पिलाता है। छोटे-छोटे नैषेधिक कानून को तोड़ने वाले को, पूर्वजों के रूह को हंड़िया चढ़ाना पड़ता है और यदि कोई भूल-चूक में कोई अपराध कर बैठता है तो उसकी सजा हल्की दी जाती है।

ग्राम-पंचायत को छोड़कर खाड़िया लोगों की इससे भी बड़ी एक संस्था है जिसे पहाड़ों पर रहने वाली खाड़िया "चीरा" कहते हैं तथा उसके सभापति को "दाणडिया" कहते हैं। सभी गावों के देहरी को मिलाकर यह एक संस्था बनती है और उस में जो सबसे बुद्धिमान रहता है बड़ा "दाणडिया" चुना जाता है। ढ़ेलकी खाड़िया के बीच "पारा" या "गाढ़ी" की तरह गाँवों की सम्मिलित कोई निश्चित पंचायतो नहीं है और न "गाड़ी" का कोई मुखिया ही होता है। दूध खाड़िया में "पाढ़ा' की व्यवस्था है जिसमें गाँवों के कई गोत्रों के लोग रहते हैं। पाढ़ा में "कर्ताहा" का स्थान खानदानी होता है और डुंग-डुंग, कल्लू अथवा समद गोत्र को छोड़कर अन्य दूसरे गोत्र वाले इसमें नहीं रह सकते हैं। कर्ताहा समाज से बहिष्कृत व्यक्ति को पुनः जातीय प्रवेश करा सकता है। यह सभा गाँव के पंचायत के फैसले पर पुनः विचार करती है।

किसी बहिष्कृत व्यक्ति को समाज में स्वीकार करने का तरीका बड़ा ही मनोरंजक है। वह सफेद बकरा सूर्य देवता को चढ़ाता है। कर्ताहा या दाणिडया बलि

चढ़ाये हुए बकरे या मुर्गे के एक-दो बूँद रक्त पत्ते के प्याले में जिसमें हल्दी से मिला हुआ पानी रहता है, पिलाते हैं। वह बहिष्कृत व्यक्ति इसे पीता है, और इस प्रकार वह पुनः अशौच से छुटकारा पा जाता है। वह व्यक्ति फिर पाढ़ा सभा के सभी व्यक्तियों को भात परोसता है। कर्त्ताहा सबसे पहले कौर उठाता है और तब बाद में दूसरे लोग। इसके बाद बहिष्कृत व्यक्ति पुनः पहले की तरह जातीय स्थान पाता है। साधारणतया कर्त्ताहा और पाढ़ा पंचायत के दूसरे सदस्यों को कुछ द्रव्य उपहार के रूप में दिया जाता है। यहि बहिष्कृत व्यक्ति का परिवार पवित्र भोज तथा इस सिलसिले में खर्च करने में असमर्थ है तो पंचायत जात बिरादरी से अनाज और द्रव्य इकट्ठा करती है।

गाँव की पंचायत जादूगर को भी सजा देती है। जादूगरनी को या तो बहुत मार पड़ती है या उसे गाँव से बाहर निकाल दिया जाता है। जादूगरनी समाज और देवता दोनों की विरोधी समझी जाती है अतः वह समाज तथा गाँव दोनों से बहिष्कृत कर दी जाती है।

इस प्रकार हमलोग पाते हैं कि खाड़िया के विभिन्न भागों ने अपने-अपने क्षेत्र में अनुकूल सामाजिक प्रणाली का विकास किया है। बहुत संख्या में खाड़िया को ईसाई धर्म स्वीकार करा दिया गया है और जो बच गये हैं वे हिन्दू धर्म की ओर अग्रसर हो रहे हैं। वे गाय के प्रति श्रद्धा और भगत आन्दोलन जैसी हिन्दू विचार धाराओं से प्रभावित हो रहे हैं।

सौरिया पहाड़िया

संथाल परगने में अनुसूचित जन-जातियों की जनसंख्या समस्त बिहार राज्य की उनकी संख्या का चतुर्थांश से भी अधिक है, तथा इस जिले की जनसंख्या का ४४.६ प्रतिशत है। इस जिले की मुख्य जन जातियाँ संताल और पहाड़िया हैं। संतालों की संख्या इस जिले में सबसे अधिक है, इसके बाद पहाड़िया का स्थान आता है।

पहाड़िया मुख्यतः दो भागों में बँटे हैं, "सौरिया" और "माल" पहाड़िया। पहाड़ियों की एक और शाखा की ओर भी संकेत करना आवश्यक है जो "कुमार-भाग" कहलाती है। कुमारभाग पहाड़िया अपने को राजपूत के वंशज मानते हैं। ऐसा कहा जाता है कि इस जिले के महेशपुर राज्य के संस्थापकों के एक भाई ने अपने साथियों के साथ पहाड़िया स्त्रियों से विवाह किये थे। उन्हीं के वंशज अपने को कुमारभाग कहते हैं। जिस क्षेत्र में इनलोगों की अधिक आबादी है, उस क्षेत्र को कुमारपाललप्पा की संज्ञा दी गयी है।

सम्भवतः इस जिले के सबसे प्राचीन निवासी पहाड़िया जनजाति ही है। पहाड़िया अधिकांशतः संथाल परगने के उत्तर तथा मध्य भाग में निवास करते हैं। इस जिले के पश्चिम भाग में निवास करने वाले खतौरी, तथा दक्षिण-पश्चिम भाग में रहनेवाले घटवाल भी निवासी समझे जाते हैं।

सन् १७७० ई० में इस इलाके में इतिहास प्रसिद्ध भीषण अकाल पड़ा। अभाव से विकल होकर यहाँ के लोग कीड़ों के समान मरने लगे थे। इलाके का इलाका उजाड़ हो गया था। खेतों को आबाद करने वाले तथा उजड़े गाँवों को बसाने वाले लोगों की अत्यन्त कमी थी। पहाड़िया, खतौरी और घटवाल की संख्या में काफी ह्रास हो चुका था। अतएव इस्ट इंडिया कम्पनी के अधिकारी समीपवर्ती क्षेत्रों—मानभूम, हजारीबाग तथा छोटानागपुर की घाटियों में बसनेवाले संथालों को यहाँ लाकर बसाने की चेष्टा करने लगे। संथाल जंगलों को साफ करके परिश्रम पूर्वक खेत बनाने में निपुण थे ही। झुंड के झुंड संथाल इस जिले में आकर बसने लगे, जंगलों को साफकर खेती करने लगे और फिर पहाड़िया पर अपना लोहा जमाने लगे। आगे चलकर ये लोग पहाड़ी इलाकों में भी घुसने लगे। पहाड़िया लोग साधारणतः आलसी और शान्तिप्रिय प्रकृति के थे। वे संथालों के प्रवाह को

रोक नहीं सके और वे स्वयं भागकर पहाड़ों पर जा बसे जहाँ वे अबतक अपना जीवन व्यतीत कर रहे हैं।

सौरिया पहाड़िया अपनी भाषा को "मालतो" कहते हैं। भाषा विज्ञान के अनुसार यह द्रविड परिवार की भाषा है। अपनी जाति को ये लोग अपनी भाषा में "माल" या 'मालोर' कहते हैं। "मालोर" शब्द "माले" का बहुबचन है। माल पहाड़िया अपनी मूल भाषा भूल-सा गये हैं। अधिकांश माल पहाड़िया जिस भाषा का प्रयोग करते है वह मिश्रित मगही हिन्दी है जिसमें बंगला के शब्द बहुतायत से पाये जाते हैं। माल पहाड़िया क्षेत्र जंगल की सीमा पर पड़ता है तथा माल पहाड़िया जनजाति विशेषतः गत सौ वर्षों से बंगाली बनिये और महाजनों के घनिष्ट सम्पर्क में आती रहती है। कुमारभागों की बोली "मालतो" मिश्रित है क्योंकि इनलोगों के वास-स्थान का मुख्य भाग सौरिया पहाड़िया-के वास या स्थान के निकट है।

पहाड़िया गांव

सौरिया पहाड़िया लोगों की बस्तियाँ अधिकांशतः पहाड़ों पर ही स्थित हैं। तराई के समतल में भी उनकी बस्तियाँ हैं। परन्तु इनकी संख्या बहुत कम है। ये अधिकांशतः जंगलों में निवास करते हैं। ये जंगल अमूल्य संपत्तियों से भरे हैं। ये अन्न, फल-फूल, पत्तों, लकड़ी, कोयला, लोहा, पत्थर, बाँस, सावे घास, लाह तथा नाना प्रकार की औषधियों का भंडार है। संथाल परगना जिले के जिस क्षेत्र में अधिकांशतः ये पहाड़िया निवास करते हैं वह इलाका "दामिन कोह" (दामन-ए-कोह) कहलाता है जिसका अर्थ होता है पहाड़ का आंचल।

सौरिया पहाड़िया साधारणतः छोटी-छोटी झोपड़ियों में रहते हैं जिनकी दीवारें एक तरह की घास की टट्टियों से बनी होती हैं। छप्पर भी उसी बाँस से ही छाये जाते हैं। सौरिया भाषा में उस घास को "बाडे" कहा जाता है। प्रत्येक झोपड़ी की लम्बाई साधारणतः २० फीट, चौड़ाई १० फीट तथा ऊंचाई पाँच फीट के लगभग होती हैं। आयताकार जमीन पर तीन कतार में प्रत्येक में तीन-तीन खम्भे गाड़े जाते हैं। बीच वाली कतार में, खम्भों की ऊँचाई, दोनों बगलवाली कतारों के खम्भों की अपेक्षा अधिक होती है। छप्पर उसी बीच वाली कतार से दोनों ओर ढालुआँ होता है। प्रत्येक पहाड़िया घर में कम-से कम दो दरवाजे होते हैं। एक दक्खिन की ओर दूसरा उत्तर की ओर। कहीं-कहीं चारों ओर चार दरवाजे भी देखने को मिलते हैं। पहाड़िया घर की खास पहचान यह है कि उसके दोनों दरवाजे साधारणतः उसके छप्परों के जोड़ यानी बीच वाले खम्भों की कतार में ही होते हैं, दूसरी ओर नहीं। प्रत्येक दरवाजे में घास की एक टट्टी बंधी होती है। घर में

खिड़कियाँ नहीं होतीं। एक परिवार की प्रायः एक ही घर होता है। उसी में परिवार भर के लोग रहते, उठते-बैठते, खाते-पीते, सोते-पकाते अर्थात् सब कुछ करते हैं। घर के सामान भी उसी घर में रखे जाते हैं। घर के सामान में दो एक खाटें, एक ओखल, दो-एक सूप, झाड़ू, कद्दू का कलछुल, कुछ मिट्टी के बर्तन, जांता, थोड़े से कपड़े-लत्ते और थोड़ा-बहुत अन्न-पानी मुख्य रूप से गिनाये जा सकते हैं। घर के एक कोने में (साधारणतः वायव्य कोण में) मिट्टी का एक छोटा-सा चूल्हा बना रहता है। उसी के इर्द-गिर्द रसोई के बर्तन और अन्य छोटी-बड़ी हांडियाँ जिनमें अनाज भर-भर कर रक्खा जाता है, पड़ी रहती हैं। घर के भीतर टट्टी की दीवारों के किनारे-किनारे मकई और बाजड़े की बालें लटकती रहती हैं। आँगन इन लोगों के यहाँ नहीं होता। हाँ, दरवाजे के दोनों ओर कुछ थोड़ी-सी जगह खाली रख छोड़ी जाती है जो कुछ हद तक आँगन की आवश्यकता पूरी करती है। झूम खेती सौरिया पहाड़िया लोगों की जीविका का मुख्य साधन है। ये लोग पहाड़ों पर या ढालू जमीन अर्थात् पहाड़ों में ढालों पर के जंगलों को अपनी कुल्हाड़ियों से काट कर सूखने के लिये छोड़ देते हैं। फिर उसमें आग लगा देते हैं और राख या राखयुक्त मिट्टी में बीज बो देते हैं। इसी पद्धति को सौरिया लोग 'कुरवा' या 'कुरुँघ' खेती कहते हैं। ऐसी जमीन पर ज्वार, बाजरा, तथा घंघरा (बरबटी) उपजाया जाता है। इस प्रकार की खेती के कारण मूल्यवान जंगल नष्ट हो जाते हैं तथा पहाड़ों के ढालों पर बरसने वाले पानी के तीव्र और बेगवान प्रवाहों को रोकने के लिए कुछ भी बन्धन नहीं होने से पानी तेजी से बहता है और नीचे की उपजाऊ जमीन को बहा ले जाता है तथा वह उपजाऊ मिट्टी को नष्ट कर बालुकामय जमीन बना लेता है।

एक स्थान पर तीन या पाँच वर्ष कुरुवा करने के बाद उस स्थान को त्याग दिया जाता है और नये स्थान में जंगल काट कर वहाँ इस प्रकार की खेती की जाती है। इस प्रकार कुरुवा प्रथा के कारण इस जिले में जंगलों का तेजी से ह्रास हो रहा है। वर्षा कम होने से खेती का उत्पादन भी कमता जा रहा है और अक्सर अकाल जैसी परिस्थिति उत्पन्न हो जाती है। सौरिया अधिकतर शराब प्रेमी होते हैं अतः जो कुछ वे उपजाते हैं तीन-चार मास में ही सबके सब महाजनों के घर पहुंचा आते हैं। माल पहाड़ियों में हल के द्वारा खेती करने की प्रथा भी चल पड़ी है। कुरुवा खेती के अलावा, जंगलों से लकड़ियाँ चुनकर या काटकर बेचना भी सौरिया लोगों की जीविका का दूसरा महत्वपूर्ण साधन है।

पहाड़िया लोग पहाड़ पर पैदा होने वाले तथा जंगलों में पाये जाने वाले कंद-मूल तथा फलों को भी बेचकर अपनी जीविका चलाते हैं। जमीन की मालगुजारी सरकार इन लोगों से नाममात्र की लेती है। दो आने प्रति बीघा से एक पैसा प्रति बीघा तक मालगुजारी की दर है।

सामाजिक व्यवस्था:

सौरिया पहाड़िया के समाज में कबीला व्यवस्था का सर्वथा अभाव है। बिहार की अन्य जन जातियों में इष्ट चिन्ह पर आधारित कबीला व्यवस्था का बहुत महत्वपूर्ण स्थान है। कबीला सम्बन्धी इष्ट चिन्ह पूज्य होते हैं और ब्याह सम्बन्ध कबीला के बाहर किया जाता है। परन्तु सौरिया सामाजिक व्यवस्था में इस पद्धति का सर्वदा अभाव है। सरकार ने अपनी पुस्तक "दी मालर आफ राज महल" में सौरिया के बीच पाये जाने वाले क्षेत्रीय वर्गीकरण की ओर संकेत किया है। एक पहाड़िया के अनुसार पहाड़िया की निम्नलिखित क्षेत्रीय श्रेणियाँ होगी : (१) सौरिया पहाड़िया (२) हिरनपुर के दक्षिण में रहने वाले कुमार भाग (३) सीमलोंग बंगला में रहने वाला डाकरनी (४) बतभंगा और बंदरकोला में रहने वाली पूर्वी (५) गोड्डा के पाटें (६) गंगा नदी के उत्तर में रहनेवाले गंगा मोट्टा (७) पहाड़ की तलैटी में रहनेवाले धांगरे पहाड़ियाँ (८) गंगा के उस पार रहनेवाले उर धांगर (९) चंदना बंगाल के दक्षिण में रहनेवाले माल पहाड़िया (१०) पश्चिम के देशी पहाड़िया (११) पूरब के छेट्टहा पहाड़िया और (१२) नूनीहाट के बरही पहाड़िया।

पहाड़िया के बीच में इस क्षेत्रीय वर्गीकरण का कोई विशेष महत्व नहीं। प्रत्येक वर्ग का विवाह भी उसी वर्ग में सीमित नहीं है। हाँ, माल और कुमारभाग नामक पहाड़यों ने अब तो विभिन्न जातियों का रूप धारण कर लिया है और उनका शादी विवाह उन्हीं के मध्य सीमित है। फिर भी यह दिलचस्प बात है कि पहाड़िया इन्हें अभी भी अपनी महती जाति का एक क्षेत्रीय वर्ग मानते आ रहे हैं।

सौरिया पहाड़िया समाज की इकाई परिवार ही है। पति पत्नी और उनके अविवाहित बच्चे ही एक परिवार के सदस्य होते हैं। संयुक्त परिवार की प्रथा उनके बीच नहीं मिलती है। साधारणतः एक पत्नी विवाह की प्रथा पर सौरिया परिवार का संगठन होता है। परन्तु बहु-पत्नी विवाह के उदाहरण भी देखने को

मिलते हैं। सम्पत्ति का एक मात्र अधिकारी पुत्र ही होते हैं। स्त्री पुरुष के बीच कामों का बँटवारा तो है अवश्य परन्तु परिवार के कल्याण के लिए दोनों योनि के सदस्य हिलमिल कर काम करते है। पहाड़िया स्त्रियाँ, पुरुषों से अधिक काम करती हैं, और पुरुषों की आज्ञा का उल्लंघन नहीं करती हैं। ग्राम पंचायत में स्त्रियाँ न सदस्य होती हैं और न उसकी बैठक ही में शरीक हो सकती हैं। फिर भी साधारणतः स्त्रियों का स्थान सौरिया समाज में ऊँचा ही है।

जन्म-संस्कार :

सौरिया पहाड़िया लोगों में किसी के यहाँ बच्चा होने पर पाँच दिनों तक छूत मनाया जाता है। इसलिये जबतक नवजात शिशु की छट्ठी नहीं हो लेती, गाँव के लोग उसके घर की बनी कोई चीज नहीं खाते-पीते हैं। पाँच दिनों तक चूल्हे की राख बाहर फेंकी नहीं जाती। प्रसौती को घर की चीजें छूने को मनाही रहती है। खाना-पीना सब कुछ घर के दूसरे लोग उसे देते हैं। जच्चे के अतिरिक्त नवजात शिशु के पिता को भी छूत लगती है। छट्ठी से पहले न वह जंगल से लकड़ी ही काट कर ला सकता है और न कृषि सम्बन्धी ही कोई काम कर सकता है। उस अवधि में उसके लिये दूसरे के घर द्वार पर जाने का निषेध है। उसे उस अवसर पर पत्नी और शिशु की निगरानी करनी पड़ती है।

बच्चे की छट्ठी पाँचवें दिन होती है। सौरिया भाषा में उसे "मां सांक शेरी" कहा जाता है। छट्ठी के दिन बच्चा और जच्चा दोनों नहा-धो कर "पवित्र" होते हैं। घर के और लोग भी नहाते धोते हैं। उसी दिन चूल्हे की राख के साथ बच्चे की नाभी बाहर फेंकी जाती है। उस दिन प्रसौती ही रसोई बनाकर लोगों को खिलाती है। ऐसा करने से छूत मिटा हुआ समझा जाता है। परन्तु दो एक जगह रिवाज यह भी है कि जिस दिन नवजात शिशु की नाभी झड़ती है उसकी छट्ठी भी उसी दिन होती है, पहले नहीं। इस प्रकार भी छः सात दिनों के अन्दर छट्ठी हो जाया करती है।

छट्ठी के दिन ही नवजात शिशु का नाम भी रक्खा जाता है। पति-पत्नी आपस में सलाह करके कोई नाम चुनते हैं। बच्चा अक्सर अपने दादा-दादी, चाचा-चाची, नाना-नानी, मामा-मामी आदि का नाम पाता है। इस प्रकार एक ही नाम दुहराया जाता है। प्रत्येक पहाड़िया गाँव में सूर्या, देवा, धर्मा, गुइया, सूर्यी, धर्मी, बामड़ा, जबड़ा, गुलिया, जलिया, देवी, जबरी आदि नामों की बहुलता है। यदि

उन्हें अलग-अलग पहचानना हो तो सबसे निरापद तरीका यह होगा कि नाम के साथ उसके पिता का नाम भी जान लिया जाय, अन्यथा आदमी चक्कर में पड़ जा सकता है।

विवाह संस्कार :

पहाड़िया लोगों में विवाह समाज का एक आवश्यक और पवित्र बन्धना समझा जाता है। यद्यपि इन लोगों में कोई गोत्र नहीं होता फिर भी विवाह में गोतिया अथवा निकट रिश्ते का विचार अवश्य किया जाता है। चचेरे, फुफेरे अथवा ममेरे भाई बहनों में विवाह सम्बन्ध नहीं होता। हाँ, देवर भाभी में पुनर्विवाह होता है। अपनी सालियों से विवाह किया जा सकता है, पर जेठ सासों (पत्नी की बड़ी बहनों) और छोटे भाइयों की स्त्रियों से कदापि नहीं। पहाड़िया समाज ऐसे विवाहों की अनुमति नहीं देता। विधवा विवाह, वहु विवाह और तलाक का रिवाज भी सौरिया लोगों में प्रचलित है। विवाह के लिये कोई खास समय नहीं है, वर्ष में किसी भी समय विवाह हो सकता है।

विवाह अधिकतर बर कन्या की पसन्द पर ही होता है। विवाह वार्ता के लिये साधारणत: वर पक्ष की ओर से एक घटक नियुक्त किया जाता है। जिसे पहाड़िया बोली में "सिटू" कहा जाता है। वह "सिटू" मध्यस्थ बनकर दोनों ओर से विवाह की बातें तय करता है। लेन-देन का फैसला भी वही करता है। सौरिया समाज में बधू के लिये आज-कल दस-बीस से लेकर सौ दो सौ रुपये तक "बिते" यानी बधु शुल्क" देना पड़ता है! पहले सिर्फ एक मुर्गी और एक माला दी जाती थी। "बिते" पर बधू के अभिभावकों का अधिकार होता है। दोनों ओर से बात पक्का हो जाने पर विवाह का दिन निश्चित किया जाता है। बारात जाने के लिये गाँव के लोगों और रिश्तेदारों को न्योता दिया जाता है, बारात को ले जाने के लिए कन्या पक्ष के पाँच आदमी वर के यहाँ आते हैं। उन्हें "लामू सिटू" कहा जाता है। "लामू सिटू" लोगों का अच्छा सत्कार किया जाता है। इस प्रकार खाने-पीने के बाद तैयार होकर साधारणत: दिन के तीसरे पहर बारात रवाना होती है। इस सिलसिले में सौरिया पहाड़िया लोगों की कुछ खास बातें ये हैं : बारात में स्त्रियाँ भी जाती हैं, सिर्फ पुरुष ही नहीं। उसमें न तो किसी तरह के बाजे गाजे रहते हैं और न ढोल पालकी ही। सभी व्यक्ति पैदल ही बारात जाते हैं वह भी अपनी साधारण वेश-भूषा में ही। परन्तु कपड़े जरा साफ-

सुथरे पहने जाते हैं। "लामू सिट्टू" लोगों को "बिते" (वधू मूल्य) के पाँच रुपये देकर, बारात रवाना होने से कुछ काल पहले ही विदाकर दिया जाता है।

बारात जब कन्या के गाँव में पहुँचती है, उसका स्वागत कन्या पक्ष वालों की ओर से किया जाता है। सबसे पहले वर के पाँव धोये जाते हैं फिर बारात के अन्यान्य लोगों को भी अपने ही घर पर बिठाया जाता है, संथालों की तरह अन्यत्र कहीं डेरा नहीं दिया जाता। रात को करीब सात-आठ बजे दोनों के बड़े-बूढ़े, स्त्री-पुरुष, वधू के घर में एकत्र होते हैं। उसी समय सबके समक्ष ही विवाह होता है। वर-वधू को आमने-सामने बिठाया जाता है। वर को पूरब मुंह तथा तथा बधु को पच्छिम मुंह। इसके बाद उपस्थित लोगों के सामने ही वधू के हाथ में वर की ओर से एक रुपया और एक तरह की सफेद माला की दो तीन लड़ियाँ समर्पित की जाती हैं। वधु उसे सहर्ष ग्रहण करती है। 'बिते' यानी वधू मूल्य के बाकी रुपये भी उसी समय चुका दिये जाते हैं। विवाह की रस्म पूरी कराने के लिये सौरिया लोगों में एक पुरोहित होता है जो 'बेद सिट्टू' कहलाता है। वह वर के दाहिने हाथ की कनगुरिया अंगुली में सिन्दुर लगा देता है और वर अपनी उसी अंगुली से वधू के कपोल और नाक पर योग चिन्हाकार टीका आँक देता है। ऐसा ही पाँच बार किया जाता है। फिर वधू का बाप या भाई, बर के माथे पर सिन्दूर का एक टीका लगाता है। तदुपरान्त वधू के हाथों को धोकर "वेद सिट्टू" के हाथ में सौंपते हुए उसका पिता कहता है देखो, यह लड़की हम तुम्हें सौंपते हैं। इसमें कोई दोष नहीं है। तुम इसे ले जाओ और इसका भरण-पोषण करो। वेद सिट्टू भी उसी प्रकार वधू को वर के पिता के अथवा बर के हाथ में सौंपता है। विवाह की वास्तविक रस्म पूरी हो जाती है परन्तु उसके बाद भी कुछ ऐसी रस्में हैं जो उल्लेखनीय हैं।

विवाह हो जाने के बाद साधारणतः एक पशु (बैल) मारा जाता है और सभी इकट्ठे हुए लोगों को भोज दिया जाता है। वर-वधु को एक साथ, एक ही थाल में भोजन कराया जाता है। पति-पत्नी का एक साथ भोजन करना, पहाड़िया जीवन में पारस्परिक प्रेम का सूचक समझा जाता है। फिर बारातियों को भी भोजन कराया जाता है। खाना-पीना हो जाने के बाद कन्या की विदाई होती है। "बेद सिट्टू" वर के हाथ में वधु का दाहिना हाथ डाल देता है। वर अपनी पत्नी के दाहिने हाथ की कनगुरिया अंगुली को पकड़े हुए घर से बाहर आता है। बारात के दूसरे लोग उनके पीछे हो लेते हैं। दरवाजे पर कन्या की छोटी बहन

उनका रास्ता रोकती है। इसके बदले उसे दो आने पैसे मिलते हैं। तब जाकर नव दम्पत्ति को बाहर जाने दिया जाता है। घर से बाहर आने पर नव दम्पत्ति "झरडी गोसाई" नामक देवता के 'थान' में थोड़ी देर बैठती है। वहाँ गांव का 'भरडारी' नव दम्पत्ति की मंगल कामना और प्रार्थना करते हुए 'झरडी गोसाई' 'बेरू गोसाई' (सूर्यदेव) और बलपू गोसाई (चन्द्रदेव) के नाम से जल और एक मुर्गी की बलि चढ़ाता है और मुर्गी के खून के छींटे नव दम्पत्ति पर छिड़के जाते हैं देवताओं के आशीर्वाद स्वरूप। और इसके बाद ही विवाहित-जोड़ी बारातियों के साथ अपने गाँव को विदा होती है।

अपने गाँव में पहुँचने पर नव दम्पत्ति सर्वप्रथम गांव के 'झरडी गोसाई' थान में आती है। वहाँ भी पहले की तरह 'भरडारी' के द्वारा देवी-देवताओं को जल तथा मुर्गी की बलि चढ़ाई जाती है और विवाहित जोड़ी को आशीर्वाद दिया जाता है। इसके बाद वे घर में बैठते हैं।

विवाह के पाँचवें दिन नव दम्पत्ति 'बेद सिट्टू' के साथ कन्या के पिता के घर जाती है। साथ में हांड़ी पोचाई और एक मारा हुआ पशु (बकरा या सुअर) भी ले जाया जाता है। उन चीजों को लेकर एक प्रीति भोज होता है। खाने पीने के बाद नव दम्पत्ति उसी दिन अपने घर लौट जाती है। यहीं से वे दोनों अपने वास्तविक गृहस्थ जीवन में प्रवेश करते हैं।

सौरिया लोगों में, विवाह में सिन्दुर का व्यवहार अनिवार्य नहीं है। पता लगा है कि बिना सिन्दुर के भी विवाह होते हैं। हाँ, विवाह में माला का दिया जाना अनिवार्य है। वर की ओर से माला की दो-तीन लाड़ियाँ वधू को दी जाती हैं और वधू का हाथ वर के हाथ में सौंप दिया जाता है। विवाह में नव दम्पत्ति का एक साथ, एक ही थाल में भोजन करना आवश्यक है।

परन्तु सच तो यह है कि इनलोगों में अधिकांश शादियाँ कन्या हरण के द्वारा ही होती है, जिसके उदाहरण दांदना बंगाल के कई गाँवों में मिले हैं। बात यह है कि हरण के द्वारा जो शादियाँ होती हैं, उनमें 'बिते' (वधु मूल्य) अधिक नहीं लगता, दस बारह रुपये से ही काम चल जाता है। अतः जब कभी किसी गाँव में कोई उत्सव समारोह होता है, तब प्रेमी युगल आपस में मिलते और वहीं से सीधे वर के घर पहुंच जाते हैं। पीछे जब कन्या पक्ष की ओर से इसकी खोज और पकड़ होती है तब थोड़ा बहुत 'बिते' दे दिया जाता है।

सौरिया समाज में एक ही गाँव में शादी करना बुरा नहीं समझा जाता है। इस समय तो अधिकतर शादियाँ गाँव में ही हो जाती हैं। सौरिया समाज में तलाक का रिवाज यह है कि लड़की की ओर से तलाक हो रहा हो तो लड़के को उसके 'बिते' के कुल रुपये वापस मिलेंगे, परन्तु यदि लड़के की ओर से हो तो उसे कुछ नहीं मिलेगा।

मृतक संस्कार :

किसी की मृत्यु होने पर उसे उसी खाट पर श्मशान ले जाया जाता है जिसपर उसकी मृत्यु हुई हो। मृत व्यक्ति को उसकी सभी चीजें भी सौंप दी जाती हैं। पहाड़िया लोगों का विश्वास है कि मृत व्यक्ति को परलोक में भी उन चीजों की जरूरत होती है अतः उसकी निजी चीजों को रखना उचित नहीं समझा जाता। ऐसी हालत में उसकी कुल्हाड़ी, उसके तीर-धनुष, उसके कपड़े-लत्ते, उसके लाठी-डंटा सब कुछ उसके साथ ही खाट पर रख दिये जाते हैं। मृतक खाट, श्मशान जाने के लिये उठते ही, घर में, उसके इर्द-गिर्द और रास्ते में, शव के आगे-पीछे धान के दाने छींटे जाते हैं। स्त्रियाँ भी शव के साथ कुछ दूर जाकर, साधारणतः किसी चौराहे से, घर लौट आती हैं, परन्तु कहीं-कहीं वे श्मशान तक भी जाती हैं। रास्ते में शव को, स्त्रियों के द्वारा उसके अन्तिम दर्शन करने के लिए, एक बार जमीन पर रक्खा जाता है।

सौरिया लोगों में लाश गाड़ने का रिवाज है और जलाने का भी। यदि किसी नर या नारी की मृत्यु चेचक, हैजा इत्यादि बीमारियों से होती है तो उसकी लाश को जंगल मे छोड़ आते हैं। लाश को जंगली जानवर खा जाते हैं परन्तु कुछ क्षेत्रों में गाड़ने की भी प्रथा है। मृतक की चिता पूरब पश्चिम बनायी जाती है। मृतक का सिर पश्चिम की ओर रक्खा जाता है। लाश को दफनाने के बाद कब्र पर बड़े-बड़े पत्थरों के ढ़ेर लगा दिये जाते हैं। उसके चारों कोने पर मछली अथवा मुर्गी का मांस और मकई की खिचड़ी, ये दोनों चीजें थोड़ी-थोड़ी रख दी जाती हैं। उसके ऊपर थोड़ी सी आग सुलगाकर रख दी जाती है। यह सब कृत्य समाप्त कर लोग घर की ओर लौटते हैं और रास्ते में ही किसी जलाशय में नहा-धोकर सीधे घर आ जाते हैं। घर लौटते समय वे लोग श्मशान की ओर मुड़कर देखते तक नहीं। किसी की मृत्यु के बाद इनलोगों में छूत का कोई सवाल नहीं रहता, परन्तु अपनी हैसियत और सुविधा के अनुसार समय पर भोज (श्राद्ध) अवश्य दिया जाता है। भोज में गाँव के लोग और अपने रिश्तेदार निमंत्रित

किये जाते हैं। भोज में साधारणतः एक बकरा, सूअर या भैंसा (गाय, बैल) मारा जाता है। उपस्थित लोगों को खिलाया पिलाया जाता है। 'हंड़िया' भी खूब पी जाती है। लोग रात भर नाचते गाते रहते हैं। सबेरा होते ही, उनका 'देवासी' (पुजारी) नजदीक के किसी पोखरे या नदी में जाकर मृत व्यक्ति का तर्पण किया करता है, उसकी आत्मा की शान्ति के लिए देवी देवताओं की प्रार्थना करता है।

सौरिया लोगों में भोज में भरपूर उत्सव मनाया जाता है। खासकर युवकों और युवतियों के लिए उनका 'भोज' अत्यधिक आकर्षण की वस्तु है। नाच-गान का खूब रंग रहता है।

पर्व-त्योहार तथा धार्मिक विश्वास:

सौरिया पहाड़िया अनेक देवताओं की पूजा करते हैं। 'बेड़ गोसांई' (सूर्य-देवता), 'बिल्ब गोसांई (चन्द्रमा), लैहू गोसांई (सृष्टि के रचनेवाले), दरमारे गोसांई (सत्यदेव), तथा जरमात्रे गोसांई (जन्म के देवता) हैं। उनलोगों का विश्वास है कि लैहू गोसांई (सृष्टि के रचनेवाले) सबसे शक्तिशाली देव हैं। इन देवताओं की पूजा तथा प्रार्थना प्रायः सब धार्मिक संस्कारों के समय की जाती है। सूर्य तथा चन्द्रमा तो आकाश में दिखाई पड़ते हैं, अतः इनकी पूजा प्रायः सभी धार्मिक कार्यों में होती है।

सौरिया के बनाए किसी मन्दिर का पता नहीं चलता है, पर राजमहल सब डिविजन में बरहैट के पास स्थित एक पहाड़ की गुफा में जो राजेश्वरनाथ शिव का मंदिर है (राजेश्वर स्थान) इसे वहाँ के पहाड़िया अपना देवता बतलाते हैं और उस मंदिर को अपने अधिकार में लाने के लिए उनलोगों ने राजेश्वरनाथ जी के पुजारी पर नालिस भी की थी।

पहाड़ियों में पुजारी की कोई विशेष जाति नहीं होती। प्रत्येक गाँव में एक 'भंडारी' रहता है उसका काम है पूजा का प्रबन्ध कराना, उसके लिए सामग्रियों को इकट्ठा करवाना या बिधि बतलाना। उपर्युक्त देवताओं के अतिरिक्त लगभग दो दर्जन छोटे-छोटे देवताओं या भूत प्रेतों की भी पूजा वे लोग करते हैं। स्त्रियों तथा लड़कियों को अक्सर भूत पकड़ लेते हैं और उन लोगों पर भूत भरने लगते हैं। उस अवसर पर ढोल बजाया जाता है, मुर्गी की बलि दी जाती है और कभी-कभी पुरुष भी उसके साथ नाचने लगते हैं।

कहीं-कहीं सौरिया लोग अपने गाँवों के रास्ते पर पत्थरों पर तरह-तरह के चिन्ह तथा रेलगाड़ी, छाता, तलवार, बंदूक, सिपाही, महावत, हाथी आदि बना कर गाड़ देते हैं और उनकी पूजा करते हैं। वे समझते हैं कि देवता (भूत) बीमारी का रूप धारण कर रेलगाड़ी, हाथी या अन्य सवारियों पर चढ़कर आते हैं। अतः पूजा करने पर वे नहीं आवेंगे।

सौरिया पहाड़िया लोगों की प्रमुख फसलें मकई, घंघरा (बरबटी) और बाजरें की है। ये लोग भी अन्यान्य आदिमजातियों की तरह, नई फसल होने पर उसे सबसे पहले अपने देवताओं को चढ़ाते हैं। उन्हें चढ़ाये बिना किसी नये अन्न का खाना वर्जित है। देवी-देवताओं को वर्ष का नया अन्न चढ़ाना त्योहार के रूप में मनाया जाता है त्योहार को ये लोग अपनी भाषा में आड़या कहते हैं। इस प्रकार मकई की फसल होने पर 'गांगि आड़या' घंघरा की फसल होने पर 'ओसरा आड़या' तथा बाजड़े की फसल होने पर 'पुनु आड़या' मनाया जाता है।

पहाड़िया लोग बिल्ली, कुत्ता, घोड़ा, गिद्ध, चील्ह, सियार, भेड़िया तथा लकड़बघ्घा के मांस नहीं खाते। यदि कोई पहाड़िया भूल से किसी कुत्ता या बिल्ली को मार देता है तो गांव के पश्चिम ओर के रास्ते पर चावल, अंडा तथा पचोई से उसे पूजा करनी पड़ती है, और सूर्य भगवान की भी पूजा करनी होती है।

सामाजिक एवं राजनैतिक संस्थाएँ :

प्रत्येक पहाड़िया गाँव में एक मुखिया रहता है जिसे 'मांझी' कहते हैं। वह गाँव से सरकारी मालगुजारी वसूल करता है तथा पुजारी का भी कार्य करता है। गाँव में एक गोडाइत (सूचना देनेवाला) भी रहता है उसे 'भंडारी' कहा जाता है। प्रत्येक १५ या २० गाँवों पर एक नायक रहता है और प्रत्येक ७० या ८० गाँवों पर एक सरदार रहता है। भिन्न-भिन्न सरदारों का इलाका पहाड़ कहलाता है। ये सरदार प्रतिमास सब डिविजनल अफसर के सामने एक निश्चित दिन को हाजिरी देते हैं और अपने-अपने इलाके की गैर-कानूनी कार्यों की सूचना देते हैं। जन्म तथा मृत्यु की सूचना भी इन्हें ही देनी पड़ती है।

पहाड़िया सरदारों, नायकों तथा माँझियों को सरकार की ओर से मासिक वृत्ति मिलती है। इस जिले में इस समय इनके १८ सरदार हैं जिनमें १६ को १० रुपया प्रतिमास वृत्ति मिलती है और दो को पाँच-पाँच रुपये प्रतिमास। नायकों

की संख्या २६ है। उन्हें तीन रुपये प्रतिमास तथा मांझी को २ रुपये के हिसाब से वृत्ति मिलती है। ईस्ट इण्डिया कम्पनी के शासन के प्रारम्भ में पहाड़ियों ने उनके खिलाफ काफी विद्रोह किया था। उनलोगों को शान्त करने के लिए जो योजना कम्पनी सरकार ने स्वीकार की थी उसी का एक अंग था वृत्ति [redacted]

सामाजिक कार्यों तथा साधारण अपराधों की देख-रेख के लिये पंचायत की प्रथा भी उनमें प्रचलित है। प्रत्येक गाँव का मुखिया, मांझी, भण्डारी, कोटवार (पंचायत का व्यवस्थापक) तथा गिरी अर्थात् गाँव का प्रभावशाली व्यक्ति पंचायत के सदस्य रहते हैं। यह प्रथा टूटती-सी मालूम होती है। सरदार इलाके भर का न्यायकर्त्ता अर्थात जज समझा जाता है।

पहाड़िया गाँवों में कुंवारे युवकों तथा कुवाँरी युवतियों के लिए अलग-अलग वास गृह का भी पता लगता है। युवकों के लिए इस प्रकार के घर को 'कोड बाहा आडा' कहते हैं। इसके नियमों का पालन पहले बहुत कड़ाई से होता था। युवक तथा युवतियों में अनियमित संसर्ग का पता लगने से उनके दिखाई पड़ने वाले शरीर के अंग को गर्म लोहे से दाग दिया जाता था पर अब ये नियम उठते जा रहे हैं।

शिक्षा :

सौरिया पहाड़िया में शिक्षा का अत्यधिक अभाव है। वे लोग एक प्रतिशत भी साक्षर नहीं कहे जा सकते। परन्तु अब इस ओर बहुत कुछ प्रयत्न हो रहे हैं। संथाल परगना के कई स्थानों में इन लोगों के लिए मिडिल स्कूल खोल दिये गये हैं जहाँ छात्रों के रहने और खाने-पीने का भी पूरा प्रबन्ध सरकार की ओर से हो रहा है। इसके अलावे सौरिया पहाड़िया क्षेत्र मे अनेक प्राइमरी स्कूल भी खोल दिये गये हैं। दिनोंदिन इनलोगों को शिक्षित बनाने के लिये अनेक प्रयत्न सरकार एवं अन्य संस्थाओं द्वारा किये जा रहे हैं।

उपसंहार :

युगों से घोर उपेक्षा के गर्त में पड़े हुये इन सौरिया लोगों की समस्याओं में भूख, बीमारी, पानी और अशिक्षा की समस्यायें मुख्य हैं। पहाड़ों पर अधिक पैदावार होती ही नहीं और ये पहाड़ों से नीचे उतर कर खेती करने के आदी नहीं हैं। कई बार कोशिशें की गईं कि इन्हें पहाड़ियों की तलहटी में बसाकर खेती में लगाया जाय पर कोई लाभ नहीं हुआ। ऐसा लगता है कि ये लोग गैर-पहा-

ड़िया लोगों से आसंकित होकर पहाड़ों पर ही किसी तरह अपना जीवन व्यतीत करना अधिक पसन्द करते हैं।

पानी की भी एक बहुत बड़ी समस्या है जिससे पहाड़ियों को बहुत अधिक नुकसान हो रहा है। पहाड़ों पर के झरने एक तो जरूरत के लायक पानी नहीं दे पाते तथा वे भी गर्मी के दिनों में सूख जाते हैं। पानी की कमी के कारण वे लोग प्रायः स्नान नहीं कर पाते, इस तरह उनमें गंदगी बढ़ती है तथा नाना प्रकार के चर्मरोग, पेट की खराबी इत्यादि से पीड़ित रहते हैं। मुख्यतः सौरिया पहाड़िया कुरवा खेती पर ही आश्रित हैं। पर इसके लिए जो जमीन उनके पास है वह भी आवश्यक अन्न एक परिवार के भरण-पोषण के लिये नहीं दे पाती फलस्वरूप उन्हें भूखे रहकर या आधापेट खाकर किसी प्रकार समय काटना पड़ता है।

बिरहोर

बिरहोर छोटानागपुर की एक अल्पसंख्यक जनजाति है परन्तु अपनी सांस्कृतिक विशेषताओं के कारण यह विशेष उल्लेखनीय एवं महत्त्वपूर्ण है। ये अधिकांशतः हजारीबाग, रांची तथा पलामू जिले के जंगलों एवं पहाड़ों में घूमते तथा निवास करते हैं। इनकी कुछ आबादी बिहार, मध्य प्रदेश तथा उड़ीसा के सीमान्त क्षेत्रों में भी पाई जाती है परन्तु इन क्षेत्रों में १९४१ की जनगणना के अनुसार इनकी आबादी क्रमशः २०२ और ५४ मात्र हैं। बिहार में बिरहोर की जनसंख्या १९४१ की जनगणना के अनुसार २४९९ है। परन्तु पिछली जनगणनाओं के अनुसार इनकी आबादी ३०४५ (१९११) और १५१० (१९२१) और २३५० (१९३१) है। इन संख्याओं के आधार पर बिरहोर की जनसंख्या का सही-सही करार नहीं होता है। बात यह है कि वे एक जगह से दूसरी जगह घूमते रहते हैं और जंगल और पहाड़ी इलाकों में ही रहते हैं। इन कारणों से इनकी जनसंख्या सम्बन्धी सही आंकड़ा इकट्ठा करना भी कठिन है।

रहन-सहन की पद्धति के अनुसार बिरहोर दो श्रेणियों में विभक्त हैं जिन्हें क्रमशः उथलू और जांघी की संज्ञा दी गई है। जो बिरहोर अपनी अल्प सामग्रियों के साथ जंगल-जंगल घूमा करते हैं वे अपने को 'उथलू' फिरन्ता या 'भूलन्त' कहते हैं और जो बिरहोर घूमने की प्रणाली छोड़कर एक गांव में बस गये हैं उन्हें जांघी या पनोया कहा जाता है। जांघी और उथलू बिरहोर की श्रेणियाँ एक ही जनजाति की शाखाएं मात्र हैं और मूलतः कोई अन्तर नहीं है पर एक के द्वारा स्थाई रूप से अधिक संगठित गांवों में बस जाने के कारण दोनों के मध्य कितनी आर्थिक, सामाजिक तथा धार्मिक विभिन्नता बढ़ती जा रही है। उदाहरणार्थ जांघी की झोपड़ी उथलू की अपेक्षा अधिक मजबूत तथा स्थायी होती है। जांघी थोड़ी बहुत खेती भी करने लगे हैं परन्तु उथलू इसे एकदम अच्छा नहीं समझते। दोनों के मध्य सामाजिक दूरी भी बढ़ती जा रही है और दूसरे के यहां व्याह अथवा खाना शनैः-शनैः बन्द करते जा रहे हैं। जांघी के धार्मिक विश्वास में भी परिवर्त्तन होने लगे हैं। वे उथलू की तरह नाना प्रकार के जंगली जीवों तथा देवताओं का न वे पूजन करते हैं और न उन्हें नियमपूर्वक

बलि ही चढ़ाते हैं। इन कारणों से उथलू इन्हें नीच दृष्टि से देखते हैं और इन्हें अपवित्र समझते हैं। इस तरह की अन्य कितनी बिभिन्ताएं जोर पकड़ती जा रही हैं, जिनकी ओर प्रस्तुत निबंन्ध में यत्र-तंत्र संकेत किया जायगा। उथलू की संख्या जांघी से संम्भवतः अधिक है। उथलू विरहोर वर्षाऋतु के अतिरिक्त प्रत्येक समय एक जंगल से कुछ दूसरे जंगल में स्थानान्तरित होते रहते हैं। जहां गए वहीं पत्तों की झोपड़ी बना ली, झोपड़ी के पीछे 'सरना' देवस्थान स्थापित कर लिया, जंगलों में शिकार करने लगे, रस्सी बनाने लगे और किसी तरह अपना जीवन यापन करने लगे। उन्हें न अपने बिछुड़े परिवार के सदस्यों की चिन्ता है और न उनसे मिलने की प्रबल अभिलाषा ही। अस्थायी टोली (जिसे वे टंडा कहते हैं) में जो भी साथ रहे वही अपने हैं और उन्हीं के साथ रहना उनका कर्त्तव्य है। प्रस्तुत लेखक रांची के बिसुनपुर थाने के जंगलों में ऐसे ही भूलन्ता या उथलू बिरहोर की कितनी टंडाओं में घूमता रहा, अध्ययन करता रहा और उनमें सांस्कृतिक तत्वों का लेखा-जोखा-करता रहा। प्रस्तुत निबन्ध उन्हीं बिरहोर टंडाओं के सदस्यों के आधार पर लिखा गया है।

भौतिक एवं आर्थिक व्यवस्था :

उथलू बिरहोर छोटी-छोटी टोलियों में रहते हैं। इन टोलियों को बिरहोर भाषा में टंडा कहते हैं। प्रत्येक टंडा में छः या छः से अधिक झोपड़ियाँ होती हैं। इनकी झोपड़ी निकटवर्ती जंगलों में पाये जानेवाले वृक्षों की छोटी-छोटी शाखाओं एवं उनकी पत्तियों की बनी होती है। झोपड़ी की बनावट बड़ी सरल है और एक झोपड़ी का निर्माण दो-तीन व्यक्तियों की सहायता से तीन चार घंटों में किया जा सकता है। सर्वप्रथम ये वृक्ष की पतली-पतली शाखाओं को बांधकर झोपड़ी का ढ़ाँचा तैयार कर लेते हैं और इसके बाद इस ढ़ाचे पर पतों की छौनी डाल देते हैं। खेर की भी झोपड़ी बनती है। खेर की झोपड़ियाँ देखने में सुन्दर तथा मजबूत होती हैं। परन्तु बिरहोर पत्तों की ही झोपड़ी पसन्द करते हैं। बिसुनपुर से दो मील पूरब मंजीरा टंडा में (जून १९५५) दस झोपड़ियों में केवल एक (शनिचर की) खेर की बनी थी। सुखराम ने बताया कि खेर की झोपड़ी में हवा भीतर घुस जाती है जिसके कारण बिरहोर पत्ते की झोपड़ी पसन्द करते हैं। ये झोपड़ियाँ छोटी तथा बहुत कम उँची होती है। इनकी उंचाई इतनी कम होती है कि मनुष्य अच्छी तरह इसमें खड़ा भी नहीं हो सकता है। टंडा अधिकांशतः जंगली पहाड़ के किनारे स्थित रहता है। इसके अलावे टंडा अधिकांशतः ऐसी

जगह पर होता है जहा से वे हाट (तीन से पांच मील) पहुँचकर जंगली पदार्थों, रस्सी तथा काठ की बनी अन्य सामग्रियाँ बेच सकें। टंडा की स्थिति निश्चित करने में पीने के पानी की प्राप्ति का भी ख्याल रक्खा जाता है।

प्रत्येक टंडा में अधिकांशतः झोपड़ियाँ दो कतारों में होती हैं जिनके बीच में आने-जाने, उठने-बैठने, काम-काज करने अथवा बच्चों के खेलने के लिये काफी जगह छूटी रहती है। दो झोपड़ियों के बीच भी पूरी जगह छूटी रहती है, जहां बैठकर वे रस्सी बांटते अथवा काठ की वस्तुएं बनाते रहते हैं। कहीं-कहीं झोपड़ियां एक ही कतार में रहती हैं और कहीं झोपड़ियां बिखरी भी होती हैं।

प्रत्येक झोपड़ी में पति और पत्नी और उनके बच्चे रहते हैं। माता-पिता के साथ सोनेवाले बच्चों की उम्र आठ से दस हैं। इसके बाद वे गितिओरा में सोते हैं जिन्हें क्रमशः 'डींगडा कांडा' और डींगडी कुड्डी कहते हैं। शादी होने के पहले वे गितिओरा में सोते हैं। शादी हो जाने के पश्चात् वे अपने माता-पिता से अलग झोपड़ी बना कर वहीं अपनी नयी पत्नी के साथ रहते हैं। परन्तु उनका खाना बहुत दिनों तक माता-पिता के साथ ही बनता है। इन झोपड़ियों के अतिरिक्त एक या दो ऐसी झोपड़ियाँ होती हैं जहां सभी की मुर्गी और बकरियां रहती हैं। गितिओरा की झोपड़ी के पास जरा बड़ा मैदान रहता है जहां युवक-युवतियां एकत्रित होकर यदा-कदा नृत्य करते हैं।

बिरहोर की झोपड़ी में विशेष सामग्री नहीं रहती। भौतिक सम्पन्नता में वे सम्भवतः बिहार की सभी जनजातियों से निम्नतम स्तर पर है। मिट्टी के बर्तन में खाना पकाते तथा पत्तो के दोने में खाते हैं। अब वे कांसे का लोटा, कटोरा और थाली रखने लगे हैं। बिरहोर की झोपड़ी में ढोलकी तथा मान्दर नामक वाद्ययंत्र भी देखने को मिलते हैं। नगाड़े का उपयोग वे बहुत कम करते हैं। अधिकांशतः उनके वाद्ययंत्र गितिओरा में रखे जाते हैं। इनके अतिरिक्त प्रत्येक बिरहोर के घर में बन्दर पकड़ने का जाल, तथा काम की सामग्रियाँ बनाने के लिए बसुला टांगा, सवर, खखोरनी इत्यादि हथियार भी रहते हैं। शबर नामक औजार ढोलक और उखली बनाने के यंत्र हैं। बिरहोर की झोपड़ी के सामने अक्सर ऊखली और समाठ देखने को मिलते हैं। इनकी ऊखली काफी ऊँची होती है। वे जमीन पर ही चटाई बिछाकर सोते हैं। खाट का नाम तक नहीं जानते हैं। इनकी झोपड़ियों में बन्दर की खाल रस्सी या रस्सी के लिये चोप तथा जंगली पदार्थ अवश्य ही देखने को मिलेंगे।

बिरहोर कुछ पालतू जानवर भी रखते हैं। कुत्ता तो लगभग सभी परिवारों में होता है। कुत्ते बिरहोर के सच्चे मित्र हैं और जंगल जाने के समय इसे अवश्य ही साथ हो लेते हैं। वे अपने मालिक को शिकार करने में सहायता देते हैं, किसी तरह के आनेवाले खतरे की सूचना देते हैं तथा प्रत्येक हालत में साथ देते हैं। कुत्ते के अलावा प्रत्येक बिरहोर परिवार दो-चार मुर्गे-मुर्गियाँ रखते हैं। बकरी पालना उनका एक प्रिय काम है। इनके अलावा कभी-कभी सूअर भी पोसते हैं।

बिरहोर वस्त्र के नाम पर अपनी कमर में कपड़े का एक टुकड़ा बाँधे रहता है। जिसे वह अपनी भाषा में 'करिया' कहता है। शरीर पर एक दूसरा टुकड़ा रहता है जिसे गमछा कह सकते हैं। औरतें साड़ी पहनती हैं परन्तु शरीर का ऊपरी भाग नंगा ही रहता है। कभी-कभी अब वे बजाज चोली पहनने लगी हैं। नृत्य के लिये बिरहोर न कोई साज-शृंगार करते हैं और न कोई विशेष वस्त्र ही पहनते हैं। हाँ! केवल मर्द नाचने के समय पैर में पैजन पहनते हैं। शादी के समय नये कपड़े पहनने की रीति प्रचलित है। औरतें लोहे और कांसे के बने आभूषण पहनती हैं। गले में सिलवर की गोटीमाला, हाथ में कांसे की चूड़ी, पैर में कांसे अथवा सिलवर की पैरी इनका मुख्य आभूषण है। कान में तार के पत्ते का बना हुआ तरपत भी इनका प्रिय आभूषण है। नाक में बिरहोर महिलाएँ आभूषण नहीं पहनती हैं। जीविका के साधन के लिये बिरहोर मुख्यतः जंगल पर ही आश्रित हैं। प्रत्येक प्रातःकाल में वे जन समूहों में जंगल में जाते हैं। हाथ में हथियार और साथ में कुत्ते होते हैं। औरतें घर का काम काज देखती हैं। जंगल में वे कितने तरह के जानवरों का शिकार करते हैं जिनमें बन्दर (गरी), हनुमान (हड़), खरगोश (लम्बा), जंगली बकरी (लवना), गिलहरी (कुल्हप तूर) विशेष उल्लेखनीय है। बन्दर और हनुमान पकड़ने के लिये तो बिरहोर बिहार भर में प्रसिद्ध हैं। बन्दर पकड़ने के लिये इनलोगों को एक खास तरह का जाल बनाने की कला मालूम है। जाल पतली रस्सी का बना होता है जिसे लाठी के सहारे जंगल में बन्दर फँसाने के लिए खड़ा कर दिया जाता है। ज्योंही बन्दर इसमें फंसता है बिरहोर उसे लाठी से मारना शुरू कर देते हैं। इस तरह उसे मारकर वे घर लाते हैं। बन्दर का माँस खाने के लिये भी वे प्रसिद्ध हैं। बन्दर के चमड़े को वे गाँवों में घासी के हाथों या हाटों में जाकर अन्य व्यापारियों के हाथ बेच देते हैं। बिसुनपुर के बिरहोर से तो राँची और लोहरदगा से व्यापारी जाकर चमड़ा खरीदते हैं। चमड़े का दाम बड़ाई-छोटाई के अनुकूल सवा रुपये से लेकर आठ आने तक है। जंगल में यदि मरे हुए बन्दर भी मिलते हैं तो उनको लाकर वे

खा जाते हैं। वे ऐसे बन्दर की हड्डियाँ जिसे किसी बाघ ने किसी माह की अमावश्या या पूर्णिमा को मारा है, लाकर बेचते हैं। ऐसी हड्डियाँ उन्हें बहुत कम मिलती है या मिलने पर उसके बहुत ग्राहक मिल जाते हैं। इसके ग्राहक, मुंडा, रौतियार, ऊराँव और हिन्दू जाति के लोग भी हैं। उनका विश्वास है कि अमावश्या या पूर्णिमा के दिन बाघ द्वारा मारे गये बन्दर की हड्डी के टुकड़े रखने से उन पर किसी तरह की विपत्ति नहीं पड़ सकती है। इस विश्वास से भी कि हड्डी के रखने से उनकी सम्पति में वृद्धि होगी, भूत, प्रेत से रक्षा होगी, रोग बीमारी जाती रहेगी, वे डेढ़ या दो रुपये देकर बिरहोर से ऐसी हड्डी के टुकड़े की खरीद करते हैं।

शिकार के अतिरिक्त बिरहोर जंगल से कितनी तरह के फल-फूल, सागभाजी तथा कंद मूल इकट्ठा करके लाते है। फल में आम, इमली आदि विशेष उल्लेखनीय हैं, जो उन्हें ग्रीष्म ऋतु में मिलते हैं। फूल में महुआ का विशेष महत्व है जिन्हें औरतें और बच्चे जंगल से चुनकर लाते हैं। महुआ उनके खाद्य पदार्थ का एक प्रधान अंग है। औरतें कितनी तरह के खाने योग्य सागभाजी और कंदमूल भी खोजकर लाती हैं। जड़ों में 'पिस्का' विशेष प्रचलित है। पिस्का जनवरी, फरवरी और फिर जुलाई तथा अगस्त में पाया जाता है।

जंगल से बिरहोर रस्सी बनाने के लिये कितनी तरह के चोप भी लाते हैं। चोप अधिकतर लाभ, व्यार अथवा लत्तर का होता है। उराल नामक एक छोटे वृक्ष (शाल के सदृश्य) की शाखाओं से भी निकाला जाता है। रस्सी बनाने के उद्योग धन्धों में बिरहोर बहुत प्रवीण हैं। औरतें, बच्चे सभी रस्सी बनाना जानते हैं। इनकी बनाई हुई रस्सियाँ मजबूत और सस्ती होती है। उस क्षेत्र के सभी लोगों की रस्सी की माँग बिरहोर ही पूरी करते हैं। बिरहोर की जीविका का मुख्य साधन रस्सी का उद्योग धन्धा ही है।

रस्सी के अलावा बिरहोर को लकड़ी के भी कुछ उद्योग धन्धे मालूम हैं। जंगल से लकड़ी लाकर वे काठ की कितनी चीजें बनाते हैं, जिनमें ऊखड़ी, समाठ, ढोलकी, मान्दर, कठौत इत्यादि की अधिक बिक्री होती है। इनके बनाने में वे तरह-तरह की लकड़ी का उपयोग करते हैं। शलया बीजा, पेसार, कर्म, चम्पा, तेतरा, सीमर, भुरकुप नामक लकड़ी की ऊखड़ी बनती है। ढोलकी मान्दर इत्यादि के लिए बहिरा, हरा, बीजा नामक लकड़ी ही विशेष उपयोगी है। कठौत के लिए भी वे बीजा और खर नामक लकड़ी का उपयोग करते हैं। ये काठ की चीजें बनाकर बेचने से भी उन्हें अच्छी आमदनी हो जाती है।

बरसात के दिनों में विशेषतः जुलाई अगस्त के माहों में जब मर्दों के लिए जंगल जाना सम्भव नहीं रहता अथवा बहुत खतरनाक होता है, बिरहोर की औरतें विशेषतः इस समय कहीं-कहीं खेतों में मजदूरनी के काम करके जीविका अर्जन करती हैं। यही तीन मास बिरहोर के लिये महा संकट का काल है। सितम्बर-अक्तूबर से मध्य जून तक तो वे जंगलों के सहारे किसी न किसी तरह अपनी जीविका चला लेते हैं। खाने के लिये चावल नहीं मिलने पर भी जंगल के कंद मूल और शिकार के मांस खाकर अपना निर्वाह कर लेते हैं। परन्तु वर्षाकाल में उन्हें कई दिनों तक निराहार तक रहना पड़ जाता है।

टंडा व्यवस्था :

इन्हीं भौतिक साँस्कृतिक विशेषताओं के साथ उथल् बिरहोर अपने-अपने टंडलाओं में रहते हैं। प्रत्येक टंडा की अलग-अलग व्यवस्था होती है। टंडा में रहनेवाले परिवार उन सिद्धान्तों का पालन करते हैं। और एक दूसरे के कार्य-कलाप में सहयोग देते है। प्रत्येक टंडा का एक मुखिया होता है जिसे 'नाया' कहा जाता है। प्रेत की इच्छा के अनुसार कोई व्यक्ति नाया बनाया जाता है। 'नाया' ही टंडे का धार्मिक गुरू और सामाजिक नेता होता है। 'नाया' के देहान्त के पश्चात 'मति' के मुख से 'प्रेत' अपनी सम्मति प्रकट करता है। 'मति' धर्मावेश में आकर उस व्यक्ति की विशेषताओं पर प्रकाश डालता है जिसे 'भूत-प्रेत' नाया चुनना चाहते हैं। साधारणतः मृत 'नाया' का पुत्र ही दूसरा 'नाया' चुना जाता है और पुत्र के अभाव में उसी के परिवार का दूसरा आदमी निर्वाचित हो सकता है।

अपनी सहायता के लिये 'नाया' अपने स्थानीय समूह से एक व्यक्ति को नियुक्त करता है जिसे 'कोतबार' या 'डीगुआर' कहा जाता है। डीगुआर का काम 'नाया' की सूचनाओं को टंडा के लोगों तक पहुँचाना, शिकार की तैयारी करना और सामाजिक सभा को व्यवस्था करना है। 'नाया' और 'कोतवार' के अतिरिक्त प्रत्येक टंडा में एक या दो 'मति' होते हैं जो भूत-प्रेत के बारे में पूरी जानकारी रखते हैं। बीमारी होने पर उचित उपचार करते हैं और मंत्र-तंत्र में पूरी तरह दक्ष होते हैं। 'मति' का न निर्वाचन होता है और न नियुक्ति ही। वे तो अपनी शक्ति के बलपर इस ऊंचे स्थान को प्राप्त करते हैं। यदि किसी टंडा में 'मति' नहीं होता है तो दूसरे टंडा के मति से काम लिया जाता है। प्रत्येक टंडा में नाया भी नहीं रह सकता है। विसुनपुर थाने के सैरका और मंजीरा नामक दो टंडाओं पर (जून १९५५) एक ही नाया था जिसका नाम मंगरा था। सामाजिक अपराध

करने पर पंचायत बैठती है। पंचायत में दो 'नाया' और चार पाँच बड़े-बूढ़े व्यक्ति रहते हैं। अलग-अलग पंचायत के लिए अलग-अलग आदमी निर्वाचित कर लिये जाते हैं। उनमें कोई स्थाई पंचायत की प्रथा नहीं है।

एक टंडे में दो तीन या अधिक संयुक्त परिवार रहते हैं। एक परिवार के सदस्य दो तीन झोपड़ियों में अपनी पत्नियों के साथ निवास करते हैं। वे एक ही साथ खाना बनाते हैं परन्तु विभाजन हो जाने पर अलग-अलग खाना बनाते हैं और उनके आमद-खर्च का हिसाब अलग होता है। एक टंडले में रहने वाले परिवार एक ही गोत्र के हो सकते हैं या दो तीन गोत्रों के भी। इसके अलावा ये परिवार अधिकांशतः अलग-अलग एक स्थान से दूसरे स्थान में घूमते हैं। उदाहरणार्थ मंजीरा टंडला की नौ झोपड़ियों में तीन संयुक्त परिवार के लोग रहते थे (जून १९५५)। तीनों संयुक्त परिवार के तीन अलग अलग गोत्र थे: इन्दुआर, मुरा, और खेर। ये परिवार पिछले कितने वर्षों से दो झुण्डों में घूमा करते थे।

एक टंडला के सभी मर्द सदस्य एक ही साथ जंगल में शिकार करने जाते हैं। गारी सेंदरा या बन्दर के शिकार के अवसर पर वे कितनी तरह की धार्मिक विधि पूरा करने के बाद नाया के साथ जंगल जाते हैं और परम्परागत तरीका के द्वारा शिकार करके स्थाई पद्धति से उसका बंटवारा करते हैं। वर्षों में एक बार कितने टंडलाओं के सदस्य मिलकर जंगल में बन्दर के शिकार करने जाते हैं। इस अवसर पर भिन्न-भिन्न टंडलाओं के नाया और अनुभवी लोग मिलकर इस शिकार का प्रबन्ध करते हैं। और बड़े पैमाने पर शिकार किया जाता है। इस शिकार को क्षेत्रिय शिकार या 'दीसुम सेंदरा' कहा जाता है।

सेंदरा के अतिरिक्त अन्य आर्थिक कार्य कलापों में टंडला के परिवार अलग अलग हैं। प्रत्येक परिवार व्यक्तिगत रूप से जंगल से रस्सी बनाने के लिए चोप लाते हैं, काठ की वस्तुएं बनाने के लिए लकड़ी इकट्ठा करते हैं और कितनी तरह के अन्य जंगली पदार्थ हस्तगत करते हैं। यद्यपि टंडला में एक साथ बैठकर आपस में बातचीत करते हुए वे रस्सी बांटते हैं परन्तु इन कार्यों में कोई सहयोग का प्रश्न नहीं उठता है। धार्मिक क्षेत्र में भी टंडला के पैमाने पर कोई विशेष पर्व या पूजा नहीं होती है। प्रत्येक परिवार का अलग-अलग मुहूर्त है। हाँ, जब किसी परिवार में बलिदान पड़ा तो टंडे के सभी परिवार के सदस्यों को भी खाना खिलाया जाता है।

सामाजिक व्यवस्था

सामाजिक व्यवस्था के दृष्टिकोण से भी बिरहोर कम दिलचस्प और महत्वपूर्ण नहीं हैं। अन्य जातियों की तरह बिरहोर भी कितने कबीलों में बंटा है। प्रत्येक कबीले का नाम किसी जानवर, पक्षी, वृक्ष अथवा कोई अन्य वस्तु या घटना के नाम पर रक्खा गया होगा। श्री राय ने अपनी पुस्तक 'दि बिरहोर' में बिरहोर के बीच पाये जाने वाले सैंतीस कबीलों का नाम दिया है। विसुनपुर के बिरहोर ने प्रस्तुत लेखक को निम्न लिखित चौबीस कबीलों का नाम बतलाया:—

(१) इन्दुआर (२) केरकेटा (३) टोपवार (४) कछुआ (५) खेर (६) लकुरचट्टा मछली। (७) बसवार (८) थनवार (९) बराह (१०) कौआ (११) गिद्ध (१२) तिरीवर (१३) भूईया (१४) हेम्ब्रम (१५) गेरुआ (१६) गुंडरी (१७) केन्दुआ (१८) खड़िया (१९) लुडीजाल (२०) महली (२१) भुरुम (२२) सिगपुरिया (२३) सुईया (२४) तोरीयार।

बिरहोर अपने इष्ट चिन्हों को पूज्य समझते हैं और उनका अंशतः बिश्वास है कि वे उनके पूर्वज हैं। वे उनकी न हत्या करेंगे और न उन्हें कष्ट पहुँचायेगें। इन्दुआर गोत्र के एक सदस्य शनिचर ने बतलाया कि यदि इन्दुआर। (खखूटी)। पर गलती से पैर रक्खा जाय या छू जाय तो वह झुककर प्रणाम करेंगे और उसे लाकर घर पर पूजा करके छोड़ देंगे। कछुआ गोत्र वाले ने भी बतलाया कि कछुआ मिलने पर उसे घर पर लाकर पूजा करके उपयुक्त स्थान में छोड़ देगा। जहां तक सम्भव हो, वह दूसरों से भी अपने इष्ट चिन्ह नामधारी जीव या वस्तु की रक्षा करेगा। अपने कबीले के अन्दर व्याह करना भी वर्जित है।

इन सब निषेधों का केवल विवाहित बिरहोर द्वारा ही पूर्णरूप से पालन किया जाता है। जब शादी के पश्चात् वह पूर्णरूपेण कबीले का सदस्य हो जाता है, उसके लिये अपने इष्ट चिन्ह को हानि पहुँचाना अथवा उसकी हत्या करना, अपने कबीले के किसी सदस्य को हानि पहुंचाना अथवा हत्या करने के बराबर है। औरतों के लिये पति के इष्ट चिन्ह को हानि पहुंचाना अपने पति को हानि पहुंचाने के तुल्य है और उसकी हत्या करना भी पति की हत्या के समान है।

प्रत्येक बिरहोर का यह विश्वास है कि परम्परा से उसके कबीले के प्रथम सदस्य किसी स्थान विशेष में रहते थे जहां से वे इधर उधर भटकने लगे। ये स्थान छोटानागपुर में विशेषतः हजारीबाग और रांची जिले में स्थित हैं। जैसे हेरे हेम्ब्रम, रायगढ़ के पास, गिधी गोला के पास, महली बीसा में, नागपुरिया

चरणावेश के पास आदि। वर्ष में एक बार प्रत्येक कबीले के सदस्य जो एक ही टंडा में रहते हैं, एकत्रित होकर ओरा बोंगा की आराधना करते हैं और बलिदान चढ़ाते हैं। इस अवसर पर टंडा में रहने वाले दूसरे कबीले के लोग साथ नहीं दे सकते और कबीले का वृद्धतम सदस्य ही बलि देता है तथा पुरोहित का अन्य काम रहता है। इतना करने पर भी यदि वह अपने परम्परागत स्थान में, जहाँ उसका ओरा बोंगा या बुरुबोंगा निवास करता है, घूमते फिरते पहुंच गया, तो वह भयभीत हो जाता है और उस क्षेत्र से राह काट कर शीघ्र ही दिशा बदल लेता है। परम्परागत गुणों के आधार पर, कुछ कबीलों के सदस्य जादूगर और वीर समझे जाते हैं। ऐसा विश्वास है कि हेरे हेम्ब्रम और खुदी हेम्ब्रम कबीले के सदस्य का मौसम पर पूरा अधिकार है। यह भी विश्वास किया जाता है कि "करबल" कबीले के लिये कुछ अवसरों पर बाघ मित्र का काम करता है।

इनके अलावे भी बिरहोर के कबीलों के मध्य, खाद्य निषेध, पर्व और बलिदान के सिलसिले में विभिन्न रीति रिवाज प्रचलित हैं। श्री राय ने इस विषय पर प्रकाश डालते हुए लिखा है कि जहाँ नगपुरीया में कबीले के लोग अपने देवताओं को बैल की बलि देते हैं; खांगर, आड़ी, शामजा खोआ कबीले वाले बकरे की बलि देते हैं। मुरचु एक मुर्गे और एक बकरे की और हेरे हेम्ब्रम, चाउली हेम्ब्रम, भूईयाँ, माहली और सादा कबीले के लोग दो मुर्गों की बलि चढ़ाते हैं। पर्व मनाने में भी उनके बीच विभिन्नता है। श्री राय का मत है कि सरहूल पर्व, मुरचू साय, झाखाय, गैरोआ, बोंगा साउड़ी, खाँगर आँडी, लूडाम्ब और सादा कबीलों द्वारा बिरहोर समाज में गैर बिरहोर पड़ोसी जन जातियों के समाज से लाया गया है। इसी तरह कर्मा, सोहराय, चरम पूजा, जीतिया पर्व भी बिरहोर के दूसरे-दूसरे कबीलों के द्वारा लाया गया है। नावा-जोम नामक उत्सव, सभी कबीलों के द्वारा नहीं मनाया जाता। इसके अलावा अन्य रीति-रिवाजों में भी अन्तर देखने को मिलता है। भिन्न-भिन्न कबीलों में स्त्रियों के मासिक सम्बन्धी समय के नियम भी अलग-अलग होते हैं। जन्म और विवाह की प्रथा में भी कितनी तरह की विभिन्नता आ गई है।

बिरहोर में इन कबीलों के बीच जो अन्तर है उनके आधार पर यह निश्चय करना कठिन नहीं कि बिरहोर के बीच जनजातीय संगठन कमजोर पड़ता जा रहा है। श्री राय का मत है कि प्रत्येक कबीलों को बिरहोर कालान्तर में एक जाति मान ले सकता है। कबीला व्यवस्था की अपेक्षा टंडा व्यवस्था अधिक संगठित है। टंडा में ही दो तीन कबीलों के सदस्य सन्निद्ध हो एक ऐसा संगठन बनाते

हैं जो एक साथ शिकार करता है, खाद्य पदार्थ की खोज करता है और टंडला में सामाजिक एवं सांस्कृतिक कार्यकलापों में हिस्सा बँटाता है। यहाँ तक कि यदि टंडा के किसी परिवार में बच्चा होता है अथवा मृत्यु होती है तो छूत टंडा के सभी परिवारों को लगती है। यद्यपि उनके ओरा बोंगा और खूँट भूत अलग-अलग , परन्तु वे स्थानीय तथा शिकार सम्बन्धी भूत प्रेतों की आराधना और बलि में साथ देते हैं तथा प्रीति भोज में टंडा के सभी लोगों को निमंत्रण रहता है। इतना ही नहीं, यद्यपि कुछ जातियों को छोड़कर (चमार, घासी, डोम, लोहार आदि) बिरहोर के लिए मुंडा, संताल, भूइयाँ, उराँव तथा अन्य जातियों तथा जन जातियों के यहाँ भात खाना और पानी पीना वर्जित है, परन्तु वे अपने टंडला के बाहर वाले बिरहोर जो उनके कबीले के नहीं हैं, के यहाँ भात खाना और पानी पीना भी इनकार करने लगे हैं।

पारिवारिक जीवन :

बिरहोर का पारिवारिक जीवन सुखमय ही है। विभिन्नता के बावजूद भी, वे आध्यात्मिकता और शान्ति की खूंट नहीं छोड़ते हैं और परिवार के सभी सदस्य मिलजुलकर रहते हैं। वे पारिवारिक नियमों और निषेधों का अन्य जनजातियों की अपेक्षा अधिक ईमानदारी से पालन करते हैं। उन्हें हमेशा भय बना रहता है कि इनके उल्लंघन करने से उनके देवता असंतुष्ट हो जायेंगे और जंगल में उन्हें खतरे का सामना करना पड़ेगा और टंडा में बीमारी फैल जायगी।

स्त्रियों का स्थान बिरहोर परिवार में किसी तरह ऊँचा नहीं कहा जा सकता है। स्त्रियों पर घर के सभी कार्यों का पूरा उत्तरदायित्व रहता है। प्रातःकाल से ही वे घर साफ करने, पानी लाने और भोजन बनाने में लग जाती हैं। बच्चों की निगरानी की जिम्मेदारी भी उन्हीं पर रहती है। इनके अलावा अवकाश मिलने पर वे रस्सी बाँटने में भी मर्दों को पूरा सहयोग देती हैं। समीपवर्ती जंगलों से कंद मूल, महुआ, साग इत्यादि लाकर आहार की कमी भी पूरा करते हैं। काम करने में ढिलाई करने पर औरतों को पुरुष से खूब डांट-फटकार सुननी पड़ती है और कभी-कभी मार भी खानी पड़ती है। शनिचर का विचार था कि औरतें गुलाम हैं और मर्द मालिक! पिता की मृत्यु के बाद जो भी पैतृक सम्पत्ति (टांगा, बसुला, खखोरनी, बर्तन) रहती हैं वे भाइयों के बीच बांट दी जाती हैं। सबसे बड़े भाई को अन्य भाइयों से ज्यादा हिस्सा मिलता है और दूसरे भाइयों में भी जो बड़े होते हैं उन्हें छोटे भाइयों की अपेक्षा कुछ अधिक हिस्सा मिलता है। पुत्र नहीं रहने

पर उसके साथ रहने वाला घरजमाइ भी सम्पत्ति का उत्तराधिकारी होता है। घर जमाई के नहीं रहने और पिता की दाह-क्रिया में खर्च करने पर सम्पत्ति की अधिकारिणी पुत्री ही होती हैं. अन्यथा सम्पत्ति टंडा में रहनेवाले मृतक के निकटतम सम्बन्धियों को मिल जाती है। ऐसी परिस्थिति में पिता अपने लिए थोड़ी सम्पत्ति रखकर शेष पुत्रों के बीच बाँट देता है।

तलाक की प्रथा तो है परन्तु यह अधिक प्रचलित नहीं है। पंच के निर्णय के बाद ही सामाजिक रूप में तलाक हो सकता है। यदि पुरुष स्त्री को छोड़ना चाहता है तो उसे दस रुपये और यदि स्त्री ही पुरुष को छोड़ना चाहती है तो पाँच रुपये का दण्ड देना पड़ता है। परन्तु रुपये पैसे के अभाव के कारण तलाक का अवसर ही बहुत कम आता है।

जीवन-चक्र : बिरहोर के अनुसार जीवन उत्तरोत्तर विकसित होता रहता है। उनका मत है कि शैशवकाल से बचपन, किशोरावस्था, युवावस्था और वृद्धावस्था तक मनुष्य शनैः शनैः अपनी शक्ति बढ़ाता जाता है। लाभ पहुँचानेवाले प्रेतों से मित्रता बढ़ायी जाती है और हानि पहुँचानेवाली शक्तिओं पर विजय पायी जाती है। अन्त में यह मृत्यु की दुनिया में पहुँच जाता है और स्वयं भूत-प्रेत बनकर मनुष्यों को यथा समय हानि-लाभ पहुँचाया करता है। संक्षेपतः यही बिरहोर जीवन की श्रेणियाँ हैं जो चक्र के रूप में चलती रहती हैं। जिस समय शिशु गर्भावस्था में रहता है उसी समय से भूत प्रेत, जादूगर और डाइन से उसकी रक्षा करने के उपाय होने लगते हैं। किसी परिवार में जबतक गर्भवती औरत रहती है तबतक उसमें न भूत प्रेत की पूजा होती है और न किसी प्रकार की बलि ही दी जाती है। घर के बाहर जिन मुर्गों या बकरों का बलिदान होता है उनके सिर का माँस खाना औरतों के लिए हमेशा निषेध है और पत्नी की गर्भावस्था में पति के लिए भी यह वर्जित है। बिरहोर का यह विश्वास है कि इन नियमों का उल्लंघन करने से टंडा के सारे सदस्य कष्ट में पड़ जाते हैं। टंडा में बीमारी फैल जाती है, शिकार में असफलता होती है, और तरह-तरह की विपत्तियाँ आ घेरती हैं। हानिकारक नजरों से बचने के लिए गर्भवती औरत का पेट अच्छी तरह ढंके रहना चाहिये। खतरनाक प्रभावों से बचने के लिए ऐसी अवस्था में बिरहोर औरत को न मुर्दा देखना चाहिए और न मुर्दे जलाने से जो धुआं निकलता है उसपर ही दृष्टि डालनी चाहिए। नदी पार करना भी गर्भवती औरतों के लिए वर्जित है।

साधारणतः प्रसव के समय बिरहोर औरतों को अधिक कष्ट नहीं होता है। यदि अधिक प्रसव पीड़ा होती है, तो यह किसी हानिकारक प्रेत के कारण या उसके पाप के फलस्वरूप ही समझा जाता है। इनसे मुक्त होने के लिये 'मति' की सम्मति ली जाती है और कितने प्रकार के उपाय किये जाते हैं। ज्योंही प्रसव पीड़ा प्रारम्भ होती है, वह स्त्री दूसरी झोपड़ी में चली जाती है। यह झोपड़ी नई होती है और इसी काम के लिये बनाई जाती है। प्रत्येक बच्चे के जन्म के लिए एक नई झोपड़ी बनानी पड़ती है। उसकी देखभाल के लिए परिवार या टंडा की एक अनुभवी बूढ़ी औरत हमेशा साथ रहती है जिसे बिरहोर 'कुसरायन' कहते हैं। प्रसव के बाद कम से कम छ दिनों तक वह इसी झोपड़ी में रहती है। इस घर में मर्दों के जाने का बिल्कुल निषेध है।

बच्चे के जन्म के दिन ही उस टंडा के मर्द जाल और हथियार लेकर बच्चे का भाग्य अजमाने के लिये शिकार खेलने जाते हैं। बच्चे के जन्म के कारण टंडा में रहनेवाले सभी परिवार को छूत लगता है। 'थाथी' उत्सव के पहले न किसी के घर में पूजा होती है और न बलि ही चढ़ाई जाती है।

सातवें दिन थाथी (छट्ठी) उत्सव मनाया जाता है। इस दिन उस कबीले की सभी औरतें जो टंडा में रहती है, नाखून कटवाती है। अन्त में बच्चे के सिर का बाल छीला जाता है। बच्चे का यह बाल बहुत अपवित्र समझा जाता है और इसी हेतु उसे एक दोने पर रखकर किसी तालाब या नदी में छोड़ दिया जाता है। झोपड़ी की भी सफाई की जाती है। उसी झोपड़ी के आंगन में औरतों के बीच नगरीन मिट्टी से सिर मल कर नहाती है। कुसरायन बच्चे को हलदी और तेल मलकर नहलाती है। आर्थिक स्थिति के अनुसार वे नया या पुराना कपड़ा पहनते हैं। नया वस्त्र विशेषकर बच्चे के लिये शुभ समझा जाता है। थाथी उत्सव के प्रारम्भ होते ही, पुत्र रहने पर टांगा, टांगी और पुत्री रहने पर चोप इत्यादि झोपड़ी के भीतर रख दिया जाता है। उनका विश्वास है कि बड़े होने पर लड़की रस्सी बांटेगी और लड़का लकड़ी काटेगा।

इस उत्सव के बाद मां अपने नवजात शिशु के साथ पुरानी झोपड़ी में लौटकर आती है। वहां वह अपने पति का पैर धोती है और अन्य लोगों को भी प्रणाम करती है। सन्ध्या समय 'नाया' पूरब तरफ मुंह करके बैठता है, फिर एक लाल मुर्गा चौरासी पहाड़ के नाम तथा दूसरा काल मुर्गा 'महाली मट्टी के नाम से बलि करता है। ये मुर्गे नाया को पारिश्रमिक के रूप में मिल

जाते हैं जिन्हें वह उसी स्थान में पकाकर खा जाता है। इसके बाद सभी अतिथि मिलकर दो घड़ा चावल का शराब पीते हैं। इस अवसर पर उस कबीले का वृद्धतम व्यक्ति बच्चे के लिये आशीर्वाद के मंत्र उच्चारण करता है।

इसी अवसर पर बच्चे का नामकरण होता है। परिवार का सबसे वृद्ध पुरुष विशेषतः दादा (आजा) नाम चुनता है। थाली या कटोरे में पानी रहता है। दादा मंत्र उच्चारण करते हुए कोई नाम बोलता है और दोनों हाथ से एक-एक चावल पानी में गिराता है। यदि दोनों चावल आपस में मिल जाते हैं, वही नाम रह जाते हैं और नहीं मिलने से दूसरा नाम पुर्वजों अथवा दिनों के नाम पर रखे जाते हैं। इस थाथी उत्सव के बाद कहीं-कहीं छोटा थाथी भी उसी दिन मनाया जाता है परन्तु यह रिवाज विसुनपुर में रहनेवाले बिरहोर में नहीं मिला। उस क्षेत्र में पहली थाथी के दिन ही परिवार शुद्ध हो जाता और बच्चे का नामकरण हो जाता है। श्री शरत चन्द्र राय ने छोटी थाथी का उल्लेख किया है। उसके अनुसार पहली थाथी के बाद टंडला तथा दूसरी थाथी के बाद ही बच्चे का नाम करण होता है। शायद यह प्रथा हजारीबाग के बिरहोर के लिए सत्य हो परन्तु हमारे सूचकों ने इसकी कोई चर्चा नहीं की।

जो हो, नवजात शिशु मां और बहन की गोद में पलने लगता है। मां तो हमेशा निगरानी नहीं कर पाती फिर भी जहां तक सम्भव हो पाता है मां और उसकी बहन ही बच्चे को पीठ में बांधकर काम-काज करती रहती है। जन्म वर्ष के अगहन माह में ही बच्चे के कान छेद दिये जाते हैं। इस समय एक पारिवारिक उत्सव होता है जिसे 'थुतुई लुतुर' या कान छेदन उत्सव कहते हैं। छः माह की उम्र में उसका अन्न प्राशन उत्सव भी मनाया जाता है। परिवार की सबसे बूढ़ी औरत विशेषतः उसकी दादी (आजी) भात का प्रथम दाना खिलाती है। उसके बाद बच्चे की मौसी, फूआ और तब अन्य औरतें खिलाती हैं। दूसरे दिन पिता टंडला के सदस्यों को हंडिया पिलाते हैं।

साधारणतः बच्चा माँ का दूध तीन वर्षों तक पीता है। यदि उसकी मां को दूसरा बच्चा इस अवधि के पहले हो जाय, तो धीरे-धीरे उसका दूध पहले ही छूट जाता है। और यदि बच्चा नहीं हुआ तो पहला लड़का पाँच छः वर्षों तक भी दूध पीता रह सकता है। साधारणतः माँ बच्चे को बैठकर दूध पिलाती है। वह बच्चे को स्तन के पास बाँध देती है। दो वर्षों तक बच्चे का अधिकांश समय माँ और बहन की पीठ पर ही बंधे बीतता है। बिरहोर के बच्चे सावधानी पूर्वक पाले नहीं जाते हैं। रोने पर उन्हें अधिकतर भालू के नाम से डराते हैं। वे अपने बच्चे

को मारते भी बहुत हैं। बात नहीं मानने पर अथवा काम नहीं करने पर वे उसे खाना नहीं देने का भय दिखलाते हैं। यदि लड़का माता-पिता की बातों की अवहेलना कर खेलने भाग जाता है तो उसे पकड़ने की कोशिश करते हैं और नहीं पकड़े जाने पर रात में लौटने पर मारने का भय ताडना दिखलाते हैं। बच्चे झोपड़ी के पीछे स्थित सरना से भी डरते हैं। यद्यपि उनके लिए वहाँ पर जाना वर्जित नहीं परन्तु भय के कारण वे उधर फटकते भी नहीं हैं।

इस तरह बिरहोर बच्चे शनैः शनैः बड़े होने लगते हैं। दश वर्ष की आयु तक वे अपने माता-पिता की झोपड़ी में सोते हैं; परन्तु इसके बाद वे टंडला के 'गितिओरा' में सोने लगते हैं। लड़कियाँ औसतन आठ दस वर्ष से ही गितिओरा में सोने लगती है। कुमार लड़कों और लड़कियों के लिए टंडला की एक छोर पर अलग-अलग झोपड़ियाँ होती हैं जो एक दूसरे के समीप होती है। लड़के के गितिओरा (डिंडा कार) का कोई खास मुखिया नहीं होता है। परन्तु लड़कियों का गितिओरा (डींडा कोरी) व्यवस्था एक वृद्ध विधवा की देखरेख में रहती हैं। वृद्धा रात्री समय उसी झोपड़ी के द्वार पर सोती है और निगरानी करती है। गितिओरा टंडा के लड़के और लड़कियों के लिए परम्परागत तथा सार्वजनिक शिक्षा केन्द्र है। गितिओरा में दाखिल होने के बाद लड़के अपने पिता के साथ जंगल जाने लगते हैं। शिकार, लकड़ी काटने और चोप जमा करने में उनकी शिक्षा आठ दश वर्षो से प्रारम्भ हो जाती है। अब धीरे-धीरे टंडाओं में उनका खेलना समाप्त होने लगता है और जंगल तथा परिवार के कामों में हाथ बटांना बढ़ने लगता है। लड़कियाँ भी कुछ वर्षो तक पिता के पास यदा-कदा जंगल जाती है परन्तु १२, १४ वर्ष के बाद उनका जंगल जाना बन्द हो जाता है और उनका कार्य क्षेत्र टंडा की झोपड़ी ही रह जाता है।

विवाह : प्रशिक्षण का यह काल और गितिओरा की सदस्यता की यह अवधि उस समय तक चलती रहती है, जबतक उसकी शादी नहीं हो जाती है। लड़कों की शादी अक्सर २० से २४ वर्ष और लड़कियों की शादी साधारणतः सोलह से बीस बर्षों के बीच हो जाती है। बिरहोर समाज में विवाह अनिवार्य समझा जाता है। मनुष्य ही नहीं बल्कि उनके भूत-प्रेत की भी शादी हुई है और उन्हें पत्नियाँ हैं। शायद कोई भी ऐसा बिरहोर नहीं होगा, जिसकी शादी नहीं हुई हो। शादी के पश्चात् ही उसकी गिनती समाज के पूर्ण एवं उत्तरदायी सदस्यों में होने लगती है।

बिरहोर में साधारणतः एक पत्नी विवाह की प्रथा प्रचलित है। परन्तु एक से अधिक शादी करने पर कोई सामाजिक प्रतिबन्ध नहीं। बहुपत्नी विवाह को बिरहोर अपनी भाषा में 'हेसम वापला' कहते हैं। यदि दूसरी पत्नी विधवा होती है तो इसे 'हेसम वापला' की जगह 'सांधा वापला' कहते हैं। विसुनपुर के बिरहोर परिवार में मुझे बहुपत्नी विवाह का एक भी उदाहरण नहीं मिला।

बिरहोर समाज में विवाह करने और पत्नी हासिल करने के कितने रीति रिवाज है। साधारणतः 'सदर वापला' ही अधिक प्रचलित और परम्परागत प्रथा समझी जाती है। यदि पुत्र पुत्री का विवाह 'सदर वापला' की प्रथा के अनुसार होता है तो उसमें दोनों बर और बधू के माता-पिता का विशेष हाथ रहता है। वे ही शादी ठीक करते हैं, लगन का आदान-प्रदान करते हैं, भूत-प्रेतों की पूजा और खान पान करते हैं, और तब विधिवत् विवाह सम्पन्न होता है। इस तरह की शादी में कितनी तरह की विधि और उत्सव मनाये जाते हैं। इस प्रसंग में, विवाह की पूरी बिधियों का वर्णन कर लेख का कलेवर बढ़ाना उपयुक्त नहीं है परन्तु मुख्य बातों पर संकेत कर देना भी आवश्यक है।

सदर वापला में शादी की प्रारम्भिक बातचीत से विवाह और उसके बाद तक कितनी तरह की विधियों और अन्य बातों का ख्याल किया जाता है। शादी की बात-चीत का श्री गणेश लड़के की तरफ से होता है। जब लड़के के पिता और अन्य सम्बन्धी शादी निश्चित करने के लिए लड़की के घर जाते हैं तब शुभमुहूर्त का ख्याल रखा जाता है। यदि कोई जानवर और पशु-पक्षी रास्ता काट देते हैं, तो यात्रा अशुभ समझी जाती है और दूसरे दिन जाने का विचार करके उस दिन लौट आते हैं।

शादी निश्चित करने के पूर्व कबीला सम्बन्धी विचार कर लिया जाता है। अपने कबीला या गोत्र में किसी हालत में शादी नहीं होती है। शादी निश्चित करते समय लड़के और लड़की के स्वास्थ्य पर भी पूरा विचार किया जाता है। अब रहन-सहन और धार्मिक विचार का भी पूरा ख्याल किया जाने लगा है। फिरन्ता बिरहोर, बशिन्दा बिरहोर में शादी नहीं करता है। उसका कहना है कि बशिन्दा (जांघी) बिरहोर भूत प्रेत की पूजा अच्छी तरह नहीं करते हैं और अपना कर्म धर्म छोड़कर गाँव में बस गये हैं। जांघी बिरहोर भी उन्हें 'भूलन्ता' बिरहोर समझता है और शादी सम्बन्ध नहीं रखता है।

इन विचारों के बाद शादी ठीक होती है। शादी निश्चित हो जाने पर लड़की का पिता एक दो सम्बन्धियों के साथ लगन लेकर जाता है लगन में साधारणतः साढ़े पाँच रुपये, हल्दी से रंगा चावल, सुत इत्यादि होते हैं। उन्हें अपने खाने-पीने की सामग्री भी ले जानी पड़ती है। उसी रात्रि में विधिवत लगन चुमावन होता है। दूसरे दिन लड़की की ओर से लगन भेजा जाता है। लड़के वाले आगत मेहमान का पूरा सम्मान करते हैं। लड़के परिवार की कुंवारी लड़कियाँ उनका पैर धोती हैं। इसके बाद लड़का चौके पर अपने पिता की गोद में बैठता है और चुमावन होता है। खान-पान होने के बाद मेहमान लौट आते हैं। लगन के आठवें दिन विवाह का समय निश्चित किया जाता है।

विवाह के अवसर पर भी कितनी तरह की विधियाँ पालन की जाती हैं। दोनों तरफसे एक-एक अगुआ नियुक्त किये जाते हैं, जो विवाह सम्बन्धी प्रत्येक व्यवहार पर ध्यान रखता है। बारात के दिन दोनों के आँगन में मंडपाच्छादन होता है। यह मंडप शाल की लकड़ी के चार खूंटों पर तथा इनके बीच गाड़ कर और ऊपर पत्तो की छावनी करके बनाते हैं। इसी दिन दूसरे टंडा के मेहमान आते हैं और खाने-पीने के बाद बारात निकलती है।

संध्या समय बारात लड़की वाले के गाँव में नाचते-गाते पहुँचती है। लड़के की धोती या करीया हल्दी में रंगी होती है और एक दूसरा टुकड़ा सिर पर बंधा होता है। जब बारात लड़की के गाँव के समीप पहुँचती है तो लड़की वाले नाचते गाते आते हैं और उसे गाँव में आने से रोकते हैं। दोनों दल के लोग बहुत देर तक नाचते गाते रहते हैं और जब तक लड़के वाले के पिता लड़की वाले अगुआ को सवा रुपये भेंट नहीं देते उन्हें गांव के अन्दर नहीं आने दिया जाता है। इसके बाद कितनी तरह की विधियाँ मनाई जाती है। व्याह के समय लड़की टोकरी में खड़ी रहती है और लड़का उसकी दाहिनी ओर जमीन पर। दोनों के बीच एक कपड़े का पर्दा होता है। पहले लड़का-लड़की की माँग में सिंदूर और तेल मिलाकर लगाता है। इसके बाद लड़की दाहिने हाथ की बीचवाली अंगुली से लड़के के ललाट पर टीका लगाती है। विवाह हो जाने पर खीर खिलाने का रिवाज है। बर-बधू शादी के बाद, एक दूसरी की जूठी खीर खाते हैं और फिर वह प्रण करता है कि ऐसी भूल नहीं करेगा। बारात और सारात के सदस्य भी शादी की खुशी में मस्ती से खाते-पीते हैं।

दूसरे दिन दैनिक क्रिया से निवृत्त हो, प्रातःकाल चुमावन की विधि मनाई

जाती है। तब दम्पति चौके में मंडप में अगल-बगल बैठते हैं। बारात के सभी सदस्य डेरा से उनकी उपस्थिति में बारात के सभी सदस्य इकट्ठा होकर उन्हें हल्दी में रंगे अरवा चावल छींटकर आशीर्वाद देते हैं। चुमावन के बाद वे कुछ पैसे (एक आने से एक रुपये तक) सामने की थाली में रख देते हैं। ये पैसे दुल्हे को मिलते हैं। इसके बाद बर बधू उपस्थित अग्रज को प्रणाम करते हैं। इसके बाद लड़की वाले बारात को विधिपूर्वक निमंत्रित करके खाना खाने के लिए लाते हैं। खाने-पीने के बाद विदाई हो जाती है।

जब बर वधू बारात के साथ अपने डेरा में पहुंचते हैं तो उनके स्वागत के लिए सभी लोग मंडप में इकट्ठे रहते हैं। आम पल्लव से स्नान कराने के बाद मंडपा में चुमावन होता है। इस अवसर पर दुल्हिन को चुमावन में पैसे मिलते हैं। चुमावन के बाद घर जाने में दरवाजे पर छोटी बहन द्वार रोकती है। एक आने पैसे देने पर वह उन्हें अन्दर आने देती है। इसके बाद वह उनका पैर धोती है और सभी अपने अपने घर चले जाते हैं और वर-वधू खा पीकर प्रथम मिलन में अनन्द विभोर हो जाते हैं। आठ रोज तक वे मां बाप की झोपड़ी में रहते हैं और इसके बाद अपनी झोपड़ी में चले जाते हैं। अब उनका उत्तरदायित्व बढ़ जाता है और कठिन परिश्रम कर ग्रहस्थ्य जीवन व्यतीत करना पड़ता है। जांघी बिरहोर में अधिकांश विवाह इसी तरह होता है परन्तु उथलू बिरहोर में अर्थाभाव में कन्या मूल्य देने की स्थिति में नही रहने अथवा अन्य सामाजिक कारणों से कितने विवाह दूसरी प्रकार के होते हैं। बिरहोर के बीच गोलहर, कीरीगं जमाई, बेंग, करही, उडरा-उडरी, वापला, नाप-नापाम नामक वापला के उदाहरण मिलते हैं। गोलहर वपला आदान प्रदान की शादी को कहते हैं। इसमें किसी को कन्या मूल्य नहीं देना पड़ता है और सभी विधि 'सदर' वापला की ही है। कीरीगं जमाई वापला उस समय होता है, जब लड़का बहुत निर्धन है और शादी का खर्च जुटाने में असमर्थ है। इस अवसर पर लड़की का पिता उसे, इस बात पर कि थोड़ा-थोड़ा करके पूरा रुपया लौटा देगा, शादी करने के लिए कर्ज देता है। इसके बाद विपरीत यदि लड़की के माता पिता इतने निर्धन हैं कि बारात के खाने-पीने का इन्तजाम इत्यादि नहीं कर सके, तो लड़की को अपने यहां लाकर विधि पूर्वक शादी कर लेते हैं।

उडरा-उडरी वापला हरण विवाह को कहते हैं। यदि युवक युवती एक दूसरे से प्रेम करते हैं और आपस में शादी करना चाहते हैं तो वे भागकर पति पत्नी का जीवन व्यतीत करते हैं। जब उनका पता लगता है तो दुल्हिन मूल्य देकर

सिंदूर दान कर दिया जाता है। नाम नापम वापला भी इसी तरह के सम्बन्ध स्थापित हो जाने पर होता है। अन्तर यह है कि इसमें समाज के लोग ही ऐसे युवक युवतियों की शादी करवा देते हैं, उन्हें भागने का अवसर नहीं दिया जाता है। कभी-कभी ऐसा होता है कि कोई युवती किसी युवक से प्रेम करती है और शादी करना चाहती है। यदि शादी का उपाय नहीं देखती है तो वह अपने प्रेमी के घर में चली जाती है, तरह-तरह का डांट फटकार सुनती है, घर का काम करती है और अन्त में परिवार वाले उसे 'बोलो' या 'दुखनी पत्नी के नाम से स्वीकार कर लेते हैं। इस तरह की शादी को 'बोलो' वापला कहते हैं। इसके बिपरीत यदि युवक प्रेम करता है तो उस शादी को 'सीमन्दर' वापला कहते हैं

पत्नी मिलने का जो भी उपाय हो, उनके मिलने के बाद युवक अपनी झोपड़ी में सोता है और गितिओरा के भाईचारे की इति श्री हो जाती है। वह समाज का उत्तरदायी सदस्य बन जाता है और उसे कमाने की अधिक चिन्ता बढ़ जाती है। कुछ माह अथवा सालों तक माता पिता के साथ खाता पीता है। वह जंगल कमाता है, रस्सी बांटता है, शिकार करता है और गांव गांव में जाकर काठ के बने सामान तथा रस्सियों को बेच लाता है उसकी स्त्री घरेलू काम धन्धों के अलावा जंगल झाड़ियों से कंद-मूल, फल-फूल, भी इकट्ठा करती और रस्सी बांटने में भी अपने पति की सहायता करती है। प्रातः काल से ही वे घर आंगन की सफाई, पानी लाने, खाना बनाने, बच्चे को दूध पिलाने इत्यादि में लगी रहती है।

शनैः शनैः इसी तरह उसका समय बीतता जाता है। एक स्थान से दूसरे स्थान में घूमते घूमते, जंगल-झाड़ी, पहाड़ घाटी, को रौंदते-रौंदते, उसकी जवानी बीत जाती है, प्रौढ़ावस्था ढ़लने लगती हैं और अन्त में बुढ़ापा सताने लगता है। कमजोरी और रोग उसे डराने लगते हैं फिर भी, जंगल का शरण वह कैसे छोड़ सकता है। यदि उसे कोई बीमारी होती है, वह भूत प्रेत का करतूत समझता है, मती की सम्मति लेता है, झाड़-फूंक करवाता है और जड़ी बूटी का सेवन करता है। यदि चंगा हुआ तो थोड़ा बहुत घूमता ही है और यदि काल के गाल का शिकार हो गया तो उसकी जीवन यात्रा पूरी हुई समझी जाती है और उसका अन्तिम संस्कार कर दिया जाता है।

मृत्यु संस्कारः

जब वह अन्तिम सांस लेता रहता है तो परिवार और टंडा के सभी लोग जमा हो जाते हैं और एक-एक कर पुत्र और पत्नी आदि उसे पानी पिलाते हैं।

ज्योंहि उसका दम टूटता है, सब मृतात्मा को शान्तिपूर्वक निकल जाने के लिए जगह छोड़कर झोपड़ी के बाहर निकल आते हैं। उसके परिवार के लोग गला फाड़-फाड़ कर रोने लगते हैं और उनका रोना उस समय तक चलता रहता है, जब तक कि लाश टंडा से बाहर नहीं चली जाती है।

बिरहोर मुर्दे को कहीं गाड़ते और कहीं जलाते भी हैं। गर्भावस्था में मरने वाली औरत और बच्चे को तो गाड़ने की प्रथा है। जहां जलाने की प्रथा है, वहां मुर्दे को निर्दिष्ट स्थान पर ले जाकर विधि पूर्वक जला देते हैं और जहां गाड़ने की प्रथा है वहां भी उसे वृक्ष के नीचे विधिपूर्वक गाड़ देते हैं। विसुनपुर के बिरहोर (१९५१ जून) मुर्दे को गाड़ते ही हैं। बट वृक्ष के नीचे लगभग तीन फीट चौड़ा और छः फीट लम्बा गड्ढा खोदा जाता है। लाश को इसके चारों ओर तीन बार घुमाकर गढ़े में डाल दिया जाता है। सिर उत्तर की ओर रहता है। और इसके बाद मृतक का पुत्र या पौत्र हाथ में लुकाठी लेकर तथा बांई आंख बन्द करके कब्र के चारों तरफ तीन बार घूमता है और फिर लुकाठी मुर्दे के मुंह में रख देता है। मुंह में ताम्बे के पैसे भी डाले जाते हैं। यदि लाश मर्द की है तो उसे सिर के पास छोटे-छोटे जाल, कुल्हाड़ी, छड़ी, तम्बाकू चूना इत्यादि सामग्री भी रक्खा जाता है। इन सामग्रियों के रखने के बाद टंडला के वृद्ध व्यक्ति उसे शान्ति पूर्वक वहीं रहने की याचना करते हैं, और फिर उसपर मिट्टी डाल दी जाती है। मिट्टी पर पत्थर के टुकड़े भी रक्खे जाते हैं। तत्पश्चात् ऊपर में मुट्ठी भर चावल और धान भी रख दिया जाता है। इसी बीच घर की औरतें झोपड़ी की सफाई भी करती है। मिट्टी के जितने बर्तन हैं सब फेंक डालती हैं। भात और साग पकानेवाली दोनों हंडिया फेंकने के बजाय झोपड़ी के सामने आंगन में उलट कर रख दी जाती है। इससे संकेत हो जाता है कि अमुक परिवार में गमी हो गई है। ये हड़िया झोपड़ी के सामने 'होयोन' या बाल काटने के दिन तक रक्खी जाती है। उनका विश्वास है कि इस अवधि में मृतात्मा उसी के आसपास घूमती रहती है।

लाश का दाहकर्म करके आने के पश्चात्, टंडला की सीमा पर शाल नामक वृक्ष की छाल और आग रक्खी जाती है। प्रत्येक व्यक्ति छाल को आग में डालता है और अपने पैर के बाँये अंगूठे से आग छूता है और उसी पैर को आग पर फैलाता है। उसके बाद उस परिवार के आंगन में आता है जहाँ देहान्त हुआ है। वहाँ एक लोटे में पानी रक्खा रहता है, पानी में ताम्बे का टुकड़ा डाला जाता है। ऐसे पानी को अपने शरीर पर छींटकर मृतक की झोपड़ी में जाता है। झोपड़ी के

एक किनारे पर जहाँ पर उसका प्राणान्त हुआ था, लीप पोतकर पहले से ही राख बिछाकर सूप से ढक दिया जाता है। दाह क्रिया करके लौटने के बाद, लोग सूप हटाकर उस राख में बने चिन्हों का पता लगाते हैं। यदि किसी प्रकार का चिन्ह होता है तो उनका विश्वास होता है कि मृत्यु भूत-प्रेतों के द्वारा की गई है और यदि चिन्ह नहीं मिलता है तो प्राकृतिक मृत्यु समझी जाती है। मंजीरा टंडा के शनीचर नामक सूचक ने बतलाया कि यदि पैर का चिन्ह हो तो घर के देवता द्वारा, बाघ का चिन्ह रहने से बिर (जंगल) देवता द्वारा, लकीर रहने से रस्सी देवता द्वारा मृत्यु हुई समझी जाती है और उसकी शान्ति के लिए पूजा तथा बलिदान दिया जाता है।

मृत्यु के बाद सात, नौ दिनों तक छूत रहता है। इस अवधि में शिकार करना, मांस खाना नाच-गान करना पूरे टंडला के लिए और विशेषतः परिवार के लिए मना रहता है। दसवें दिन झोपड़ी की सफाई कर तथा नाखून कटा कर औरतें नदी या तालाब में नहाती हैं। पति के मरने पर इसी दिन विधवा, एक नई साड़ी पहनती है, जिसे रंदी या विधवा साड़ी कहते हैं। परिवार के सभी मर्द केश छिलवाकर टंडा के सभी लोगों के साथ स्नान करने जाते हैं।

संध्या समय सभी लोग इकट्ठे होते हैं। मति और नाया भी उपस्थित रहते हैं। 'नाया' विधिपूर्वक मृतक आत्मा की आराधना कर झोपड़ी में बुलाकर अन्य पारिवारिक प्रेतों के साथ उसे स्थापित करता है। इसके बाद मेहमान लोग खाने बैठते हैं। लेकिन ज्योंही खाना प्रारम्भ करना चाहते हैं कि एक क्रन्दन की आवाज सुनाई पड़ती है। यह आवाज मृतक की विधवा, या उसके पुत्र या उसके भाई की होती है। वह अपने को आधारहीन बतलाता है और इकट्ठे लोग उन्हें अपना हवाला देकर सान्त्वना देते हैं। इसके बाद खाना-पीना होता है और परिवार तथा टंडला पवित्र समझा जाता है।

धार्मिक स्तर :—जीवन-चक्र एवं जीवन दर्शन के इस संक्षिप्त वर्णन से यह स्पष्ट हो जाता है कि बिरहोर समाज में अन्य जनजातियों से अधिक धार्मिक प्रवृत्ति और विश्वास है। उनका पूरा जीवन ही—सामाजिक, आर्थिक, पारिवारिक एवं राजनैतिक भूत-प्रेत, जादू-टोना इत्यादि के विश्वास पर आधारित है। बिरहोर के लिये उसके ऊपर-नीचे, अगल-बगल चारों तरफ भूत-प्रेत का राज्य है और किसी न किसी रूप में उनका प्रभाव उपस्थित है। वे हमेशा अपने को भूत-प्रेतों से द्वन्द्वात्मक अवस्था में पाते हैं और उन्हें दबाकर, मनाकर और हटाकर अपना जीवन यापन करते हैं।

सिंगबोंगा बिरहोर का मुख्य देवता है, जो अन्य देवताओं भूत प्रेतों के ऊपर है और सूर्य के रूप में नजर आता है। वह सृष्टि का निर्माता है और साधारणतः मनुष्य की भलाई करता है और अन्य प्रेतों की बुराई से बचाता है।

सिंगबोंगा के बाद देवी माई और बूढ़ी माई का स्थान है। यह अधिकतर मर्दों में ज्यादा दिलचस्पी रखती है और प्रसन्न होने पर उन्हें धन, स्वास्थ्य और संतान से विभूषित करती है। लाल सिंदूर से पुता हुआ लकड़ी का टुकड़ा ही इस देवी का प्रतिनिधित्व करता है। इसके अलावे प्रत्येक टंडा के समीप वृक्ष के नीचे पत्थर का एक टुकड़ा गड़ा होता है। यही शिकार का देवता चंडी है जिसके सामने शिकार की सभी वस्तुएँ अर्पित कर वंदना कर और बलि चढ़ाकर टंडला के सदस्य शिकार करने जंगल में जाते हैं। बन्दर पकड़ने में बन्दर वीर और हिनुमान वीर की बन्दना से पूर्ण सफलता मिलती है।

इन जातीय देवताओं के अतिरिक्त प्रत्येक कबीले के अलग-अलग देवता हैं जनमें मुख्य ओराबोंगा हैं जो प्रत्येक कबीला के मूल स्थान में रहते हैं। इसी बोंगा के नाखुश होने के कारण कबीला का कोई सदस्य बीमार पड़ता है। प्रत्येक टंडला में एक कबीले के परिवार मिलकर ओराबोंगा की पूजा करते हैं और प्रत्येक वर्ष के अगहन पूस, माघ या आसाढ़ के महीने में बलि चढ़ाते हैं। जांघी बिरहोर ओराबोंगा को बुद्ध बोंगा कहते हैं। इसके अलावा लगभग सभी कबीलों की लड़ाकियाँ भूत (लडाकू भूत) होता था जिसकी पूजा सालाना होती थी। परन्तु अब इसकी पूजा तभी होती है जब कबीला का कोई सदस्य इन्हें स्वप्न में देखता है। कुछ कबीलों को ऐसे भी भूत-प्रेत या देवता होते हैं जो कोई भयंकर घटना के अवसर पर माने जाते हैं। इन प्रेतों को 'मनीता' कहते हैं।

जातीय और कबीला सम्बन्धी देव-देबियों के अलावा प्रत्येक परिवार को अलग-अलग कितने भूत-प्रेतों की पूजा करनी पड़ती है। परिवार में जिनके मर्द औरतों की मृत्यु होती है वे प्रेत बनकर परिवार के जीवित मनुष्यों के साथ रहते हैं। उन्हें बिरहोर 'होमरोम' कहते हैं, उनके रहने के लिये झोपड़ी के किनारे एक स्थान निर्दिष्ट कर दिया जाता है। होमरोम नामक प्रेत दो श्रेणियों में विभक्त हैं। प्रथम वे जिनके देहान्त हाल में हुये हैं और दूसरे वे जिनके नाम तक अब याद नहीं है। इन्हें क्रमशः 'बूढ़ा-बूढ़ी' और 'चौरासी होमरोम' कहा जाता है। होमरोम परिवार की भलाई करते हैं और उसकी उन्नति में सहायक होते हैं। वे केवल उसी समय क्रोधित होकर क्षति पहुँचाते हैं जब उन्हें बन्दना और बलिदान नहीं मिलते हैं। 'होमरोम' के अलावा, परिवार के भी कितने मनीता होते हैं जिनका स्थान प्रत्येक परिवार में होता है।

इनके अलावा भी बिरहोर कितनी तरह के भूत-प्रेत में विश्वास रखते हैं। उनका जीवन ही भूत-प्रेत मय है। जाति कबीला और परिवार के ही नहीं, प्रत्युत प्रत्येक मर्द औरत विशेषतः 'नाया' और 'मति' के व्यक्तिगत भूत होते हैं। उन्हें 'शक्ति' कहा जाता है। प्रत्येक तरह की बलि और पूजा के लिए अलग-अलग विधियाँ हैं और उन्हें भिन्न-भिन्न प्रकार की वस्तुयें चढ़ाई जाती है देवी-देवता और भूत-प्रेत की महत्ता के अनुकूल ही उन्हें विशेष रंग का मुर्गा या बकरा बलिदान में चढ़ाया जाता है। बलि विधि का पूरा ब्योरा मंजीरा के एक मति-सूचक ने दिया था जिसका संक्षिप्त वर्णन यों है :

१ देवता	बलि का मुर्गा रंग	बलि का बकरा रंग	
२ भालू वीर	मुर्गा काला	पठ्ठा का रंग काला	पाँच वर्ष में एक बार
३ बाघ वीर	मुर्गा चितकबरा	पठ्ठा चितकबरा	,,
४ हनुमान वीर	मुर्गा सफेद		,,
५ बन्दर वीर	मुर्गा सफेद		,,
६ कोया वीर	मुर्गा काला	पठ्ठा काला	,,
७ हुँराड़ वीर	मुर्गा चितकबरा		,,
८ बूढ़ी माता	दो कुमारी मुर्गी लाल	पठ्ठा काला	,,
९ बूढ़ा बाप	मुर्गा लाल	पठ्ठा भूरा रंग	,,

इनके अलावा भी प्रत्येक परिवार में अन्य मनौता सम्बन्धी बलिदान होते रहते हैं। किसी देव-देवी के असंतुष्ट हो जाने पर मति के कहने पर और बीमारी फैल जाने पर बिरहोर परिवार भूत-प्रेत विशेष को बलि चढ़ाया करते हैं। इस प्रकार लगभग प्रत्येक माह में अथवा सप्ताह में ही प्रत्येक परिवार में किसी न किसी तरह की पूजा चलती ही रहती है। बिरहोर का अधिकांशतः समय इन्हीं धार्मिक कार्यों में और भोजनार्जन में चला जाता है। उन्हें कभी चिन्ता जान नहीं छोड़ती।

इन्हीं दो कारणों के फलस्वरूप बिरहोर विशेषतः उथलू बिरहोर को, न उत्सव मनाने का मौका मिलता है, न नृत्य-गान ही से शौक बढ़ पाता है और न वे अधिक पर्व ही मना पाते हैं। दूरात्मक संघर्षमय एवं संदेहात्मक है जीवन उनका। उसी हेतु मस्ती तथा भोज उनके समाज से मानों लुप्त-सा हो गया है। हाँ, आँधी

बिरहोर जो गाँवों में स्थाई रूप से बस गए हैं और खेती भी करने लगे हैं, वे मुंडा और संथाल आदि कुछ जन-जातियों के कुछ पर्व मनाने लगे हैं तथा खान-पान के उत्सव में दिलचस्पी लेने लगे हैं। वे फाल्गुन चैत (मार्च-अप्रील) में सरहूल, आषाढ़ (जुलाई) में हो सो बोंगा तथा नावाजोन, भादों-आश्विन में। (सितम्बर अक्टूबर) कर्मा, जीतिया, कार्तिक (नवम्बर) में सोहराय, माघ (जनवरी फरवरी) में माघी इत्यादि पर्व मनाने लगे हैं।

परन्तु कहना न होगा कि ये पर्व नियमपूर्वक अन्य जनजातियों में ऐसा न मनाये जाते हैं और न सभी कबीले के लोग सभी पर्वों को मनाते हैं। जो हो, उथलू बिरहोर के जीवन में उत्सव और पर्व के लिये वातावरण कहाँ। उन्हें तो एक ओर भोजन पाने के लिए संघर्ष करना पड़ता है, दूसरी ओर भूत-प्रेत से द्वन्द करना पड़ता है ओर तीसरी ओर प्रकृति के अनेकानेक 'अनुचित' कार्यों पर विजय पाने के लिये जंगल की संतानों को जादू-टोना करना पड़ता है।

प्रत्येक टंडले में एक-दो मति या जादूगर रहते हैं। उनपर महादेव (शक्ति) की विशेष कृपा रहती है। वे मंत्रोच्चारण के द्वारा एवं अन्य विधियों के द्वारा प्रकृति के कामों पर नियंत्रण करते हैं। बरसते हुए मेघ, गरजते हुए बादल, भयंकर तूफान जो शिकार के अवसर पर उनके शत्रु बन जाते हैं उनपर नियंत्रण करने के लिए वे भरसक जादू-टोना करते हैं। इसी प्रकार के कार्य वे जानवरों, पेड़-पौधों अथवा अन्य मनुष्यों पर नियंत्रण करने के लिये करते हैं। उन्हें अपने नियंत्रीकरण के प्रयत्नों में कभी सफलता मिलती है और कभी असफलता भी, परन्तु वे हतोत्साह नहीं होते, चिन्तित और शंकाकुल भले ही हो जायँ। तो देखा न बिरहोर किस तरह जीविकार्जन के हेतु, देवी-देवता की आराधना करने का प्रयत्न करते रहते हैं। यही उनके जीवन की महत्वपूर्ण कहानी है।

प्रश्न उठता है कब तक उन्हें वन-पर्वतों के बीच, जानवरों की आराधना में, भूत-प्रेतों की दुनिया में, निरक्षरता के अंधकार में, बसनहीन, गृह-हीन, क्षुधा तृप्ति के लिये जंगल-जंगल भटकना पड़ेगा? क्या यह संस्कृत मानव एवं प्रजातंत्र सरकार के लिये चुनौती नहीं? आज एक भी उथलू बिरहोर नहीं हैं, जो एक शब्द पढ़ सकता या मिट्टी के मकान में रहता है अथवा चिन्ताहीन एवं मस्ती का जीवन व्यतीत करता है। वे दारिद्रय की भट्ठी में सदियों से जल रहे हैं। उनकी लपट सभ्य समझे जानेवाले समाज को सुरक्षित नहीं रख सकती। अतएव

हमारा यह कर्त्तव्य हो जाता है कि बिरहोर की समस्याओं पर वैज्ञानिक ढंग से विचार करें, उनके पुनर्वास के लिये इसी क्षण से प्रयत्नशील हो जायं। जब तक हमारे समाज में बिरहोर जैसी पिछड़ी जाति रहेगी हमें भी अपने को संस्कृत या सभ्य कहने का कोई अधिकार नहीं। यह हर्ष का विषय है कि सरकार उनकी समस्याओं से जागरुक हो गयी है और बिरहोर के लगभग ४० परिवारों को बिसुनपुर के आसपास बसाया गया है।

आदिवासी और उनकी समस्याएँ :

भारत में एक बहुत बड़ी आदिमजातियों की संख्या है। विभिन्न राज्यों तथा देश के सम्पूर्ण विभागों में आदिमजातियों की जनसंख्या के आंकड़े तो लिये गये हैं अवश्य परन्तु वे विश्वसनीय नहीं। पहाड़ियों और सुदूर वनों में रहनेवाली आदिमजातियों की गणना तो एक समस्या है ही, साथ ही जनगणना संस्थाओं की कार्यप्रणाली अवैज्ञानिक है, तथा आँकड़ों के संग्रहकर्ता भी इतने अनभिज्ञ हैं कि गणना में गड़बड़ी का आ जाना कोई ताज्जुब की बात नहीं। किन्तु सदियों के बाह्य सम्पर्क तथा इसके फलस्वरूप उनके जीवन में होनेवाले परिवर्तन ने आदिमजातीय समूहों को उत्थान तथा पतन के विभिन्न स्तरों पर ला रखा है। बहुत-सी जनजातियाँ आज जाति में परिवर्तित हो गई हैं किन्तु फिर भी उनकी गणना आदिमजातियों में ही होती है।

आदिमजातियों के विभिन्न प्रकार :

आदिमजातियों की लगभग २५ लाख की जनसंख्या को तीन या इससे अधिक भागों में उनकी संस्कृति के आधार पर विभक्त किया जा सकता है :

१. ऐसी आदिमजातियाँ जो अभी तक वन्य जातियाँ हैं एवं अपने विगत जीवन को निभाने के लिए उसी प्राचीन जंजीर में बंधी हुई हैं।

२. ऐसी आदिम जातियाँ जो परिवर्तित संस्कृति से प्रभावित हुई हैं, जो गाँवों में बस गई हैं तथा जिन्होंने हल की खेती को अपना लिया है परन्तु फिर भी अपनी जाति सूत्र गीत और नृत्य को सुरक्षित रक्खा है। इनमें भिज्ञता का आगरण हो चुका है, फिर भी जीवन की नई परिस्थितियों को ग्रहण करने के प्रति अथवा सुगम स्थानों में जाने के प्रति ये उदासीन हैं।

३. पुनः आदिमजातियों के वे हिस्से हैं जो ग्रामों को छोड़ शहरों में आ बसे हैं या जिन्हें व्यावसायिक केन्द्रों में जिन्हें खानों और कारखानों द्वारा धनिक बनाया गया है, बसने को बाध्य किया गया है। ग्रामीण वातावरण में रेलों एवं सड़कों के बन जाने से इनकी सुरक्षा नष्ट हो गई है। इस तरह इन्हें जीवन के नये स्वरूपों की योग्यता एवं प्राचीन रीति-रिवाजों में अयोग्यता का ज्ञान इस जीवन-संघर्ष से, सीखने को मिल गया है। अतः "भूल-चूक," सिद्धान्तों के आधार पर उन

गुणों का समावेश किया गया है जो अन्य सांस्कृतिक बोझ द्वारा लाई गई असंतुष्टि की भावना को दूर करने में सहायक सिद्ध हुई है। तभी तो वास्तव में इन्हें आदिमजाति समुदाय की मिश्रित संस्कृति की संज्ञा दी गई है तथा आदिम जातियों का एक बहुत बड़ा भाग इस श्रेणी में आ जाता है।

जातीय वर्गीकरण :

जातीय स्वरूप की दृष्टि से, भारत की आदिमजातियाँ एक ही जाति विशेष से उत्पन्न नहीं हुई हैं। भीतरी भाग में रहनेवाली आदिमजातियाँ पूर्णतः आस्ट्रोलबायड् जातीय वर्ग की कही जा सकती हैं। उत्तरी भाग की आदिमजातियाँ तो मंगोलत्वायड् वंशज की हैं और अनेक अन्य आदिमजातियाँ बाह्य आगत जातियों के अनेक स्वरूपों से मिलती-जुलती दिखलाई पड़ती हैं। दक्खिनी पठार की आदिम जातियों में से, कुछ निग्रो समुदाय की रूपरेखा से उत्पन्न हुई जान पड़ती है, किन्तु वे निग्रो भारत की भूमि पर कभी नहीं बसे, यद्यपि समयानुसार कभी-कभी इनका आना-जाना होता ही रहा। भारत के पश्चिमी किनारे पर निग्रो जातियों से मिलती-जुलती कई अन्य जातियाँ पाई जाती हैं किन्तु ऐसी निग्रो जातियों के लक्षण बिखरित रूप से पाये जाते हैं। भारत की अधिकांश आदिम जनसंख्या या तो पूर्णतः आस्ट्रोत्वायड है या इन्डो-आस्ट्रोत्वायड वर्ग की है, यही मत अधिक उचित जान पड़ता है।

आदिम भाषायें :

मतानुसार भारतीय आदिम जातियाँ विभिन्न परिवारों की भाषाओं का उपयोग करती हैं। मुंडा भाषा जो कि आस्ट्रिक भाषा-परिवार की एक शाखा है, बिहार तथा बंगाल के अधिकांश आदिमजातियों द्वारा उपयोग में लायी जाती है। प्रायः द्वीपीय भारतीय क्षेत्रों में द्राविडियन परिवार की भाषा आस्ट्रिक भाषा पर छा गई हैं तथा भारत के उत्तरी-पूर्वी सीमान्त की आदिम जातियों में तिब्बती बर्मन भाषा ही बुनियाद स्वरूप पाई जाती है जिसमें आस्ट्रिक की मान लभेर भाषा का भी कुछ सम्मिश्रण हो गया है। भारत में मुंडा भाषा विस्तृत रूप से प्रचलित थी तथा भारत का पाषाण युग उन मुंडा जातीय वर्गों के द्वारा ही पाला-पोसा गया था जिन्हें प्रोटो आस्ट्रोत्वायड कहना उचित होगा।

सांस्कृतिक स्वरूप :

सांस्कृतिक दृष्टिकोण से देश के विभिन्न भागों में आदिमजातियों के विभिन्न जीवन स्वरूप देखने को मिलते हैं। आसाम की गारो और खासी आदिमजातियाँ

अधिकतर मातृ मूलक वंश के हैं तथा दक्षिणी भारत के भी कुछ लोग इसी प्रथा के अनुयायी हैं जहाँ मातृ सम्बन्धी परिवार एक अवशेष के रूप में पाया जाता है। भारत के भीतरी भागों की अधिकतर जातियाँ पितृ वंशज हैं। यह प्रथा वहाँ प्राचीन काल ही से प्रचलित है। इस तरह आदिमजातियाँ अनेक गोत्रों में विभाजित हैं जिनका नामकरण पशुओं एवं वृक्षों के अनुसार हुआ है या खोन्ड जाति की तरह इनलोगों ने भी अपने को प्रादेशिक रूप से संगठित किया है और इनलोगों का वाह्य गोत्र अनेक गाँवों का प्रतिनिधित्व करता है। ऐसे गाँवों में इनका बास हाल ही में हुआ है। कुछ आदिमजातियों का गोत्र किसी संस्था या उपनाम पर आधारित है जैसा कि त्रिपुरा की कुछ आदिमजातियों में पाया जाता है जो आजकल पूर्वीय पाकिस्तान का एक हिस्सा है। आपसी सम्बन्ध की पहचान घरेलू सम्पर्क से होती है या पशु-पौधे से।

नामकरण :

वंशानुगत सिद्धान्तों के आधार पर भी होता है। कुछ क्षेत्रों में से बिहार में वंशानुगत एवं उपनाम गोत्र के अतिरेक एक सम्बन्ध समुदाय पर भी निर्भर करता है जो या तो पशु या उपनाम गोत्र का ही वह प्रादेशिक समूह है जो इस हालत में पशु सम्बन्ध तथा स्थानीय सम्बन्ध दोनों इनकी दृष्टि में समान ही हैं।

आर्थिक स्थिति :

आदिमजातियों की आर्थिक स्थिति स्थानान्तर रूप से परिवर्तनशील है। कुछ तो पक्के शिकारी हैं एवं कुछ मछली मारने के व्यवसाय के साथ-साथ कृषि सहयोगी भी हैं। परन्तु आदिमजाति चरवाहे भी, सांस्कृतिक जीवन में किसी से कम नहीं हैं। अहीरों और गूजरों को गिनती अभी भी चरवाहों में ही की जाती है। परन्तु हमारी परिभाषानुसार वे आदिमजाति नहीं कहलाते। टोडा जाति चरवाहा होते हुए भी एक ऐसे विचित्र सामाजिक स्वरूप का उदाहरण हमारे सामने पेश करती हैं कि जिसका सम्बन्ध बहुपतिक एवं भैंस श्रमिक मत से है और इससे हमें भारतीय आदिम संस्कृति के रूप का पता चलता है। भेंड़े, जंगली भैंसे, पशुओं, सुअरों एवं मुर्गियों के पालन का प्रचलन सभी आदिमजातियों में एक-सा पाया जाता है किन्तु आहारिक व्यवहार एक नहीं मिलते। कुछ मुर्गी पालने पर भी मुर्गी-भक्षक नहीं हैं, कुछ पशुओं को पालते हैं परन्तु उनका दूध नहीं दुहते, कुछ पशु-भोजन का बहिष्कार करते हैं, विशेषकर उन जानवरों के मांस का जिनसे उनका नामकरण सम्बन्धित है। नीलगिरि पहाड़ी की आदिमजातियों का मुख्य धन्धा

मधु-संग्रह है। अवसर मिलने पर बिहार की बिरहोर जाति भी खेती छोड़ अधिक समय बन्दर पकड़ने में ही लगाती है। जंगल सुरक्षा के फलस्वरूप जंगल कानून ने आदिमजातियों के धार्मिक विचार एवं प्रथा में परिवर्तन ला दिया है तथा प्राचीन खेतीबारी के तरीकों के कारण आज के समृद्ध बीज, खाद एवं सिंचाई की उपयोगिता नष्ट हो गई है। आदिमजातियों की एक बहुत बड़ी संख्या आज आदिमजाति नहीं रह गई है। क्योंकि इनके परम्परागत निवास-स्थान में अब आबादी की वृद्धि सम्भलने योग्य नहीं रह गई है तथा बन्धन की पवित्रता गरीबी की चोट से इतनी नष्ट हो गई है कि छोटे-छोटे जंगली या खेती के धन्धे से इनका गुजर-बसर होना बिल्कुल मुश्किल हो गया है। आदिमजातियाँ तो अन्ततः एक प्रादेशिक दल ही है इसलिये बन्धन में एक बार आये बाधा एवं देशान्तर से इनका सम्बन्ध उस पुराने वासस्थान से कमजोर होने लगता है तथा उसके प्रति कोई आकर्षण नहीं रह जाता। जातीय परिवर्त्तन तो आदिमजातियों में सदियों से हो रहा है किन्तु आज जैसा इसका जटिल रूप पहले कभी नहीं था। संगठित ग्राम्य-जीवन, को जिसकी आदिमजातियाँ आदी थीं, सुरक्षा प्रदान नहीं की जाती, किन्तु औद्योगिक जीवन की आवश्यकताओं एवं बागानों तथा शहरी जीवन की आवश्यकताओं को आज आदिमजाति श्रमिकों की आयात कर पूरी की जा रही है। इनका आयात प्रायः उन क्षेत्रों से होता है जहाँ सामाजिक जीवन का सम्बन्ध सचमुच ही सभ्यता से अलग हो गया है।

आदिम जातीय श्रम :

आज आदिमजातियाँ श्रमिक समस्याओं की दो पंक्तियों में पायी जाती हैं। अनभ्यस्त आदिमजाति श्रमिक जो खानों या कारखानों में काम करते हैं, इनकी संख्या औद्योगिक केन्द्रों में अति शीघ्रता से बढ़ रही है और बाह्य देशान्तर श्रमिकों से इनका सम्बन्ध भी बढ़ता जाता है। अतः इसकी पुष्टि के लिये अभ्यस्त एवं अनभ्यस्त श्रमिकों की आवश्यकता है। चाय बागानों में तो अधिकतर श्रमिक बिहार एवं कुछ अन्य राज्यों की आदिमजातियों से ही भर्ती किए जाते हैं। फलस्वरूप कुली "जाति" की एक बहुत बड़ी संख्या वन्यगण की हैं। यद्यपि उनका यह स्वरूप अस्थायी है परन्तु जहाँ वे जा बसे हैं वहाँ भविष्य में उनकी जनसंख्या के बढ़ने की सम्भावना जान पड़ती है।

युद्ध एवं इसका प्रभाव :

युद्ध ने आदिमजातियों की एक बृहत संख्या को एक समधरातल पर ला दिया है। युद्ध के समय हमारे उत्तर-पूर्वीय-सीमाप्रान्त में दुश्मनों का अधिकार था जिसके

फलस्वरूप आदिमजाति वाले भागों में, उनके सांस्कृतिक जीवन में एक भयंकर परिवर्त्तन हुआ। युद्ध की भयंकरता एवं आदिमजातियों की पारितोषिक पुनर्स्थापना से, स्थापित स्थानों में प्रतिद्वन्द्विता की भावना अज्ञात स्थानों में भी फैल गई और वहाँ भी असन्तोष की आग भड़कने लगी। लेकिन इससे लाभ की आशा भी साथ ही साथ जागरित हुई क्योंकि अब आदिमजातियाँ अपने निम्नस्तर जीवन से असन्तुष्ट रही तथा इनका प्राचीन सरकारी सम्बन्ध भी 'लेरोज फेयर' नीति से छूटी न रह सकी। आदिमजातियों ने मिशनरियों के प्रभाव एवं कार्य से प्रभावित होकर ईसाई धर्म को अपना लिया। इन सबों के कारण इनलोगों में जागरण का उदय हुआ जिससे उनका सामाजिक सम्बन्ध अनेक प्रकार की गिरजा द्वारा दी गई तथा संगठित सहायताओं से और भी बढ़ गया। बाह्य संस्कृति ने जिसके वे आदी थे सामाजिक तनाव को और भी बढ़ा दिया तथा आदिमजातियों की इस भिन्न संस्कृति से अपने को एक अलग दल समझ कर अलग रखने की कोशिश की। आजकल मिशनरियों का कार्य सीमा बद्ध हो गया है एवं धर्म परिवर्तन भी अस्थायी सांस्कृतिक परिस्थिति का कोई स्थायन चिह्न नहीं रह सका। मिशनरियों की महत्ता अब नहीं रही। आदिवासी क्रिश्चियनों की असंतोष भावना, राजनैतिक ज्ञान के रूप में प्रकट होने लगी और आज इसकी वृद्धि हमारे सीमा-प्रान्त राज्यों में जोरों से फैल रही है।

जनजातीय जीवन की समस्याएँ :

तीन विभिन्न आदिमजातीय क्षेत्रों में विशेष आदिम समस्याओं को लेकर आदिम जातियाँ खड़ी हैं जिनका समाधान अभी तक नहीं हो पाया है। साथ ही साथ किसी भी दो क्षेत्रों की समस्याएँ एक समान नहीं हैं। बिहार में आदिम-जातीय जीवन की समस्या वस्तुतः जटिल है एवं राजनैतिक जागृति भी अत्यधिक हो गई है। छोटानागपुर की आदिम जातियाँ तो एक संगठित समूह हैं जिसे स्थानीय प्रणाली के अन्तर्गत संगठित संस्था का एक सुन्दर नमूना कहा जा सकता है। ये आदिमजातियाँ पाड़ा नेताओं के नेतृत्व में आरम्भ काल से ही संगठित रहा है एवं जमींदारों तथा कर्जदारों के खिलाफ इनकी आवाज इनके विचारों को सुरक्षित रखने में सहायक सिद्ध हुई है। ऐसा करने के लिए ऐसे अप्रत्यक्ष नियम लाद दिये गये कि आदिमजातियों के अधिकार तथा प्राचीन जीवन प्रथा को कानून के द्वारा अंधकृत किया गया। बिहार में आदिमजातियों का असंतोष की भावना और भी जागृत हुई जब मिशनरियों ने हस्तक्षेप की नीति का सहारा लिया तथा इनकी सफलता का एकमात्र कारण इनके मुद्रालय का प्रभाव था। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण

आदिमजातियों के अनेक प्रकार से होनेवाले लाभों से मिलता है, फिर भी इनका बाह्य धार्मिक स्वरूप आदिमजातियों के लिये एक बहुत बड़ी रुकावट सिद्ध हुआ है। उनके वास स्थानों के निकट खानों तथा लोहे के कारखानों की स्थापना से बिहार की आदिमजातियों को स्वल्प आर्थिक जीवन से औद्योगिक जीवन में प्रवेश करने का अवसर मिला क्योंकि खानों और कारखानों में मिहनत करने से इनकी आय की वृद्धि हुई जिससे इनके रहन-सहन के स्तर भी ऊँचे उठ गये। बाह्य आगत श्रमिकों के प्रतिद्वन्द्विता का सामना, अपने जंजालों को सुलझाने के लिये संगठित संघों से मिलना, तथा सफलता की प्राप्ति, इन सबने मिलकर इन्हें इतना साहसी बना दिया कि ये मालिकों से कुछ रियायतें भी माँगने में समर्थ हो गये। आज आदिमजातियाँ भी आवाजें उठानी लगी हैं तथा राजनैतिक जागृति बिहार के आदिमजातियों में भी पायी जाने लगी है। इसका मुख्य जड़ इनकी जीवन अवस्था है जो औद्योगीकरण स्थापना एवं मिशनरियों की चेष्टा द्वारा ही उत्पन्न हुई, किन्तु विश्व महायुद्ध का सस्ती चुहारें एवं इसके हेरफेर ने इन आदिमजातियों को धन एवं रियायत, स्कूल एवं अस्पताल, कुएँ एवं सुन्दर मकानों की माँग का पाठ पढ़ाया। ऐसी माँगों की पूर्ति के लिए आदिमजाति आन्दोलन को संगठित किया गया एवं एक सफल राजनैतिक क्षेत्र का भी निर्माण हुआ। इसमें भिन्न राज्य स्थापना की माँग नहीं है जैसा कि "झारखंड" की माँगसे पता चलता है, किन्तु जान-बूझकर संदेह, असंतोष एवं अविश्वास से अल्प संख्यक योद्धाओं का सृजन संभव है जो शासनार्थ हमेशा एक स्थायी समस्या बनी रहेगी। महत्वपूर्ण जातीय एवं सामाजिय सम्प्रदायों को सांस्कृतिक पिच्छेद समान रूप से नहीं देखा जा सकता किन्तु ऐसा समय का आगमन हो चुका है कि आदिम जातीय जीवन समस्याओं को समझने के लिये सम्मिलित चेष्टा की आवश्यकता है और यह हमारी सार्वलौकिक राष्ट्रीय आकांक्षाओं के हित की दृष्टि से परमावश्यक है।

दक्षिण भारत की आदिमजातियों में उन्नति एवं अवनति के अनेक रूपों के दर्शन मिलते हैं किन्तु सदियों की परेशानी, क्षुधा-तृप्ति की लांछना, उदासीनता एवं उपेक्षा जो इन्हें अग्रगण्यों से मिली, सबने मिलकर इन्हें राजनैतिक पार्टियों के निर्माताओं के हाथ बिक जाने को बाध्य किया। यदि सदियों के मौन को भंग कर, आवाज भर दी जाय तो भूख और अज्ञानता में ही साम्प्रदायिक जीवन पनप सकता है। यदि ऐसा हो तो आदिमजातियों के भविष्य की समस्याओं का नाम भी नहीं रह जायगा और शान्ति स्थापित हो जायगी। किन्तु यह तो एक राजनैतिक योग्यता की महत्ता है। सार्वजनिक चुनाव के फलस्वरूप आदिवासी

उम्मीदवारों की संख्या हमारे व्यवस्थापिका सभाओं में तेजी से बढ़ी, किन्तु भले ही वे आज प्रधान नहीं परन्तु इनका भविष्य सचमुच ही महत्त्वपूर्ण होगा। असंतोष की भावना उत्तरी-पूर्वी सीमा प्रान्त में फैली हुई है और अब शासन को समय की गति का सामना करना पड़ रहा है इसलिये भौतिक असंतोष के मूल्यांकन को हमें प्राश्रय देना होगा। लेकिन आशावादियों का कोई उपयुक्त लक्षण दृष्टिगोचर नहीं होता। यदि वाह्य जगत एवं आदिमजातियों की सामाजिक भिन्नता को मिलाया नहीं गया तो क्रूर महाजनों, कर्जदारों, वैदेशिक व्यापारी दलालों, कठोर शासन कर्त्ताओं एवं अनभिज्ञ सामाजिक सेवकों द्वारा असंतुष्ट आदिमजातियों के निमित्त कुछ उपाय होना आवश्यक है। अब भारतीय सीमा प्रान्तों में आदिमजातीय समस्याओं की उपेक्षा नहीं की जा सकती, क्योंकि इसका अर्थ हमारी राष्ट्रिय आकांक्षा को दबा देना होगा। सीमा प्रान्तों में राजनैतिक आंदोलन से सम्बन्धित इन समस्याओं की चिन्तनीयता ने इनको विवेचना को कठिन बना दिया है। यहाँ इस कागज के टुकड़ों पर कुछ उपाय बतलाना कठिन तो अवश्य है किन्तु यदि हम अपनी स्वतंत्रता को दृढ़ रखना चाहते हैं तो आदिमजाति समस्याओं के प्रति एक नवीन एवं सुदृढ़ दृष्टिकोण बनाना होगा जो आवश्यक एवं राजनैतिक दृष्टि से सुगठित भी हो।

पुनरुत्थान समन्वय :

यहाँ भी उपरोक्त दो समस्याओं के अनुसार समाज सुधारक स्वयं कुछ नवीनता नहीं ला सकते जबतक कि उन्हें वैज्ञानिकों की सहायता नहीं मिलती क्योंकि वैज्ञानिक ही आदिमजातीय समस्याओं को व्यवहार में लाने के लिए, नये सिद्धान्तों, दृष्टिकोणों एवं नये तरीकों का आधार सृजन करते हैं। भारत के नृतत्व शास्त्रज्ञों को अब राज्य एवं आदिमजाति संबंधित चिन्ताओं में हाथ बंटाने के लिए अग्रसर होना होगा और अब कोई भी राज्य ऐसे कार्य करने में नहीं हिचकेगा। नृत्तत्व शास्त्र केवल नियमों का अध्ययन ही नहीं बल्कि प्रायोगिक विज्ञान भी है जिसने साम्राज्यवाद और औपनिवेशिकता के कार्यों में प्रायः सर्वापरिचित स्थानों में हाथ बंटाया है। बर्बर संस्कृति के कार्य-कलापों के अध्ययन से, पुरातन संस्थाओं, सामाजिक नियमों, उत्सवों, एवं सांस्कृतिक विचारों के मिलाप की झलक मिलती है तथा शासन कर्त्ताओं एवं समाज-सुधारकों के लिए, नृत्तत्व शास्त्रीय नियमों का सुदृढ़ विवेक की आवश्यकता पड़ती है यदि वे सुरक्षा एवं पुनर्स्थापना के नये सूत्र निकालना चाहते हैं। शासनकर्त्ता पदाधिकारी जो आदीमजातीय गति विधि से अनभिज्ञ एवं कट्टर हैं। उन्हें ज्ञान तथा आरम्भिक चाहनेवाली नियुक्तियों से दूर

ही रखना अच्छा होगा और न तो इन क्षेत्रों में काम करनेवाली सामाजिक संस्था में हमें झूठी सुरक्षा की लालच देती है और न तो सामाजिक वैज्ञानिकों की सहायता के बिना वे कुछ अच्छा परिणाम ही निकाल सकते हैं। इस तरह यह एक चेतावनी एवं सूचना भी है जिसकी उपेक्षा किसी भी सरकार को नहीं करनी चाहिये। निर्माण-कर्त्ताओं ने ही आदिमजाति जीवन में असंतोष की आग उत्पन्न की और जब एक बार इसका भूत सवार हो जाता है तो इसे शांतिमय बनाने के निमित्त योग्यता और समझदारी को आवश्यकता पड़ती है। हमारी समस्याएँ हिमालय को तरह जटिल है एवं हमारी आकांक्षाओं की चरम सीमा भी असीम है। यदि हम इन गूढ़ समस्याओं को अच्छी तरह न सुलझाएँ तो हमारे राष्ट्रीय स्तर नष्ट हो जायँगे। अतः हमें अपनी समस्याओं को समझना है एवं दृढ़ता के साथ कार्य करना है।

शासन सम्बन्धी समन्वय :

राज्य सरकार एवं समाज सुधार संस्थाओं द्वारा किये गये अनेक उन्नति के कार्यों की रिपोर्ट देखकर हमें आश्चर्य होता है कि अनेक कुओं की खुदाई हुई है, अनेक स्कूल खोले गये हैं, आदिमजातियों की शिक्षा, आदिमजातीय भाषा के माध्यम से ही दी जाने लगी है एवं हमारी पाठ्य-पुस्तकों में आदिमजाति विषयों की ही प्रमुखता रहती है और इस तरह हमें विश्वास दिलाया जाता है तथा आवश्यक करने योग्य कार्य कर दिये गये हैं। हैदराबाद में जो कुछ भी किया गया है उसे आसाम और छोटानागपुर में भी लागू किया जाने लगा है और आदिमजाति क्षेत्रों के विभिन्न क्षेत्रों में उन्हीं भूलों को दुहराया जा रहा है। आदिमजातीय जीवन की समस्याएँ स्थान-स्थान पर भिन्न होती चली गई हैं और किसी विशेष क्षेत्र के लिये प्रश्नरूपी बनाना अति आसान हो गया है जैसा कि प्रोफेसर मैलिनोवस्की ने बतलाया है कि जहाँतक मैलेनेशियन संस्कृति का सम्बन्ध है इसकी बोली जानेवाली भाषा एवं आपस के व्यावहारिक स्वरूप को बिना भाषा सम्बन्धित सांस्कृतिक आधार का पूर्ण ज्ञान हुए समझना कठिन है। यह बात भारतीय आदिमजातियों के साथ भी लागू होती है। केवल चलते-फिरते अस्पतालों एवं छुआछूत की बीमारियों से पीड़ित आदिमजातियों के लिये दवाखाना का खुल जाना ही, उन जातीय झंझटों में फंसे हुए आदिमजातियों की समस्याओं को हल नहीं कर सकता है। इसकी जड़ें इतनी गहरी हैं कि इन्हें उखाड़ फेंकने का उपाय शास्त्रीय ढंग से कार्यान्वित सामाजिक बनावट के मूल्यांकन एवं व्यवहारों के पुनर्जागरण से

हो सकता है। जबतक इस वर्त्तमान रूप में शयनागर की संस्थाएँ उड़ीसा के गंजाम जिले के "सबरों" एवं "खोन्ड" में मौजूद है तबतक विभिन्न बीमारियाँ मौजूद रहेंगी ही। इसी प्रकार जबतक बहुपति विवाह प्रथा हिमालय के क्षेत्रों में चलती रहेगी, तबतक पूर्णरूपेण सुसज्जित चलते-फिरते अस्पतालों के बावजूद भी यौन रोग बने ही रहेंगे।

आदिमजातीय जीवन की समस्या कुछ ही साल पहले प्रकाश में आई। अतः मैं उनमें से कुछ का वर्णन कर उनके विभिन्न दृष्टिकोणों को बतलाना चाहता हूँ जिसका उल्लेख यहाँ पर वाछनीय है।

१. अस्थायी कृषिः अस्थायी या कुरवा कृषि करनेवाले एवं उनके वास स्थानों की सूची निम्नलिखित है। सांस्कृतिक विभिन्नतानुसार हल की भिज्ञता एवं अनभिज्ञता नामक आदिमजाति समस्याविशेष के दो मुख्य अंग हो सकते हैं।

(क) वे आदिमजातियाँ जो हल की उपयोगिता से अनभिज्ञ हैं। मध्यभारत में बैगा नामक जाति विस्तृत रूप से कोरवा कृषि की पक्षपाती है तथा वृक्षों की कटाई एवं एख से बनने वाली जमीन की खुदाई की छड़ी द्वारा खेतों में बदल देती हैं।

कोलम जाति जो गोदावरी और पेनगंगा के बीच रहती है कोरवा कृषि एवं खोदने वाली छड़ी का व्यवहार करती है।

मुचखन्ड तराई में बसनेवाले दोरसे (या दीदाइल) नामक जाति भी उसी प्रकार कोरवा खेती के उपयोग के लिये खोदनेवाली छड़ी को व्यवहार में लाती है।

पच्छिमी तराई, उड़ीसा एवं मंगलोर के निवासी मराठियों पर कोरवा कृषि का अभ्यास करने से प्रतिबन्ध लगा दिया गया है परन्तु बाद में जंगल विभाग ने मुलीयार, करोडका, अडोर और मन्दाकोला आदि गांवों में पुनः इस खेती करने का अधिकार दे दिया है जिससे उनकी आबादी को कुछ प्रेरणा मिले एवं साथ-ही-साथ भविष्य में इस विभाग का भी कुछ कार्य सरल हो।

(ख) वे आदिमजातियाँ जो हल के व्यवहार से भिज्ञ हैं। कोरवा कृषि का प्रचलन गोदावरी तराई, पच्छिमी तराई, पच्छिमी गोदावरी एवं विजगापट्टम क्षेत्रों में रहनेवाले कोयास एवं पहाड़ी रेड्डीस में पाया जाता है, किन्तु हल का प्रयोग वे पहले से बनाये हुए खेतों में ही करते हैं।

जयपुर रियासत, लालूर ताल्लुक, श्रीगंखरपू कोटा, चोदा वरमू एवं गरलकुन्ड़ा में गडावा जाति का निवास स्थल है। वे पहाड़ी ढालुवाँ क्षेत्रों में कोरवा खेती तथा सिंचाई वाले क्षेत्रों में स्थायी खेती का व्यवहार करते हैं।

इसी प्रकार सालुर में विशाकेपट्टनम जिला के परवतीपुर तथा पालकोंडा ताल्लुक नामक स्थान में जारथुल तथा सवारा जातियाँ बसती हैं जो कोरवा तथा स्थायी दोनों तरह की खेती करती है।

पोरजान भी जो विशाकेपट्टनम की एक जाति है दोनों प्रकार की खेती को प्रश्रय देती है।

वायनद क्षेत्र के कुरिचियास, मुल्ला कुरुम्बास एवं कारीमपलानास पहाड़ी ढालुओं पर कोरवा खेती तथा सिंचाई योग्य समतल भूमि पर स्थाई खेती का व्यवहार करते हैं।

दक्खिनी कनारा के कुरुम्स जाति ने खेती को बिल्कुल छोड़ दिया है।

अतः हम देखते हैं कि विभिन्न आदिमजातियों में कोरवा (अस्थायी) खेती का खूब प्रचलन है। हाँ, बैगा जाति की प्रथा शायद दूसरी जाति से कुछ भिन्न देखने को मिलती है क्योंकि उनके जादूगरी के विश्वास उन्हें खेती से दूर रखते हैं। दूसरी जातियों में ऐसा कोई भी अन्धविश्वास नहीं पाया जाता और यदि मिलता भी है तो सिर्फ खेती की भिज्ञता और अनभिज्ञता का। अतः जिन्हें कोरवा खेती के अतिरिक्त स्थायी कृषि की भी जानकारी है उन्हें कृषक बनना अत्यन्त ही सरल है। स्थायी खेती के जानकारों में से जहाँ कोरवा कृषि वर्त्तमान है, ऐसा पता लगता है कि स्थायी कृषि से किसी भी प्रकार की बुराई नहीं हुई है यदि आदिमजाति वर्गों की ध्यानपूर्वक परीक्षा की जाय तो पता चलेगा कि स्थायी खेती की स्थापना के पहले उसके प्रतिकार का कोई रास्ता निकाल लेना होगा। पहले पहल साधन का प्रश्न उठता है एवं अच्छी जमीन, बैल और औजार खरीदने की पूंजी इत्यादि की आवश्यकता पड़ती है। आदिवासी कल्याण समिति (मद्रास) की रिपोर्ट से पता चलता है कि यदि "कोरजाओं" की भलाई खेती के लिये अच्छी जमीन दी जाय तो वे स्थायी कृषि को आसानी से अपना लेंगे। यह स्वाभाविक है कि लोग साधन की कमी एवं कम उपजाऊ भूमि में कम मेहनत कर थोड़ी-सी चीजों को ही पाने की लालसा रखते हैं।

पलाकोंडा के पहाड़ी रेड्डीय ने सींचे हुये क्षेत्रों में धान उपजाने की चेष्टा की किन्तु सिंचाई की असफलता के परिणाम स्वरूप उन्होंने स्थायी कृषि को ही त्याग दिया और खेती के नये ढंग भी अविश्वसनीय सिद्ध हुए जिसके लिये वे बाध्य किये गये थे। यहाँ खेती के नये तरीके जिसे हम लागू करना चाहते थे बिल्कुल ही विश्वसनीय सिद्ध नहीं हुए इसीलिए खेती के किसी एक तरीके से दूसरे तरीके में

आदिमजातियों को बदलने के पहले अनिश्चयता को कम करना होगा।

इस समस्या का एक दूसरा भी पहलू है। एक जाति अच्छे विचारों से स्थायी कृषि को अपना सकती है। इस तरह उन्हें बैल इत्यादि खरीदने के लिये रूपया उधार लेना पड़ता है। धोखेबाज महाजन अधिक सूद पर कर्ज तो दे देते हैं परन्तु ऐसे कर्ज का बोझ उतारना कभी भी सम्भव नहीं होता और इस तरह कर्ज के भार से कृषक धीरे-धीरे अपनी जमीन से हाथ धो बैठते हैं और फिर उन्हें कोरवा खेती को ही अपनाना पड़ता है। ऐसी घटना 'जटायू' तथा 'सवारा' में हो चुकी है। कल्याण समिति की रिपोर्ट से पता चलता है कि सरकार यदि स्थायी खेती के लिये कुछ पूंजी दे दे तो 'जटायू' जाति कोरवा खेती को बिल्कुल छोड़ दे।

अपनी नितान्त आवश्यकता की पूर्त्ति के लिये कुछ आदिमजातियाँ कोरवा कृषि का अभ्यास सीमित क्षेत्रों में ही करती हैं। ऐसी कृषि के प्रभाव का अंकन लगाया जाता है और इससे देश की आर्थिक दशा में भी कोई हानि नहीं पहुँचती, किन्तु वर्त्तमान काल के सम्पर्क से आदिमजातियाँ भी रूपये कमाने की धुन में संलग्न रहती हैं। इस तरह एक बृहद् जाल का सृजन हो जाता है और इस सम्पर्क की बदौलत आदिमजातियाँ कर्ज से मुक्ति पाने के लिये, बहुधा 'जटायू' और 'सवारा' जातियाँ विस्तृत कोरवा कृषि का अभ्यास करते हैं। ऐसी अवस्था में वह जमीन जो उनके व्यवहार में है, बढ़ती ही जाती है जो निश्चय ही विनाशकारी है।

कोरवा ढंग की खेती अपना वर्णन आप ही करती है। कोई भी व्यक्ति वैसे कार्य को करने से हिचकता है जिसका परिणाम बिल्कुल अनिश्चित हो। इसीलिये अनेक आदिमजातियाँ स्थायी कृषि से विमुख हैं। परन्तु पुरानी प्रथा को अचानक समाप्त भी नहीं किया जा सकता। इसके अतिरिक्त आदिमजातियों के निवास स्थान के निकट उन्हें खेती जन्य जमीन एवं औजार देकर धीरे-धीरे उन्हें स्थायी कृषक बनाना अधिक मुश्किल नहीं है। आसाम, उड़ीसा एवं हैदराबाद में तो कुछ आदिमजातियों को कोरवा कृषि के लिये २०, २० एकड़ जमीन दी जाय। एक बढ़ी शिक्षा प्रणाली में स्थायी खेती के साथ-साथ निम्न कोटि की शिक्षा देकर यदि उन्हें आवश्यक साधन प्रदान कर दिये जायें तो उन्हें कोरवा खेती की प्रथा से हटाने में विलम्ब न होगा।

जबतक सरकार कोरवा कृषि सम्बन्धी कोई सामान्य नीति नहीं बनाती, और जबतक विशेष क्षेत्र की विभिन्नताओं को ध्यान में नहीं लाती तबतक ऐसे मध्यकाल का अनिवार्य हो सकता है जब कोरवा कृषि करने में सावधानी से सहयोग प्रदान किया जा सकता है। इनमें से कुछ निम्न लिखित प्रकार के हो सकते हैं :—

१. वे उन जंगलों को काटना छोड़ दें जिनकी उपज से व्यापारिक लाभ अधिक होता है।

२. पहाड़ियों से कुहासा के लकीर के नीचे उतरें और ऊँची चोटियों में ही खेती करें।

३. झरनों के श्रोतों को नष्ट न करें।

४. तीन या चार वर्षों से अधिक किसी एक खेत को व्यवहार में न लावें।

५. पूर्णरूप से या जड़ से वृक्ष को न काटें। वृक्ष में काटते समय ठूठ डालों को छोड़ दें तथा सिर्फ टहनियों को ही काटें।

६. प्रत्येक खेतों में वृक्षों को बिना काटे ही छोड़ दें जैसा कि 'ल्होटा' जाति करती है।

७. जिन खेतों में खेती करना वे छोड़ दें उनमें उसके पश्चात् पेड़ों को लगाया जाय।

इसी बीच नियमित प्रचार एवं सिनेमा द्वारा कोरवा खेती की हानि को अधिक न बतला कर स्थायी कृषि के गुण एवं लाभ का ही प्रचार करना चाहिये। पुनः मुफ्त जमीन की बन्दोबस्ती कर बीज के लिये कर्ज देकर तथा द्रव्य और बैल प्रदान कर उनके जातीय नेताओं को बदलने की चेष्टा करनी चाहिये। इस तरह सारा समुदाय अपने नेताओं का दृढ़ होकर अनुकरण करेगा। इस तरह एक सुचारु नीति एवं लम्बी अवधि लाभदायक परिणाम ला सकती है।

२. पुरातन शिक्षा :

शिक्षा का अर्थ न केवल पढ़ने-लिखने की योग्यता हासिल करना है बल्कि प्रौढ़ जीवन की तैयारी है। इसलिये शिक्षा जो आदिमजातियों के बच्चे प्राथमिक काल में ग्रहण करेंगे वह उनके अपने सांस्कृतिक ढांचे में ढली होनी चाहिये। इसका मुख्य ध्येय प्रौढ़ों का उत्पत्ति करनी है जो अपने जाति विशेष के लिये अयोग्य न हों। उनकी शिक्षा पूर्णरूपेण उनकी सांस्कृतिक परम्परा के आधार पर होनी चाहिए जो सफलतापूर्वक इनके द्वारा बढ़ायी जा सके। इस तरह कानून परिवर्त्तन से ही सच्चा स्थानीय आंदोलन सम्भव है। यह नितान्त आवश्यक है कि आदिमजातियाँ आप ही शिक्षित होकर स्वयं आदम क्षेत्रों में शिक्षक हो सकें। ऐसी चेष्टा हैदराबाद में पूरी सफलता के साथ चल रही है और अबतक 'जोरुडी शिक्षा योजना' के लिये ६० एवं 'कोया शिक्षा योजना' के निर्मित १० शिक्षकों को शिक्षित किया जा चुका है। दूसरों को जिन्हें शिक्षक का कार्य आदिम क्षेत्रों में करना है नृतत्त्व शास्त्र के

बुनियादी शिक्षा को ग्रहण करना चाहिये जिसमें आदिमजातियों के प्रति सहानुभूति एवं सदभावों का ही रूप हो। उन विद्यालयों में जहाँ एक से अधिक शिक्षक हैं उसमें अच्छा परिणाम लाने के लिए एक शिक्षक को आदिवासी एवं दूसरे को अन्य जाति का होना चाहिए। इस सामंजस्य का सुपरिणाम यह होगा कि आदिम जातीय शिक्षकों की मलिनता तथा बाहर के लोगों की वाचालता (शिकायत करने की आदत) दूर हो जायगी और यह आपसी सुधार एवं सुरक्षा में भी सहायक सिद्ध होगी।

प्राथमिक शिक्षा का अध्ययन स्थानीय भाषा होनी चाहिये जहाँ तक लिपि का सम्बन्ध है, यदि देवनागरी उचित जान पड़े तो उसे ही लागू करना चाहिये।

पढ़ाई का विषय आरम्भ में बिल्कुल स्थानीय होना चाहिये। नृत्तत्व शास्त्र के शिक्षा शास्त्रियों को आदिम जातियों की सांस्कृतिक परम्परा एवं किम्वदन्तियों के आधार पर सरल पुस्तकों को लिखने में बड़ी मेहनत करनी होगी। साथ ही साथ प्रौढ़ शिक्षा को भी प्रोत्साहन देना होगा। प्रौढ़ शिक्षा में अधिक दिलचस्पी लाने के लिये यह आवश्यक है कि शिक्षा, शिल्पकला पर आधारित हो। आदिमजातियों की रुचि के अनुसार ही किसी विशेष शिल्पकला को चुनना चाहिये। उदाहरणार्थ, नीलगिरी की 'कोलास' जातियाँ शिल्पी नहीं है। शिक्षा से दूसरों से कुछ सीखने के अलावे अपनी ही शिल्पकलाओं को उन्नत करने का ध्येय होना चाहिये।

विद्यालयों के वार्षिक कार्यक्रम को स्थानीय कार्य प्रणाली के सिद्धान्त पर ही ढालना चाहिये, तथा छुट्टियों का उचितम आर्थिक कार्य-कलापों एवं उत्सवों के साथ, सामंजस्य होना चाहिये।

जर्मनी एवं गोल्डकोस्ट में प्रौढ़ शिक्षा न केवल सामुदायिक नेताओं के शिक्षण का ही कार्य करती है बल्कि स्थानीय समस्याओं का भी अध्ययन करती है।

शिक्षा की सामान्य सामग्री जैसे मेज (टेबुल) कुर्सी, हाजरी बही, एवं जुर्माना आदि, बिना नुकसान के किन्तु सहाय होकर प्रबन्धित होना चाहिये। विद्यार्थियों के दृष्टिकोण को उन्नत बनाने में खुली जगह अधिक सहायक होती है तथा घिरे हुए शलाओं के अन्दर उन्हें रखने का कार्य सिर्फ खराब मौसम में ही ठीक होगा।

ऊपर दिये गये शिक्षा सम्बन्धी साधन अखिल भारतीय शिक्षा नीति के आधार पर कहीं भी लाभदायक सिद्ध हो सकते हैं। यदि इस देश के योजना निर्माता एक संशोधित अखिल भारतीय शिक्षा नीति की आवश्यकता का अनुभव करें तो न विशेषज्ञों की आवश्यकता पड़ेगी और न अनुसूचित जातियों के कमिश्नर

को ही इसमें हस्तक्षेप करने का अवसर मिलेगा। अतः शिक्षा विभाग में नृत्तत्व शास्त्रों की सलाह अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होगी।

३. आदिमजातीय सौन्दर्य भावना :

आदिमजातियों के संगीत एवं नृत्य को राष्ट्रीय हित के उत्थान के लिये सुरक्षित रखना चाहये। उनके आधुनिक जीवन में मूर्तिकला, चित्रकारी एवं मौखिक साहित्य का एक अपूर्व महत्त्व है किन्तु ये वास्तविक या उतना आवश्यक महत्त्व नहीं रखती। गणतंत्र दिवस जैसे उत्सवों में भी कार्यालय संरक्षक आदिमजातियों के संगीत एवं नृत्य की ओर कम ध्यान देते हैं। आवश्यकता तो इस बात की है कि सफल जीवन के लिये परिश्रम एवं प्रतिष्ठा की स्थानीय पुनरावृति हो तथा कथित समाज-सुधारक की आर्थिक मन्दी एवं दूषित आचार निर्णय ही वर्त्तमान नृत्य एवं संगीत की उदासीनता का उत्तरदायी है, जो कि खुशी की बात है कि अभी उतना भयप्रद नहीं है। अधिकांश आदिमजातियों के विच्छेद का कारण वे नये पुश्त के युवक गण हैं जिन्होंने अपने परम्परागत विश्वासों को खो दिया है। यह कभी-कभी आदिमजातियों द्वारा आदिमजातियों के रीति-रिवाज तथा त्योहारों की ठिठोली करने का भी परिणाम है। इसलिए आज आदिमजातियों में उनके उत्सवों आदि के प्रति नये उमंग को लाना ही एक बहुत महत्त्वपूर्ण कार्य होगा। उन्हें उनके कलापूर्ण एवं सांस्कृतिक कार्यों के महत्त्व से अवश्य ही परिचित बनाना पड़ेगा। देश के विभिन्न हिस्सों में आदिमजातियों के नृत्य के रूपों एवं कार्यों को सुरक्षित करके ही उनकी सच्ची सेवा की जा सकती है। आदिमजातियों को उनके नृत्य एवं संगीत की कलात्मक विशेषताओं को बतलाने में ग्रामस्वयंसेवक बड़े ही सहायक सिद्ध हो सकते हैं। इसी बीच शहरी जनसंख्या को नृत्य एवं संगीत तथा समान्यता से भरे स्थानों में शिक्षित करने के लिये भारत सरकार की 'डोक्यूमेन्टरी विभाग' विकास के अनेक साधनों द्वारा जो हमारे आदिमजाति ग्रामों में छिपी हुई है, कुछ करने में समर्थ हो सकती है। मैं स्वयं अपने पंक्तियों को उद्धृत करना चाहता हूँ।

"आज भी यदि प्रोत्साहन दिया जाय तो आदिमजातीय नृत्य भी मनोरंजन एवं सम्मिलित शक्ति का एक सुव्यवस्थित साधन हो सकता है। इसके अतिरिक्त शासन द्वारा यदाकदा आयोजित नृत्य एवं संयुक्त कला अवश्य ही मूल्यांकन का पुनरुत्थान करेगा एवं सामाजिक सम्बन्ध को और भी दृढ़ बनाने में समर्थ होगा। इस तरह आदिमजातियों की अभिरूचि के अनुसार वार्षिक खेल-कूद में धनुषबाण का

प्रयोग, दौड़, जंगलों में वृक्षारोपण एवं उछल-कूद जैसे खेल आदिमजाति संस्कृति की स्थापना में एक महत्वपूर्ण स्थान रखेगा।"

४. आदिमजाति के वास स्थान :

आदिमजाति के विश्वास, इच्छाओं एवं अंधविश्वास की जानकारी के साथ-साथ हमें उस क्षेत्र के गृह स्वरूपों का भी पूर्ण ज्ञान होना चाहिये। क्योंकि सुधार की आवश्यकताओं को समझने एवं उसे सही मार्ग पर लाने के लिये वास-स्थानों की आवश्यकता बड़ी ही सहायक सिद्ध होती है। स्थानीय सामग्रियों एवं श्रम द्वारा स्कूल तथा सामूहिक केन्द्रों की स्थापना इस प्रकार होनी चाहिये जो आदिमजातियों के गृहकला का सुन्दर नमूना सिद्ध हो। इन बताये हुये ढाँचे के अनुसार गृह-निर्माण में उन्हें बड़ा उत्साह मिलेगा।

ऐसा कोई भी कारण नहीं जिससे आदिमजातीय संस्थाओं की स्थापना हवादार एवं फैलाव वाले घरों में न हो क्योंकि इन दोनों के बीच किसी प्रकार का संघर्ष नहीं। आवश्यकता इस बात की है कि आदिमजाति समाज को इन नवीन बनावट की श्रेष्ठता पर विश्वास दिलाना है एवं यह भी बतलाना है कि किस प्रकार इन नवीन गृहों में सदा की भांति इनके परम्परागत कार्यवाहियों का संचालन सम्भव है। निर्माण के नये गृहों में अधिक ध्यान उन पुरातन भवनों के सस्ते एवं स्वस्थ रूपों पर देना चाहिये। मनुष्य को परम्परागत गृह-कला के ढांचे में विशेष परिवर्त्तन की तब तक कोई आवश्यकता नहीं है जबतक कि वे मनुष्य के स्वस्थ जीवन के बाधक न हो जायँ। और जब कभी भी परिवर्त्तन की आवश्यकता हो तो इन नवीन गृहों को अपनाने वालों में दृढ़ विश्वास का संचार करना अत्यन्त आवश्यक है। इस प्रकार नवीनता की उपयोगिता का दिग्दर्शन कराना, न कि पुरातन भिन्नता को बताना ही आदिमजाति पुर्नस्थापन की सफलता का सिद्धान्त होना चाहिये।

निषेध :

आदिमजातीय लोगों के सम्बन्ध में निषेध एक प्रिय ध्येय हो सकता है जिसे हमलोग आदिमजातियों के बीच भी लागू कर सकते हैं। किन्तु इनके सम्बन्ध में हमें सावधानी से कदम उठाना चाहिये। आदिमजातियों में शराब पान एक सार्वलौकिक प्रथा है किन्तु अन्य जातियों की तरह वे जीवन की परेशानियों को भूल जाने एवं दर्दीले विचारों से मुक्ति पाने की दृष्टि से सेवन नहीं करते।

अधिकांशतः स्थानीय स्वदेशी शराब, चावल या कुछ अन्य अनाजों से तैयार की जाती है जो उनके भोजन का एक मुख्य अंश भी है। आदिमजातियों के भोजन, पौष्टिक सिद्धान्तों को पूरा नहीं करते, इसलिये उनकी स्वदेशी शराब पौष्टिक दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण है। इसके अलावे इन देशी शराबों का उनके रस्म-रिवाजों के दृष्टिकोण से भी एक बहुत बड़ा महत्त्व है।

यदि आदिमजाति क्षेत्रों में, निषेध का प्रचार राष्ट्रीय एवं वैधानिक रूप से न्याय सिद्ध सीमाओं के अन्तर्गत किया जाय तो यह एक हानिकारक नीति होगी। मेरे विचार से निषेध नीति के भिन्न-भिन्न तरीकों को बताने का मुख्य कारण यह नहीं है कि शराब पान आदिमजातियों के लिये हानिकारक नहीं है। ऐसा कोई भी दावा नहीं कर सकता बल्कि यह सर्वविदित है कि किस प्रकार शराब पान आदिमजातीय तथा देहाती गाँवों में अनेक बुराइयों की जड़ बना हुआ है। आदिमजातीय शराब में विचित्र स्वभाव से आदिमजातियों में भिन्न निषेध नीति की आवश्यकता पड़ती है, जिसमें चावल का शराब 'हंडिया' तथा महुआ का रस प्रधान हैं। शराब पुष्टिकारक एवं गर्म वस्तु है जो देश के (आर्द्रभोज्य) आधपेट खाने वाली जनता का आवश्यक आहार है। आदिमजातीय शराब हानिकारक इसलिए है कि इसके नशा का बुरा प्रभाव पड़ता है। इसलिये आवश्यकता इस बात की है कि अधिकृत ग्राम केन्द्रों में परिचित मात्रा में शराब बनाने का आज्ञापत्र दिया जाय। शराब पान नियंत्रित होना चाहिये न कि उनका उन्मूलन ही कर देना चाहिये। इस प्रकार स्वदेशी पौष्टिक शराब का वितरण परिचित मात्रा में होनी चाहिये।

एक बात और, शहरी संस्कृति के पहले जीवन की सारी समस्यायें मिली जुली थी। शराब एवं शराब पान दोनों धर्म से सम्बंधित हैं। अतः ग्रामीण शराब एवं धर्म के इस सम्बन्ध में किसी प्रकार का हस्तक्षेप करने की प्रवृति नहीं होनी चाहिये, वरन् ऐसे अवसरों पर इनकी उपलब्धि आवश्यक मात्रा में होनी ही चाहिये।

अन्ततः आदिमजातियों में शरावपान की बुराइयों को पुनः सहायक शिक्षा के हेतु समझा देना आवश्यक है। आदिमजातियों में निषेध नीति को चालू करने का कार्य आसान हो सकता है किन्तु शहरों की बाजारों के समकक्ष इसका प्रतिरूप गाँवों में नाजायज शराब चुलाने की प्रथा दृष्टिगोचर होती है। सरकार भले ही कुछ न करे किन्तु विशेष नियम द्वारा कानून की अवज्ञा को फैलाने एवं उसकाने की चेष्टा नहीं करनी चाहिये।

यदि हम आदिमजातियों में निषेध को सचमुच ही लागू करना चाहते हैं तो शराब की पौष्टिकता के बदले एवं त्योहारिक अवसरों पर शराब के स्थान पर कोई सन्तोषदायक वस्तु देनी होगी। इस समस्या के हल का सम्बन्ध धीरे-धीरे करने की जरूरत है। इस प्रकार योजनात्मक एवं शैक्षिक प्रणालियों के प्रचार से आदिवासियों में शराब से छुटकारा पाने में तथा दूसरी अनुकूल चीजें जो इनके लिये लाभदायक है, अपनाने में सफलता मिल सकती है।

कुछ आदिमजातियां, जिन्हें स्वदेशी शराब बनाने की आज्ञा नहीं है, सस्ती एवं हानिकारक महुआ से बनायी गयी शराब की नशीली लपेट में आ गयी है। इस दृष्टिकोण से ये आदिमजातियाँ किसी भी तरह अपने अन्य सभ्य पड़ोसियों से भिन्न नहीं हैं। अतः निषेध की नीति में इनके प्रति किसी विशेष रियायत या छूट की आवश्यकता नहीं वर्त्ती जानी चाहिये।

उपसंहार :

आदिवासियों की समस्याओं का हल सुधार द्वारा नहीं हो सकता। पहली बात है कि यह कोई स्पष्ट दृष्टिकोण नहीं है क्योंकि इसकी बुनियाद स्वदेशी विश्वास एवं प्रथाओं की पृथकता से जाग्रत होती है। तथा दूसरी बात यह है कि सुधारकों को स्वयं सुधारने की आवश्यकता है। हमारी सुधार संस्थाओं के अनुभव से यही पता चलता है।

इन सुधार संस्थाओं के प्रति आदिमजातियों में असंतोष एवं मायूसी की भावना बुरी तरह फैल गई है। वे अपनी व्यवस्था आप ही करना चाहती हैं। इसलिए सरकार का मुख्य ध्येय आदिमजातियों के सुधार में आदिमजातियों के नेतृत्व को ही बढ़ावा देने की प्रवृत्ति का ही होना चाहिये। भारत में विशेषकर बिहार राज्य में विमुख संस्कृति के अनेक उदाहरण हैं जो जान-बूझकर आदिम-जातियों को प्रगतिपथ पर बाधायें डालती है तथा सुधार प्रणाली की सार्थकता पर भी संदेह उत्पन्न करा देती है। इसलिए अनभिज्ञ नीतिज्ञों के हाथ आदिम-जातियों के भाग्य को छोड़ देने के बजाय मैं तो कल्याण कार्यों के राष्ट्रीयकरण को ही अधिक महत्त्व दूँगा। परन्तु मैं यह भी जानता हूं कि प्रेतात्मा को प्रश्रय देने के लिए कभी-कभी सरसों का बीज भी स्वयं प्रेत का बीज बन जाता है। अतः इसमें योग्य निर्णय के लिए मैं इसे नृतत्व शास्त्रज्ञों पर छोड़ देता हूँ।

यदि योजना समिति तीन नृतत्व शास्त्रज्ञों की निपुण समिति को स्थापना कर सके, जो आदिमजातीय शासन के अनुभव पर आदिमजातीय समस्याओं की खोज एवं समाधान करने में समर्थ हो सके तो अच्छा हो। इस समीति का कार्य यथार्थ तत्वों की खोज करना एवं नीति निर्धारित करना दोनों होना चाहिये।

बिहार में आदिवासियों की कल्याण योजना

ब्रिटिश सरकार की संरक्षिता में ईसाई मिशनरियों ने आदिवासी समुदायों को ईसाई मत में परिवर्त्तन करने की भावना से प्रेरित होकर कल्याण केन्द्रों की स्थापना की एवं उनकी स्थिति सुधारने का प्रयत्न किया। फिर भी, दूरस्थ तथा असामान्य प्रदेशों के आदिवासियों के बीच, कार्यशीलता के इस क्षेत्र में, प्रथम होने के नाते, यह श्रेय उन्हीं को है। स्वराज्य आन्दोलन काल में स्वर्गीय श्री ठक्कर बापा के दृष्टान्तों के अनुसार, आदिवासियों के सेवा कार्य, भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के सक्रिय रचनात्मक कार्यक्रम में सम्मिलित कर लिया गया। श्री ठक्कर बापा वास्तव में उस पिछड़े हुए सामाजिक कार्य क्षेत्र के अग्रणी नेता थे जिसमें लोगों का कोई चाव न था।

श्री ठक्कर बापा ने विभिन्न राज्यों के आदिवासी क्षेत्रों का सविस्तार भ्रमण कर उनके कल्याण हेतु एक परिमित पंचवर्षीय योजना की रचना की। उन्होंने बिहार का दौरा कर सन् १९४८ में एक योजना बनाई और उसे राज्य सरकार से गैर सरकारी संस्था द्वारा कार्यान्वित करने का अनुरोध किया। अतएव बिहार सरकार ने इस योजना के निष्पादन कार्य "आदिम जाति सेवा मंडल" रांची को सौंपा, जो समाज सेवा के क्षेत्र में सन् १९४६ से ही था। कुछ योजनाएँ जो संथाल परगना के आदिवासियों के कल्याण के लिये बनी थी, "संथाल पहाड़िया सेवा मंडल" नामक एक दूसरी गैर-सरकारी संस्था को सौंप दी गई जिसकी उत्पत्ति उसी समय हुई थी।

उपर्युक्त योजना ठक्कर बापा योजना के नाम से लोकप्रिय है। यह योजना पहले दृष्टान्त में १५ महीने की अवधि के लिये १,३५,००० रुपयों की मंजूरी पर हुई थी। यद्यपि यह योजना ३१ मार्च, १९४९ को समाप्त हो गई परन्तु फिर भी आज यह अथक शक्ति के साथ कार्य में प्रवृत है। जैसा कि सन् १९५७-५८ में ८८,००० रुपयों की आगणित व्यय के आंकड़े से देखा जा सकता है। इस योजना में स्कूलों, छात्रावासों तथा हाथ कताई-बुनाई के निर्माण और संघटन का प्रबन्ध है।

भारत में स्वतंत्रता के जागरण में, वह लाल अक्षरों में लिखा जानेवाला दिन था जबकि संविधान बनाने वालों ने संविधान में भारत के अनुसूचित जातियों

तथा अनुसूचित आदिवासियों जैसे पिछड़े वर्गों की सामाजिक, आर्थिक तथा शिक्षा सम्बन्धी अभिरुचियों की रक्षा के लिये विशेष व्यवस्था की। राजनीति के आदेशात्मक सिद्धान्तों के अन्तर्गत जैसा कि संविधान में दिया गया है, भारत संघ की सभी राज्य सरकारों पर जनता की कल्याण वृद्धि का एक कर्त्तव्य सौंपा गया है, जिसमें, निर्विघ्न तथा सुरक्षित रूप से एक प्रभावशाली समाज की व्यवस्था हो सके, जिसमें न्याय, सामाजिक, आर्थिक तथा राजनैतिक विषय का उल्लेख हो। ऐसे विषयों को राष्ट्रीय जीवन की सभी संस्थाओं को सूचित करना पड़ेगा। उन्हें जनता के निर्बल अंगों और विशिष्ट रूप से अनुसूचित जातियों तथा अनुसूचित आदिवासियों के शिक्षा संबंधी तथा अभिरुचियों को भी ध्यानपूर्वक वृद्धि करना होगा तथा उनकी, सामाजिक अन्याय तथा सभी प्रकार के शोषणों से भी रक्षा करनी होगी।

उपर्युक्त दायित्व को पूर्ण करने में राज्य सरकार को समर्थ करने के लिये संघ सरकार, विकास की उन योजनाओं के व्यय को पूर्ण करने के हेतु सहायक अनुदान देकर मदद करने को तैयार हुई। इस योजना का ध्येय, भारत सरकार की स्वीकृति पर अनुसूचित जातियों के कल्याण वृद्धि के लिये या अनुसूचित क्षेत्रों से लेकर उस राज्य के अवशेष क्षेत्रों के शास्त्र स्तर को ऊँचा करना था। अनुसूचित जातियों तथा अनुसूचित आदिवासियों के कमिश्नर जो राष्ट्रपति द्वारा नियुक्त किये गये हैं, कल्याण योजनाओं तथा सहायक अनुदान के अनुमोदन के लिये भारत सरकार को अभिस्ताव करते हैं। कमिश्नर का यह भी कर्त्तव्य होता है कि वे अनुसूचित जातियों तथा अनुसूचित आदिवासियों की रक्षा संबंधी सभी बातों की जांच करें, जैसा कि संविधान में है और उसके पालन की सूचना प्रत्येक वर्ष राष्ट्रपति को दें।

अनुसूचित क्षेत्रों (भाग एराज्य) के आदेश १६५० के अनुसार बिहार में १५,२२७ वर्गमील अनुसूचित क्षेत्र हैं जो मोटे तौर पर राज्य का २१.६ प्रतिशत क्षेत्र होता है। उन क्षेत्रों का अलग-अलग आंकड़ा निम्नलिखित है :—

१.	रांची जिला	७, १५६ वर्गमील
२.	सिंहभूम। दालभूम सबडिविजन और मानभूम का वह हिस्सा जो सिंहभूम में है।	२, ७४५ ,,
३.	संथाल परगना। गोडा और देवघर सबडिविजन छोड़कर।	३,६७८ ,,
४.	लातेहार। पलामू जिला का सब डिविजन।	१,६४५ ,,
	कुल जोड़:	१५,२२७ वर्गमील

बिहार सरकार ने अनुसूचित आदिवासियों के शिक्षा संबंधी तथा आर्थिक उत्थान की वृद्धि के लिये कल्याण बिभाग नामक, एक पृथक् बिभाग का निर्माण किया। वस्तुतः राज्य में इसकी सत्ता, संविधान लागू होने के लगभग चार वर्ष पूर्व १६४६ के अगस्त महीने में ही स्थापित हुई थी। अनुसूचित आदिवासियों की शिक्षा तथा आर्थिक उत्थान के लिये अनेकों योजनाएं कार्यशील हैं। कल्याण बिभाग नियंत्रण के अतिरिक्त जिलाधीशों के क्रमशः अपने जिलों में कल्याण कार्य-क्रमों का निष्पादन भी, सौंपा गया। छोटानागपुर कमिश्नरी के पांच जिलों के जिलाधीशों को, जिला आदिवासी कल्याण अधिकारियों से जिनका पद राजपत्रित होता है, सहायता मिलती है। हाल में ही हजारीबाग जिले में अंचल अधिकारियों की प्रणाली आरम्भ होने के कारण, जिला आदिवासी कल्याण पदाधिकारी का पद उठा लिया गया है।

परन्तु १६५७ ५८ में प्रान्तीय और जिला सम्बन्धी शासन व्यवस्था में वृद्धि हुई है। कल्याण विभाग के मंत्री की सहायता के लिए एक निर्देशक समाज कल्याण की नियुक्ति हुई है। वही निर्देशक उप-मंत्री का भी काम करते हैं। जिला शासन के स्तर पर, एक जिला कल्याण आफिसर की नियुक्ति की बात पक्की हो गई है। यह पद भी राजपत्रित होगा। इनके अतिरिक्त कल्याण विभाग जिला के स्तर पर कर्मचारियों में विशेष वृद्धि की बात सोची जा रही है।

क्षेत्र का कार्य थाना कल्याण अधिकारियों द्वारा किया जाता है। प्रत्येक थाना कल्याण अधिकारियों के रहण में अन्न भंडार (गोला) रहता है जो सभी कल्याण कार्यों का केन्द्र स्थल है। अन्न भंडारों से धान ऋण पेशगी देने के कार्य के निरहण के अलावे उन्हें स्कूलों का खोलना, शिक्षा के लिये अभिरुचि पैदा करना, बच्चों को स्कूल लाना, निरहण तथा निष्पादन के लिये स्थान का सुझाव देना, सिंचाई कार्य तथा उचित अधिकारियों को स्थानीय आवश्यकताओं और कमी की सूचना देना और साधारणतः विभिन्न रूपों से आदिवासियों की सहायता सलाह एवं पथ प्रदर्शन करना पड़ता है। जिला के अधिकारी थाना कल्याण अधिकारियों के कार्यों का निरीक्षण करते हैं। तथा भीतरी प्रदेशों में भी इसी उद्देश्य से दौरा करते हैं।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, राज्य में आदिवासियों के कल्याण के लिए अनेकों योजनाएँ कार्यशील हैं। ये योजनाएँ विशेषतः भारत संविधान के नियम २७५।१। के अन्तर्गत भारत सरकार के अनुदान से साध्य है। यह ध्यान देना रुचिपूर्ण होगा कि भारत सरकार अपने अनुदान को उत्तरोत्तर बढ़ाती गयी है

जिससे बिहार सरकार आदिवासियों के कल्याण कार्यों को बढ़ाने में समर्थ हो सकी। जैसा निम्नलिखित आंकड़ों से पता चलता है :—

वर्ष का नाम	केन्द्र से सहायक अनुदान
१९५१-५२	१५,००,००० रुपया।
१९५२-५३	१८,००,००० ,,
१९५३-५४	२१,००,००० ,,
१९५४-५५	३१,००,००० ,,
१९५५-५६	४४,७५,००० ,,
१९५६ ५७	४३,८०,००० ,,
१९५७-५८	८०,४५,००० ,,

कल्याण योजनाएं, पांच मुख्य भागों में बटी हुई हैं, जिनके नाम ये हैं :— १. शिक्षा २. आर्थिक उन्नति ३. जन-स्वास्थ्य ४. यातायात तथा ५. विविध (फुटकर) अनेक कल्याण योजनाओं में से कुछ विशेष महत्वपूर्ण योजनाओं का विवरण नीचे दिया जाता है।

शिक्षा :— शिक्षा के अन्तर्गत पांच योजनाएँ आती हैं :—

(१) छात्रवृतियों का वितरण।
(२) छोटानागपुर तथा संथाल परगना में आदिवासियों के उत्थान के लिये विशिष्ठ योजना। ठक्कर बापा के नाम से लोकप्रिय।
(३) संथाल परगना के पहाड़ियों के लिए शिक्षा की योजनायें।
(४) चाईबासा यांत्रिक स्कूल।
(५) अनुसूचित आदिवासियों के लिये छात्रावास का निर्माण।

वृतियों का वितरण: इस योजना के अन्तर्गत छात्रवृतियां, अनुसूचित आदिवासी विद्यार्थियों को, विशिष्ट निर्मित वृति समितियों के अभिस्ताव पर दी जाती है। स्कूल तथा कालेज के विद्यार्थियों के लिये अलग-अलग समितियां हैं। वृति पाने वाले विद्यार्थियों की सम्पूर्ण संख्या ४४०६ हो गई है। यह योजना आदिवासियों के लिये बहुत ही लाभदायक सिद्ध हुई क्योंकि उनलोगों में से एक बड़ी संख्या के लोग बिना सरकारी सहायता के अपने बच्चों को स्कूल तथा कालेज भेजने में असमर्थ हैं।

राज्य सरकार द्वारा वृतियों के अतिरिक्त, मैट्रिकोत्तर पाठ्यक्रम में पढ़ने वाले आदिवासी विद्यार्थियों की एक बहुत बड़ी संख्या केन्द्रीय, अनुसूचित जातियां,

अनुसूचित आदिवासी तथा दूसरे पिछड़े वर्गों के छात्रवृत्ति परिषद से छात्रवृत्तिया पाती हैं। छात्रवृत्तियाँ ज्यामितिक प्रभाव से बढ़ी है तथा सभी को यह जानकर आश्चर्य होगा कि १९५४-५५ में इस कार्य के लिए एक करोड़ और सात लाख रुपये की राशि निश्चित की गई है।

अनुसूचित आदिवासियों के विद्यार्थी विश्वविद्यालय परीक्षा शुल्क देने से मुक्त कर दिये गये हैं। इस योजना से विश्वविद्यालयों को जो शुल्क आय की क्षति हुई है, उसे सरकार पूरा कर देती है। कालेज तथा स्कूलों में पढ़ने वाले अनुसूचित आदिवासी विद्यार्थियों को भी पुस्तक तथा अन्य सामग्रियों के लिए अनुदान दिया जाता है।

राज्य तथा केन्द्र के द्वारा छात्रवृत्तियों के वितरण की योजना, आदिवासियों के हितकारक सिद्ध हुई जिसमें की अब भी सर्वदा वृतियां तथा छात्रवृत्तियों की संख्या बढ़ाने के लिये बढ़ती हुई मांग है। ऐसी शिक्षा की वृद्धि जो आदिवासियों को शिक्षा सम्बन्ध रखती है, एक शुभ लक्षण माना जा सकता है।

संथाल परगना में पहाड़ियों के लिये शैक्षिक योजना :

पहाड़ियों के बीच शिक्षा के प्रचार के लिये सन् १९५३-५४ में एक विशिष्ट योजना की स्वीकृति हुई थी। उस योजना के अन्तर्गत ४ श्रेष्ठ बुनियादी प्रकार के निवासयुक्त स्कूल तथा ३० दो शिक्षक वाले प्राइमरी स्कूल, संथाल परगना के पहाड़िया प्रदेशों में खोले गये हैं। निवासयुक्त स्कूलों की शिक्षा विभाग के स्थानीय अधिकारियों द्वारा तथा प्राथमिक स्कूलों की संथाल पहाड़िया मंडल द्वारा देख-भाल की जाती है जिसके लिए उसे आर्थिक सहायता दी जाती है। प्रत्येक प्राथमिक स्कूल दूसरे-दूसरे कल्याण केन्द्र के रूप में भी विकसित हो रहे हैं। मैंने सभी निवासयुक्त तथा प्राथमिक स्कूलों का निरीक्षण किया है जो वहाँ के कल्याण कार्यकर्त्ताओं के साथ-साथ निरन्तर प्रगति की ओर बढ़ रहे हैं।

चाईबासा यांत्रिक स्कूल :

चाईबासा, जमशेदपुर से ४० मील दूर सिंहभूम जिले का प्रधान कार्यालय है। संयुक्त सिमेंट कंपनी का सिमेंट कारखाना चाईबासा से कुछ ही दूरी पर है। चाईबासा के आसपास अनेकों छोटे-छोटे उद्योग विकसित हो रहे हैं, किन्तु वर्त्तमान काल में यहाँ के लोगों को स्थानीय उद्योगों में लाभकारी नियुक्ति के के लिये शिक्षा पाने का कोई भी साधन नहीं है। इसलिये चाईबासा में एक यांत्रिक स्कूल की स्थापना की गई है। इसमें मैट्रिकुलेशन श्रेणी पास किये हुये

विद्यार्थियों को शिक्षा दी जा रही है। इस स्कूल में निम्नांकित उद्योगों के लिये प्रत्येक उद्योग में निम्नलिखित संख्या में विद्यार्थी शिक्षा पायेंगे। यहाँ प्रत्येक वर्ष १६ विद्यार्थियों को प्रवेश मिलेगा।

(१)	साधारण यंत्र शास्त्र	१६
(२)	वैद्युत्तिक	१६
(३)	लुहारी तथा टीन की कारीगरी	१६
(४)	बढ़ईगिरी	१६
(५)	लाईन मैन तथा वायरमैन	१६
	कुल जोड़	८०

पाठ्य-क्रम २ वर्ष का है इसलिये विद्यार्थियों की संख्या १६० तथा अनुत्तीर्ण छात्रों की संख्या १० प्रतिशत होगी जो मिलकर १७६ हो जाती है। स्कूल पूर्ण रूप से १९५५-५६ में स्थापित हो गया है। यह योजना अनुसूचित आदिवासियों के लाभ के लिये ही है। तथा सम्पूर्ण स्थानों का ६० प्रतिशत उन्हीं लोगों के लिये सुरक्षित रखा गया है।

अनुसूचित आदिवासियों के लिये छात्रावासों का निर्माण :

छोटानागपुर तथा संथाल परगना के गांव बहुत बिखरे हुए हैं, इससे तथा शिक्षा संस्थाओं के बीच की लम्बी दूरी भी, शिक्षा के उद्धार के मार्ग में एक रुकावट है। इस कठिनाई को दूर करने के लिये सरकार ने जहां नितान्त आवश्यक है वहीं छात्रावासों के निर्माण का दायित्व लिया है। प्रत्येक थाना के प्रधान कार्यालय में एक छात्रावास बनाने की नीति है। सरकार फर्नीचर, बर्त्तन, रसोईया, संलग्न सेवक तथा लालटेन आदि बिना मूल्य के देती है। अब तक ऐसे ११९ छात्रावास खोले जा चुके हैं जिसमें ३७ छात्रावास सरकारी मकानों में तथा ८२ भाड़े के मकानों में चल रहे हैं। इन ११९ वासों में १४ आदिम-जाति सेवा मंडल के नियंत्रण में हैं।

बम्बई जैसे दूसरे राज्य में, अनुसूचित आदिवासियों को छात्रावास की सुविधायें, गैरसरकारी संस्थाओं द्वारा दी जाती है जिन्हें इस कार्य के लिये एक सुन्दर सहायक अनुदान मिलता है। इन छात्रावासों में आदिवासियों को मुफ्त भोजन तथा निवास स्थान दिया जाता है। गैर सरकारी संस्थाओं को इन सुविधाओं के लिये उनके माँ-

रूप से प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष किसी भी रूप से कुछ भी लेने की मनाही है जब कि बिहार राज्य में प्रचलित छात्रावासों की संचालन प्रथा ध्यान देने योग्य है। यहाँ विद्यार्थीगण स्वयं अपना चावल लाते तथा छात्रावास में ठहरते हैं। सरकार उन्हें उन सुविधाओं को प्रदान करती है जो ऊपर दी जा चुकी है। इस प्रथा को संचालन से राजकोष को कम व्यय करना पड़ता है। छात्रावास में रहना शिक्षा क एक महत्त्वपूर्ण अंग है। यह जीवन की एक रीति है, यहाँ विद्यार्थी शिष्टता तथा अशिष्टता से यहाँ तक कि नये तरीके से भी रहना सीखते हैं। यह केवल बैठने, सोने या पढ़ने की ही जगह नहीं है, यद्यपि ये भी अत्यावश्यक हैं। इन छात्रावासों को थोड़े से ही परिश्रम से श्रेष्ठतर जीवन के लिए प्रशिक्षण स्थानों में विकसित किया जा सकता है।

अल्प व्यय (अर्थ व्यवस्था) :

लघु सिंचाई योजनायें: अनुसूचित आदिवासियों का मुख्य व्यवसाय खेती है। लेकिन यह अब उत्पादक नहीं रहा है। उसे सदा अपर्याप्त वर्षा तथा सिंचाई की कमी के कारण क्षति सहनी पड़ती है। इसलिए राज्य सरकार ने बाँध, नहर आदि अनेक छोटी-छोटी योजनाओं का निर्माण शुरू कर दिया है। इन योजना का निष्पादन जिला आदिवासी पदाधिकारी तथा थाना कल्याण अधिकारी के अन्तर्गत माल विभाग के द्वारा होता है। १९५१-५२ तक अनुसूचित आदिवासियों को लाभान्वित करने वाले लघु सिंचाई कार्यों का सम्पूर्ण व्यय राज्य द्वारा किया गया था। परन्तु अब, यह निश्चय किया गया है कि अनुसूचित जाति के लाभान्वितों को भी १९५२-५३ से व्यय का ५० प्रतिशत राज्य का स्थायी उत्तरदायित्व होगा।

अन्न भंडार :

अन्न भंडार की योजना, आदिवासियों के कल्याण के लिए बिहार सरकार की एक अद्वितीय योजना समझी जाती है। इसका ५० वर्ष से भी अधिक प्राचीन एक अपना इतिहास है। अन्न भंडार को प्रारम्भ करने का विचार पहली बार श्री सी० एच० कैम्पस के मन में आया जो संथाल परगना के डिप्टी कमिश्नर थे। उनके द्वारा प्रथम अन्न भंडार वर्त्तमान शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों १९०२-३ में शायद प्रारम्भ किया गया था। अन्न भंडार की योजना अनुसूचित जातियों को महाजनों के कर्ज तथा अन्न व्यापारियों के शोषण से बचाने के लिये चालू की गई थी क्योंकि वे कड़े सूद पर कर्ज देते थे। इस योजना के अन्तर्गत अन्न भंडारों में जमा रहता है तथा वे बीज के लिये और अकाल के दिनों में

जीविका के लिये उधार दिया जाता है तथा अगले फसल में २५ प्रतिशत सूद की दर से पुनः वस्तुरूप में वापस ले लिया जाता है। प्रत्येक २० आदिवासी गांव की ईकाई में एक अन्न भंडार की व्यवस्था करना इस योजना का उद्देश्य है। १९५७-५८ ई० के अन्त में लगभग ४८९ अन्न भंडार खोले गए हैं। इनमें से कुछ अन्न भंडारों का संचालन ग्राम पंचायत द्वारा होता है।

अनुसूचित जातियों तथा अनुसूचित आदिवासियों के कमिश्नर। (भारत सरकार) ने बिहार में १९५२ में दौरा किया। उन्होंने कुछ अन्न भंडारों को देखा तथा उनके कार्यों का निरीक्षण किया जिसका समावेश उनके १९५२ के विवरण में मिलता है। उन्होंने राज्य सरकार को सुझाव दिया कि जो अन्न भंडार दो वर्ष या अधिकतम ५ वर्ष से सरकार के प्रबन्ध में कार्य कर रहे हैं उनका सरकार की आर्थिक सहायता से सहयोग समिति में परिवर्त्तन हो जाना चाहिये जिससे इसके व्यवस्थापक का कार्य दूसरे पाँच वर्ष में अवश्य समाप्त हो जाना चाहिये। सूद जो लिया जाता है वह अपरिमिति है और जो अन्न भंडार के कार्य-करण के तीसरे वर्ष साढ़े बारह प्रतिशत तथा ५ वर्ष बाद १० प्रतिशत से ज्यादा नहीं घटाया जा सकता है। राज्य सरकार ने उपरोक्त सुझाव पर यथायोग्य विचार किया है। उनलोगों की धारणा थी कि अन्न की लेन-देन में सूद की दर कमें, कमी को प्रभावित कर अन्न गोले आम पोषक नहीं हो सकते जैसा कि इन योजनाओं के अन्तर्गत विचार भंडारों को सहयोग समितियों में परिवर्त्तन करने का प्रश्न सरकार के विचाराधीन है।

पहाड़िया कल्याण के लिए विशेष योजना :

संथाल परगने के पहाड़ों पर रहनेवाली पहाड़िया जनजातियों की दयनीय आर्थिक दशा पर पिछले वर्षों से विशेष ध्यान दिया जा रहा है। प्रथम पंचवर्षीय योजना के मध्य पहाड़ियों के सर्वांगीन विकास के लिये एक महत्त्वपूर्ण योजना बनायी गयी है जो इस समय चल रही है। इस योजना की मुख्य विशेषताए निम्नलिखित हैं :—

१. पहाड़िया की आर्थिक उन्नति के लिए उद्योग विशेषतः सूत कातना, टोकरी बनाना, काठ और लोहे का सामान बनाना, साबुन बनाना, की स्थापना और उन उद्योगों में प्रशिक्षण के लिये उचित व्यवस्था करना।

२. पहाड़िया के शैक्षिक विकास के लिए प्रारम्भिक और आवासीय स्कूल खोलना।

३. पहाड़िया क्षेत्र के कोने-कोने में धान ऋण देने के लिए अन्न भंडार खोलना।

४. चबूतरा खेती प्रणाली, पशु-पक्षी पालन, तथा वृक्ष-रोपण विधि को प्रश्रय देना और उनका उचित प्रचार करना।

५. पहाड़िया परिवारों को पहाड़ों से लाकर समतल भूमि पर पुनर्वासित करना और उन्हें प्रत्येक तरह से सहायता करना।

६. पहाड़िया क्षेत्र में आवागमन की सुविधा प्रदान करना।

७. पहाड़िया के स्वास्थ्यवर्द्धन तथा दवा-दारू के लिए यथेष्ट प्रबन्ध करना।

८. पीने योग्य पानी का उचित प्रबन्ध करना।

इस योजना के अनुसार तीस ऐसे स्कूलों की स्थापना की गयी है जिनमें दो शिक्षक काम करते हैं। इन स्कूलों का उत्तरोत्तर विकास हो रहा है।

पहाड़ियों के बीच कुटीर उद्योगों को प्रोत्साहन देने के विचार से सामुदायिक योजना के क्षेत्रों के लिये तैयार की गई एक योजना के आधार पर १९५३-५४ से निम्नलिखित उत्पादन संलग्न शिक्षण केन्द्रों को प्रारम्भ किया गया है:—

(अ) हिरनपुर में तसर को चर्खी में लपेटने तथा सूत कातने का केन्द्र ;
(ब) धमनी में बढ़ईगीरी शिक्षण केन्द्र;
(स) बाँझी में रस्सी विधान के शिक्षण केन्द्र;
(द) बाँझी में टोकरी निर्माण तथा बाँस से कपड़ा निर्माण के शिक्षण केन्द्र;

इन केन्द्रों के अलावा निम्नलिखित केन्द्रों को खोलने की बात सोची जा रही है।

(अ) महेशपुर तथा हिरनपुर में साबुन-निर्माण शिक्षण-केन्द्र।
(ब) अलुबेरा तथा सिलीथी में लुहारी केन्द्र;
(स) मधुमक्खी पालन (चलता फिरता) ३० कल्याण केन्द्रों में;

अनुसूचित प्रदेशों में सहयोग समितियाँ :

अनुसूचित प्रदेशों में आदिवासियों की आर्थिक दशा सुधारने के लिये १९५४-५५ में प्रत्येक १६०९७ गाँवों में एक सहयोग समिति के संघटन द्वारा, सहयोग आन्दोलन को प्रबल बनाने के लिये, एक योजना बनाने की व्यवस्था की गई है। १४१३ सहयोग समितियाँ अभी भी अनुसूचित प्रदेशों में चालू हैं। १९५४-५५ में ५० और भी समितियों की रजिस्ट्री हुई है। १९५५-५६ में ५०० समितियों

के संघटन करने का प्रस्ताव है। चूँकि योजना नई हैं, इसलिये इसकी सफलता या असफलता को आजमाना करने के लिये लोगों को प्रतीक्षा करनी पड़ेगी।

पशु-सुधार :

छोटानागपुर तथा संथाल परगना में पशुओं के सुधार के लिये एक योजना की व्यवस्था की गई है। इस योजना के अनुसार स्वदेशीय पशुओं की जाति को सुधारने के लिये मुख्य गाँवों में उन्नत साढ़ों का वितरण किया जाता है। इस योजना के अन्तर्गत १९५४-५५ में ११५ साढ़ों का वितरण हुआ है तथा अगले वर्ष में २५ और भी वितरण करने का प्रस्ताव है। इस योजना में घासचारे का भी प्रचार और प्रदर्शन किया जाता है।

मुर्गीपालन और विकास केन्द्र :

यह योजना संवर्धन कार्य तथा प्रसार के लिये, विदेशीय जलवायु से अभ्यस्त उन्नत मुर्गी के अन्डों को रियायत दर में, प्रमाणित संवर्धकों में, वितरण करने का विचार करती हैं। इस कार्य के लिये एक केन्द्रीय मुर्गीपालन क्षेत्र वाटिका तथा ७ मुर्गीपालन विकास केन्द्र निम्नलिखित कार्यों में नियुक्त है :—

१. शुद्ध जाति के पक्षियों की वृद्धि;
२. विस्तार के लिये शुद्ध जाति के समुदायों का वितरण;
३. उन्नत अन्डों का वितरण;
४. मुर्गीपालन की सामग्री तथा चारा के मिलने में सहायता तथा परामर्श;
५. मुर्गीपालन की विधियों का प्रदर्शन;
६. मुर्गीपालन में सफाई तथा प्रबन्ध का परामर्श।

इसके अलावा भी छोटी-छोटी कल्याण योजनाएँ हैं जिनका उद्देश्य आदिवासियों का आर्थिक सुधार है जैसे :

१. ऊन कातने तथा क्रमबद्ध करने का केन्द्र;
२. उन्नत बकरों तथा सुअरों का वितरण;
३. शाहाबाद जिले के आदिवासी क्षेत्रों में पशु समुदाय सुधार आदि।

यातायातः

अनुसूचित आदिवासियों के कल्याण तथा अनुसूचित प्रदेशों में उत्कृष्ट शासन के लिये, अच्छी सड़क, खासकर गांव की सड़कों तथा पहाड़ी पगडंडियों के महत्व पर जोर देने की आवश्यकता नहीं है। आदिवासी प्रदेशों में गांव की सड़कों,

पगडंडियों की मरम्मत, तथा जिला परिषद सड़कों के सुधार की निर्माण योजना के अन्तर्गत १९५३-५४ वर्ष में संथाल परगना में ५७ मील की पहाड़ी पगडंडियों का निर्माण तथा रांची जिले में ११५ मील की सड़कों की मरम्मत की गयी है। जब कि १९५४-५५ में पहाड़िया प्रदेशों के ४२ मील को जोड़ते हुए, ६४ मील की, तथा रांची जिले में १३२ मील की पहाड़ी पगडंडियों का निर्माण किया गया है। सिंहभूम तथा पलामू में भी ८० मील की सड़कों का निर्माण-कार्य ले लिया गया है। १९५५-५६ में संथाल परगना में ३२४ मील पहाड़िया प्रदेशों में ३० मील तथा सिंहभूम तथा पलामू जिले में ८० मील के सड़कों का निर्माण करने का प्रस्ताव किया जाता है। यह योजना जिला परिषद् के आदेश द्वारा निष्पादन की जाती है जिसके लिये उनलोगों के अधीन आवश्यक पूंजी सौंप दी गई है।

औषधि तथा जन-स्वास्थ्य :

संथाल परगना के जामताड़ा तथा देवघर उपविभागों में कुष्ठ की निरन्तर वृद्धि उल्लेखनीय है। औषधि चिकित्सा से यह पता लगा है कि लगभग सम्पूर्ण जनसंख्या की ३.५ प्रतिशत लोग इस प्रदेश में कुष्ठ से ग्रस्त है। इसलिये इस प्रदेश के रहने वालों के कल्याण के लिये तत्काल कुछ उपाय करने की जरूरत है। फतेहपुर में एक कुष्ठ निवारण केन्द्र खोला गया है जिसका नाम ठक्कर कुष्ठ निवारण केन्द्र है। रोगियों को गांव के बाहर छोटी-छोटी झोपड़ियों में रखने का प्रबन्ध किया जा रहा है। २० शय्याओं के एक अस्पताल का निर्माण हो गया है। उस केन्द्र में एक चिकित्सा शिक्षालय भी होगा जहां रोगियों के खून आदि की जांच की जायगी। ठक्कर कुष्ठ निवारण केन्द्र का प्रबन्ध 'संथाल पहाड़िया सेवा मंडल' द्वारा किया जायगा जिसने इसके व्यय का २० प्रतिशत देना स्वेच्छा से स्वीकार किया है। राज्य सरकार ने केन्द्रीय सरकार से इस योजना के लिये बचे हुए ८० प्रतिशत जो कि ८०,००० रुपया होता है अनुदान देने की स्वीकृति के लिये प्रार्थना की थी। यह अनुदान भारत सरकार ने देने के लिये मंजूर किया है। सन् १९५४-५५ में व्यय की गणना १६६४८० रुपयों की थी तथा १९५५-५६ में सिर्फ १००,००० रुपया व्यय करने का प्रस्ताव है। सहायक अनुदान की १,३३,००० रुपयों की स्वीकृति हुई थी।

आदिवासी क्षेत्रों में कूपों का निर्माण :

आदिवासी क्षेत्रों में पीने के पानी की बड़ी दिक्कत है। इस योजना के अन्तर्गत १९५३-५४ में ५८ कूपों के निर्माण की स्वीकृति दी गई थी तथा

१९५४-५५ में १६५ कूपों की स्वीकृति दी गई है। इस योजना का निष्पादन जिला पदाधिकारियों के आदृत द्वारा होता है। १९५३-५४ में ३५,२०० रुपया इस योजना पर व्यय किया गया था। १९५४-५५ में आगणित व्यय ३,३३,००० रुपयों के थे। १९५५-५६ में ४, ३०,००० रुपया व्यय करने का प्रस्ताव है। यह योजना बहुत हाल में ही भारत सरकार द्वारा अनुमोदित की गई थी जिसने सहायक अनुदान के रूप में १,६५,००० रुपया दिया।

पहाड़िया प्रदेश में जल-संचय की योजना :

पहाड़ियों के लिये जल-संचय की समस्या १९५३-५४ में सबके सामने आयी थी। जब कि राज्य सरकार ने पीने के लिये एक व्यवस्थित योजना बनाई। यह सर्वविदित है कि पहाड़ियों को अपने निवास स्थान के समीप के पहाड़ी झरनों से पानी मिलता है। इस वर्ष राज्य सरकार ने ३०० जल कुंड एवं झरनों के निर्माण का कार्य लिया तथा यह योजना तदनुसार भारत सरकार द्वारा अनुमोदित हो गई।

चिकित्सा तथा जनस्वास्थ्य शीर्षक के अन्तर्गत की योजनाओं के अतिरिक्त ग्रामीण क्षेत्रों में औषधालय, रांची के समीप ब्राह्मण में कुष्ठ संलग्न शोध-संस्था, संथाल परगना के लिये विशेष चिकित्सकीय सहायक योजना, राष्ट्रीय मलेरिया विरोधी कार्यक्रम, कुष्ट निरोध, बी० सी० जी० जैसे दूसरी छोटी-छोटी योजनाएँ भी हैं जो १९५३-५४ से ही सहायक अनुदान के लिये अनुमोदित की गई हैं।

विविध (फुटकर)

खड़ियों की भूव्यवस्था: सिंहभूम जिले में खड़िया एक भ्रमणशील जाति है जो अस्थिर खेती की प्रथा अपनाते हैं। साधारणतः वे पहाड़ की चोटियों पर रहते हैं तथा वहीं जमीन जोतते हैं। वे पेड़ों को काट डालते हैं जिससे जंगलों का नाश होता है तथा पहाड़ियों का किनारा घुल जाता है। सरकार ने खड़िया परिवारों के पुनर्वास का कार्य बहुत पिछड़े हुए लोगों के कल्याण की दृष्टि से एवं बहुत से धन धन की सुरक्षा दोनों के लक्ष्य से किया है। ऐसे खड़िया परिवारों की संख्या करीब ५०० है। १९५२-५३ में इस योजना के अन्तर्गत ५० परिवार, १९५३-५४ में ६०, १९५५-५६ में और भी १२० परिवारों को बसाने का प्रस्ताव है। इस योजना का मुख्य रूप यह है कि प्रत्येक खड़िया परिवार ५ एकड़ जमीन घर तथा बाड़ी

बसाने के लिये और २ एकड़ खेती के लिये मुफ्त पाते हैं। खेती के उपकरण जैसे, बैल-बीज आदि भी मुफ्त में ही दिये जाते हैं। जल वितरण तथा लघु सिंचाई योजना जैसी आवश्यकताओं पर भी उचित ध्यान दिया जाता है।

आदिवासियों का सांस्कृतिक विकास :

अनुसूचित आदिवासियों के सामाजिक तथा आर्थिक उत्थान करने के साथ-साथ उनलोगों की संस्कृति को सचेत करना तथा भाषा को अधिक से-अधिक सुरक्षित करना आवश्यक है। इस कार्य के लिये एक सांस्कृतिक परिषद् का निर्माण हुआ है। सांस्कृतिक परिषद् को लोक गीतों तथा पौराणिक कथाओं का संग्रह, तथा लोक संस्कृति के अध्ययन को उत्साहित करने के लिये आदिवासी भाषाओं में शब्द-कोषों का निर्माण का कार्य सौंपा गया है।

राज्य के विभिन्न भागों में रहने वाले आदिवासियों के रीति-रिवाज, रहन-सहन, भाषाओं तथा संस्कृति आदि का वैज्ञानिक विधि से अन्वेषण करने के लिये १९५४ ई० में एक आदिवासी शोध संस्था सहायक संचालक की देख-रेख में राँची में स्थापित की गई है। संस्था के अधिकारी वर्गों में राजपत्रित श्रेणी के एक संचालक, दो सहायक संचालक, पाँच अन्वेषक और किरानी तथा दास रहेंगे। निर्देशक की नियुक्ति १९५६ ई० में हुई। इस संस्था का कार्यक्रम निर्देशक की देख-रेख में चल रहा है। आशा है, इस शोध संस्था का उत्तरोत्तर विकास होता रहेगा।

संथाल परगना में पहाड़ियों का पुर्नवास :

पहाड़ियों का पुर्नवास, सरकार द्वारा खाड़ियों के आधार पर किया जा रहा है। इस योजना के अन्तर्गत १९५४-५५ में १० परिवारों को पुर्नवासित किया गया है तथा १९५५-५६ में ३० परिवारों को पुर्नवासित करने की योजना है। अनुसूचित आदिवासियों के कल्याण के लिये कार्यशील संस्थाओं तथा व्यक्तियों को पुस्तक अनुदान तथा विश्वविद्यालय शुल्क का सहायक अनुदान :

इस योजना के अन्तर्गत अनुसूचित आदिवासियों के कल्याण के लिये कार्य करने वाली संस्थाओं तथा व्यक्तियों को यथायोग्य सहायक अनुदान दिया जाता है।

निम्नलिखित संस्थाओं तथा व्यक्तियों को अनुदान मिलता है जिनकी रकम भी उसके सामने दिखलायी गयी है।

१९५४-५५ के आंकड़े

(१) आदिमजाति सेवा मंडल, राँची ५०० व्यवस्थापन कार्य के लिये
(२) संथाल पहाड़िया सेवा मंडल, देवघर ४५००
(३) धुमकुरिया स्कूल कांके, रांची १००० ई० स्कूल संचालन के निमित
(४) आदिवासी क्लब, सीमडेगा, राँची ५०० लाइब्रेरी क्लब, एवं बाचनालय के लिये
(५) सेवा केन्द्र, गुमला
(६) निवारण आश्रम, राँची
(७) हिन्दू अनाथालय, राँची २००० आश्रम संचालन के लिये
(८) सिचारी मिशन, महुवाडान्ड
(९) कोकेल मिशन, राँची
(१०) आदिमजाति सेवा समिति बसुआ, शाहाबाद ५०० आदिवासियों के कल्याण कार्य के लिये
(११) गांधी आश्रम, इसापिरी, लोहरदग्गा ५०० आश्रम संचालन
(१२) अनिगडा आश्रम, खूंटी ५०० आश्रम संचालन
(१३) तानाभगत आश्रम, सोनचिपी ५०० आश्रम संचालन
(१४) महिला उद्योग संघ, भरमरिया सिंहभूम ५०० दर्जी के मशीन के लिये
(१५) आदर्श बालिका विद्यालय, दालभूमगढ़ ५०० विद्यालय संचालन
(१६) सर्वोदय आश्रम, रानीपत्रा २००० कल्याण कार्य के लिये
(१७) मिड्ल स्कूल, घोरा, मुंगेर २००० मकान निर्माण
(१८) हो हिन्दी पुस्तकालय, दुम्बीसाय, सिंहभूम, ५०० पुस्तक एवं फर्नीचर खरीदने के लिए

अनुसूचित प्रदेशों तथा अनुसूचित आदिवासियों की विशालता देखने से पता लगता है कि सरकार को इसे अकेले हल करने में बड़ी कठिनाई का सामना करना होगा। कल्याण योजनाओं के सफल उपकरण के लिये अनुसूचित आदिवासियों का सहयोग आवश्यक है। उनलोगों को कल्याण कार्यक्रमों से पूरी तरह संम्बन्धित

होना चाहिये तथा कल्याण योजनाओं के निर्माण तथा उपकरण के विषय में उनके विचारों पर उचित जोर देना चाहिये। यह काम सामाजिक सेवा के क्षेत्र में, गैरसरकारी आढ़तों को प्रोत्साहन देकर भलीभाँति किया जा सकता है। वर्त्तमान काल में सिर्फ मुट्ठी भर गैरसरकारी आढ़तें, गिरे हुए लोगों की भलाई के लिये कार्य कर रही है। कार्यकर्त्ताओं की कोई कमी नहीं है। ऐसे भी व्यक्ति हैं जो समाज सेवा के कार्यों में प्राणपण से लगे हुए हैं। इसलिये उनके परिश्रम से कुछ ठोस परिणाम प्राप्त करने के लिए उन्हें उत्साहित तथा मार्ग दर्शन कराना है। गैरसरकारी आढ़तों की स्वीकृति तथा सहायक अनुदान के लिये विशेष नियम बनाये जा सकते हैं जैसा कि बम्बई राज्य में चालू है। यदि ऐसा किया जाता तो सामाजिक कार्य-कर्त्ताओं की कमी दूर होने में विलम्ब नहीं होती और कल्याण कार्य जो अभी तक आदिवासियों की ओर से अगुणग्राही रहा है वह पूर्ण रूप से सफल हो जाता।

———

परिशिष्ट नं० १

बिहार की अनुसूचित जन जातियाँ

एक संक्षिप्त परिचय

अनुसूचित जन जातियों की सूची के अनुसार बिहार राज्य राज में अभी कुल उन्तीस जन जातियाँ हैं। १९४१ और १९५१ की जन गणना के अनुसार उनकी कुल संख्या क्रमशः ३९,१८,९५७ और ४०,४९, १८३ है। प्रस्तुत प्रसंग में, बिहार की अनुसूचित जन जातियों के नाम के साथ-साथ, उनके बारे में चार मुख्य बातों की ओर संकेत किया गया है। उनकी जन संख्या, निवास स्थान, भाषा और पेशा साधारणतः १९४१ की जन गणना द्वारा संग्रहित जन संख्या दी गयी हैं। जहाँ अन्य संख्या उपलब्ध ही पायी है, उनकी तारीख लिख दी गयी है।

१. संताल :

बिहार में संतालों की जन संख्या १३, ९२,७४४ है (२) वे संताल परगना, धनबाद, हजारीबाग, सिंहभूम, पूर्णियाँ, भागलपुर तथा मुंगेर जिलों में अधिकांशतः पाये जाते हैं। उनकी भाषा संताली है जो कि मुंडारी भाषा समूह की एक शाखा है। संताली के अलावा वे मुंगेर, भागलपुर, हजारीबाग और संताल परगना में हिन्दी भाषा, सिंहभूम में उड़ीसा भाषा और धनबाद में तथा संताल परगना के पूर्वी दक्षिणी हिस्से में बंगला भाषा बोलते हैं। धनबाद, मुंगेर तथा पूर्णिया में वे मांझी के नाम से भी पुकारे जाते हैं। संतालों का मुख्य पेशा खेतीबारी और मवेशियों का पालन-पोषण रहा है, पर इन दिनों वे उद्योग क्षेत्रों में मजदूरी तथा रोजगार भी करने लगे हैं।

२. उरांव :

बिहार में उरांव आदिम जाति की जन संख्या ६, ४७, ४४४ है, वे दक्षिण बिहार के राँची, पलामू, सिंहभूम, धनबाद, भागलपुर और शाहाबाद जिलों में, और उत्तरी बिहार के चम्पारण तथा पूर्णियाँ जिले में पाये जाते हैं। उनकी भाषा उराँव है जो कि द्राबिदियन भाषा का एक अंग है। उरांव भाषा के अलावा वे हिन्दी तथा उनमें से कुछ मुंडारी भी बोलते हैं। उनका मुख्य पेशा खेतीवारी तथा मजदूरी है। वे शिकार भी करते हैं।

३. मुंडा :

बिहार में मुंडा आदिम जातियों की संख्या ५, २५, ८१६ है, वे राँची सिंहभूम, हजारीबाग, पलामू, शाहाबाद, धनबाद तथा पूर्णिया जिलों में पाये जाते हैं। उनकी भाषा मुंडारी है, पर वे कहीं-कहीं हिन्दी, उराँव तथा तथा बंगला भी बोलते हैं। उनका मुख्य धन्धा खेतीबारी है, कभी-कभी शिकार भी करते हैं।

४. हो :

"हो" आदिम जातिगों की संख्या बिहार में ३, ८३, ७३७ है। दक्षिणी बिहार के सिंहभूम जिले में पाये जाते हैं। उनकी भाषा "हो" कहलाती है, जो कि मुंडा भाषा भी एक शाखा है। इसके साथ-साथ वे हिन्दी भी बोलते हैं. और उनमें से कुछ उड़िया भाषा भी जानते हैं। उनका मुख्य पेशा खेतीबारी है, पर उद्योगीय इलाकों में वे मजदूरी तथा रोजगार करने लगे हैं।

भूमिज ५. :

भूमिजों की संख्या बिहार में १, ०८, २३० है। वे राँची, धनबाद तथा सिंहभूम जिले में पाये जाते हैं। उनकी अपनी भाषा मुंडारी है, पर हिन्दी बंगला भाषा का प्रभाव उनपर अधिक पड़ा है। वे अच्छे गृहस्त और कास्तकार हैं। पुरलिया तथा धनबाद जिलों में वे सरदार के नाम से भी पुकारे जाते हैं।

६. खड़िया

खड़िया आदिमजाति की संख्या बिहार में ८, ७, ५२२ है। वे दक्षिणी बिहार के राँची, सिंहभूम और पलामू जिलों में पाये जाते हैं। उनकी भाषा "खड़िया" कहलाती है जो कि मुंडा भाषा समुदाय का एक भाग है। वे स्थानीय सदानी हिन्दी भी बोल लेते हैं। खड़िया जाति के तीन भाग है, पहाड़ी खड़िया, दुध खड़िया और ढेलकी खड़िया। उनका पेशा खेती-बारी तथा जानवरों का पालन-पोषण तथा शिकार है। उनमें से कुछ कुड़वा। (जंगल जलाकर) खेती करते हैं और अन्य खेती बारी करते हैं। मानभूम जिला में खड़िया लोग सावर के नाम से पुकारे जाते हैं।

७. महली :

महली आदिमजातियों की संख्या ५६, ३०६ है। उनकी भाषा महली कहलाती है। वे स्थानीय हिन्दी जिसे सदानी कहते हैं, बोलचाल में व्यवहार करते हैं। उनका पेशा बाँस की टोकरियाँ बनाना और ढोल बजाना है। वे दक्षिणी बिहार के हजारीबाग, पलामू, मानभूम तथा राँची जिलों में पाये जाते हैं।

(८) सौरिया पहाड़िया :

सौरिया पहाड़िया आदिमजाति की संख्या ५८,६५४ है। वे प्रधानतः दक्षिणी बिहार के संथाल परगना जिला में रहते हैं किन्तु छिट-पुट राँची, हजारीबाग और मानभूम में भी पाये जाते हैं। उनकी भाषा 'मालतो' कहलाती है जो कि उराँव भाषा से मिलती जुलती हैं। वे थोड़ी बहुत हिन्दी भी बोल लेते हैं। वे 'कुरवा' या झूम प्रणाली द्वारा खेती करते हैं और जंगलों के बीच पहाड़ों के ऊपर छोटी-छोटी बस्तियों में रहते हैं।

(९) खरवार :

खरवारों की जनसंख्या बिहार में ७७७०२ हैं जिनमें की ३,७८१ अनुसूचित क्षेत्रों में निवास करते हैं। वे दक्षिणी बिहार के पलामू और राँची जिलों में पाये जाते हैं। उनकी भाषा खरवारी है लेकिन वे हिन्दी अच्छी तरह बोल लेते हैं। उनका प्रधान पेशा खेती-बारी है। आस पास के इलाके में खरवार अपनी बहादुरी के लिये प्रसिद्ध हैं।

(१०) लोहरा :

लोहरा की आबादी बिहार में ४७३४४ है। वे दक्षिणी बिहार के राँची तथा सिंहभूम जिलों में पाये जाते हैं। उनकी अपनी खास भाषा नहीं है टूटी-फूटी हिन्दी तथा आस पास की आदिम जातियों की भाषा बोलते हैं। उनका पेशा लोहे के औजार और हथियार बनाना तथा मरम्मत करना है। उनकी अपनी कोई बस्ती नहीं होती।

(११) माल पहाड़िया :

माल पहाड़ियों की जन संख्या ४०,१४८ है। उनकी भाषा मालतो है और वे सौरिया पहाड़ियों से मिलते-जुलते हैं। उनका पेशा खेती बारी है। वे पहाड़ों पर, जंगलों में अधिकतर बसते हैं। माल पहाड़िया दक्षिणी बिहार के संथाल परगना जिले में पाये जाते हैं।

(१२) बेडिया :

बेडिया की जन संख्या बिहार में ३१,८१३ है। वे अधिकतर हजारीबाग तथा राँची जिलों में रहते हैं, पर मुंगेर जिला में भी वे बसते हैं। वे स्थानीय हिन्दी बोलते हैं। उनका पेशा खेती-बारी है। वे हिन्दू गृहस्तों के गाँव में रहते हैं।

(१३) चिक बडाइक :

बिहार में १९३१ की जनगणना के अनुसार 'चिक बडाइक' की जनसंख्या २९७२९ है। वे छोटानागपुर के सभी जिलों में पाये जाते हैं। उनकी भाषा स्थानीय हिन्दी है। उनका मुख्य धन्धा कपड़ा बुनना रहा है। वे विशेषकर अन्य आदिमजातियों के गाँवों में रहते हैं और उनकी जरूरत लायक कपड़ा बुनते हैं।

(१४) गौड :

गौंड की आबादी २७,४४५ है। विशेषकर इस जाति के लोग सिंहभूम, राँची तथा पलामू जिले में बसते हैं। इनकी अपनी बस्ती नहीं होती, वे अन्य आदिवासियों तथा हिन्दुओं की बस्ती में रहते हैं। यूं तो इनकी असल भाषा मुंडारी है, पर वे स्थानीय हिन्दी ही अधिकतर बोलते हैं। इनका पेशा खेती बारी हैं।

(१५) चेरो :

चेरो की आबादी १६,३३७ है। वे अधिकतर छोटानागपुर के पलामू जिला उनकी बोल-चाल की भाषा स्थानीय हिन्दी है, पर उनकी अपनी भाषा मुंडारी है। वे खेती-बारी तथा उससे मिलते-जुलते काम करते हैं अधिकतर चेरो अन्य जातियों से प्रभावित हो मिल-जुल गए हैं।

(१६) किसान :

किसान की आबादी १८,०९७ है। अधिकतर वे राँची तथा पलामू जिला के पहाड़ी जंगली इलाकों में बसते हैं। इनका अपनी भाषा मुंडारी है, पर वे स्थानीय हिन्दी 'सदानी' बोलते हैं। इनका पेशा खेती बारी, लकड़ी काटना आदि हैं। किसान कहीं कहीं 'नगसिया' कहलाते हैं।

(१७) कोरा :

कोरा जाति की जन संख्या १३,५२१ है। अधिक आबादी इनकी मुंगेर, धनबाद तथा संताल परगना जिले में है। उनकी निजी भाषा मुंडारी है, पर वे स्थानीय हिन्दी ही बोलते हैं। उनका पेशा खेती बारी आदि है। मानभूमि में वे मोदी के नाम से पुकारे जाते हैं।

(१८) कोरवा :

बिहार में कोरवा जाति की जन संख्या १९३१ की जनगणना के अनुसार १३,०२१ है। वे राँची, पलामू तथा सिंहभूम जिलों में पाये जाते हैं। उनकी

भाषा 'कोरवा' है पर वे स्थानीय हिन्दी भी बोलते हैं। वे जंगलों में घूमते हैं, शिकार तथा जंगली फलों को इकट्ठा कर, लकड़ी बेचकर, जीवन निर्वाह करते हैं।

(१६) करमाली :

करमाली की जन संख्या बिहार में १०,५४६ है। वे अधिकांशतः राँची तथा हजारीबाग जिले में पाये जाते हैं। उनकी अपनी बोल चाल की भाषा नहीं है। वे स्थानीय हिन्दी "सदानी" बोलते हैं। उनका पेशा खेतीबारी तथा मजदूरी करना है।

(२०) परहैइया :

परहैइया की आबादी १०,१३४ है। वे पलामू तथा हजारीबाग जिले में रहते हैं। उनकी भाषा उरांव से मिलती जुलती है, पर वे स्थानीय हिन्दी बोलते हैं। उनका पेशा शिकार तथा जंगलों से कन्द-मूल इकट्ठा करना है। आदिम तरीके से वे खेती भी करते हैं। १६५१ के पहले पहइया लोग अनुसूचित अपराधी जातियों में गिने जाते थे।

(२१) गोराइत:

गोराइत जाति की संख्या बिहार में केवल ६,३३१ है। वे पलामू तथा राँची जिले में पाए जाते हैं। उनकी अपनी कोई भाषा नहीं है, स्थानीय हिन्दी बोलते हैं। उनका पेशा खेती बारी है। वे हिन्दुओं के गाँवों में रहते हैं।

(२२) विंझिया :

विंझिया जाति की जन संख्या ५,३१७ है। वे कुछ राँची जिला के गुमला, सिमडेगा तथा खूंटी सब डिविजन में पाए जाते हैं। वे स्थानीय हिन्दी बोलते हैं, उनका पेशा खेती बारी है।

(२३) असुर :

असुर जाति की जनसंख्या केवल ४,३८८ है जो कि राँची तथा पलामू जिलों में निवास करते हैं। उनकी भाषा 'असुरी' कहलाती है, वे स्थानीय हिन्दी बोल लेते हैं। असुर लोग छोटानागपुर के पाट पर बसते हैं और उनकी छोटी-छोटी बस्तियाँ होती हैं। उनका पुराना पेशा तो लोहा गलाना तथा तैयार करना था, पर वे आजकल खेती बारी करते हैं।

(२४) बिरहोर :

बिरहोर लोगों की जन संख्या बिहार में २५५० हैं। वे राँची, पलामू तथा हजारीबाग जिलों में निवास करते हैं। वे प्राय: छोटी-छोटी टोलियों में घूमते रहते हैं। उनका घर पत्तों का बना रहता है। उनकी भाषा 'बिरहोर' कहलाती है जो मुंडारी भाषा की एक शाखा है। बिरहोर लोगों का पेशा खासकर जंगल के पेड़ों की खाल से रस्सियाँ बनाना है, पर वे काठ की चीजें भी बनाते हैं। जंगलों में बन्दरों का शिकार कर उनकी खालों को बेचते हैं। बिहार की सबसे पिछड़ी आदिम जातियों में बिरहोर, एक गिने जाते हैं।

(२५) सावर :

सावर जाति की जनसंख्या बिहार में केवल १६४९ है। वे छिट-पुट राँची, सिंहभूम तथा हजारीबाग जिलों में रहते हैं। वे स्थानीय हिन्दी बोलते हैं। उनका पेशा खेती तथा मजदूरी करना है।

(२६) बथुडी :

बथुडी आदिम जाति की संख्या बिहार में केवल ६६८ है। वे लोग सिंहभूम जिला में पाए जाते हैं। उनकी अपनी भाषा मुंडारी से मिलती-जुलती है, पर वे स्थानीय हिन्दी 'सदानी' बोलते हैं। उनका पेशा कोई खास नहीं है। वे खेती बारी, मजदूरी आदि कर जीवन निर्वाह करते हैं।

(२७) बंजारा :

बंजारा लोगों की संख्या १९३१ की जन गणना के हिसाब से केवल २५५ है। वे लोग प्रायः संताल परगना जिलों में पाए जाते हैं। वे छोटी-छोटी गिरोहों में घूमते रहते हैं। उनका गाँव नहीं होता। उनका पेशा कोई खास नहीं है। १९५१ के पहले तक वे लोग पेशा वाली जाति थे। वे हिन्दी भाषा बोलते है।

(२८) बैगा :

बैगा की जनसंख्या बिहार में केवल ५४ है, जो कि राँची और हजारीबाग जिले के अन्तर्गत रहते हैं। उनकी मुख्य आबादी अन्य प्रदेशों में है। उनकी भाषा 'बैगाई' है, पर वे स्थानीय हिन्दी बोलते हैं। उनका पेशा शिकार तथा जंगलों से कन्द-मूल इकट्ठा करना है।

(२६) खौंड :

यद्यपि खौंड जाति का नाम बिहार की अनुसूचित आदिम जातियों में आता है, उनकी संख्या का उल्लेख किसी भी जन गणना में नहीं है।

नोट :—

१: संकलित संख्या के लिए लेखक श्री रामेश्वर शर्मा का आभारी है।

२: जन संख्या १९४१ के जन गणना के अनुसार है। जिन आदिम जातियों की जन संख्या १९४९ के जन गणना से नहीं ली गई है, उनकी तारीख लिख दी गई है।

बिहार के आदिवासियों के भाषीय सम्बन्ध

भारत में भाषाओं के वैज्ञानिक अध्ययन का प्रयत्न उन्नीसवीं सदी के प्रारम्भ में हुआ, जब १८१६ में श्रीरामपुर के कुछ पादरियों ने एक पुस्तक प्रकाशित की। इसके बाद हागसन का प्रयास उल्लेखनीय है। सर्वप्रथम उसी ने मध्य और दक्षिण भारत की भाषाओं को द्राविड़ नाम दिया। उसने मुंडा-भाषा वर्ग को द्राविड़ के अन्तर्गत रखा। इसका एक महत्वपूर्ण परिणाम यह हुआ कि उसकी शोध के आधार पर मेक्समूलर का बुनसेन के नाम लिखित एक पत्र १८५४ में प्रकाशित हुआ। वस्तुतः सर्वप्रथम मैक्समूलर ने मुंडा-भाषा वर्ग को एक स्वतंत्र रूप संज्ञा दी।

बीसवीं सदी के प्रारम्भ में प्रो० विल्हेम स्मिट ने मोन-ख्मेर भाषाओं का सम्बन्ध मुंडा-भाषा वर्ग के साथ स्थापित किया। आसाम की जनजाति खासी की भाषा 'खासी' भी मोन-ख्मेर भाषा वर्ग के अन्तर्गत ही आती है। ये सब आस्ट्रो एशियाटिक भाषा परिवार में है, जो कि भाषाविदों के लिए एक विवादास्पद विषय बना है। १९१० तक मुंडा भाषा वर्ग के सम्बन्ध संसार के अन्य भाषा वर्ग के साथ स्थापित करने के प्रयत्न किये गये। ट्रोम्बटी ने मुंडा-भाषा वर्ग का सम्बन्ध कतिपय अफ्रिकी महाद्वीपीय भाषाओं के साथ जोड़ा है।

मोन-ख्मेर भाषाओं से मुंडा-भाषा-वर्ग का सम्बन्ध स्थापित करने के लिए स्मिट व वेहेसी आदि ने चार तार्किक आधार रखे हैं (१) उच्चारण का सामंजस्य (२) शब्द रचना का सामंजस्य (३) व्याकरण और (४) शब्द सूची, अर्थात् लगभग २०० शब्द समूहों का एक जैसा होना। यद्यपि डा० ग्रियर्सन ने स्मिट के दृष्टिकोण का समर्थन नहीं किया है, किन्तु अपनी 'भाषा के आधार पर गणना' में इसी को प्राथमिकता दी है। सन् १९३२ में हेवेसी ने स्मिट के विचारों से असहमत होते हुए इसे (मुंडा-भाषाओं) फीनो-उग्रिक-भाषा वर्ग से सम्बन्धित बताया और अपने मत की पुष्टि में कई प्रमाण दिए।

स्टेनकोनो, जिसने ग्रियर्सन को भाषा के आधार पर गणना में योग दिया है, के मतानुसार सम्भवतः मुंडा भाषी जनजातियाँ एक समय में हिमालय के प्रदेश में बसी थी और उनके कुछ भाषा चिह्न अब भी वहाँ खोजे जा सकते हैं।

बाबेल्स इस विचारधारा से सहमत नहीं हैं। उनके विचार से हिमालय प्रदेश की भाषाओं और मुंडा-भाषा वर्ग में कोई सम्बन्ध नहीं है। अपनी मानुषभितिक आँच और अन्य सांस्कृतिक आधारों पर वह ऐसा कोई सम्बन्ध नहीं स्थापित कर सके।

मुंडा-भाषा-वर्ग के बोलने वालों का प्रधान स्थल छोटानागपुर है, जो बिहार की जनजातियों के निवास का प्रधान स्थान है। मुंडा-भाषा वर्ग के अन्तर्गत ही खैरबारी, खडिया, जुआँग, शवर, और गदाबा भाषाएं आती हैं। खैरबारी के अन्तर्गत कई उपभाषाएं हैं, जिनमें मुख्य हैं: मुंडा लोगों द्वारा प्रयुक्त 'मुंडारी', संतालों द्वारा प्रयुक्त 'संताली, और हो लोगों' द्वारा प्रयुक्त 'हो' उपभाषा।

द्राविड़ भाषा परिवार, अर्थात् घ वर्ग के अन्तर्गत ही बिहार की दो जनजातियों उराँव और संताल पहाड़िया जिले के पहाड़िया लोगों की उपभाषाएं "कुडुख" और "मल्तो" हैं। उराँवों की बोली "कुडुख" और पहाड़िया की मलेर शाखा की बोली "मल्तो" कही जाती है। द्राविड़ भाषा वर्ग की भाषाएं आर्य और आस्ट्रिक भाषाओं से अलग ही हैं। अब हम जाति संक्षेप में जनजातीय बिहार की मुख्य भाषाओं पर विचार करेंगे।

संताली और मुंडारी : मुंडा भाषाओं में लिखित साहित्य नगण्य है। मुंडारी का एक अंग्रेजी कोष श्री माधुरी, एडवोकेट, खूंटी (राँची) द्वारा संकलित सम्पादित बहुत वर्ष पूर्व प्रकाशित हुआ था। इससे पूर्व १९१० में पादरी हॉफमैन ने "मुंडारिका शब्दकोश" (१० भाग) का सम्पादन किया था। इधर मुंडा लोक गीतों का संग्रह श्री जगदीश त्रिगुणायत ने किया है।

संताली रोमन के अतिरिक्त बंगला और उड़िया में भी लिखी जाती है। इधर इसे नागरी लिपि में लिखने के प्रयत्न हुए हैं। बिहार सरकार द्वारा विगत नौ वर्षों से एक संताली साप्ताहिक "होड़ सोम्बाद" का प्रकाशन देवघर से किया जा रहा है। इसके अतिरिक्त "संताल पहाड़िया सेवा मंडल" ने लगभग १५ संताली पुस्तकें प्रकाशित की है। कुडुख या उराँव भाषा: उराँव जनजाति द्वारा प्रयुक्त बोली 'कुडुख' कही जाती है। और ये लोग भी अपने को कुडुख कहते हैं। ईसाई मिशिनरियों के जागरण लाने के फलःस्वरूप पिछले कुछ वर्षों से उराँव ने अपनी भाषा के पुनर्जीवन की ओर ध्यान दिया है। "कुडुख कत्थ खोडहा"। (उराँव भाषा समिति)। की स्थापना की गयी और २७ अप्रैल १९५१ को राँची के संतपाल हाई स्कूल में उराँव साहित्य सम्मेलन का प्रथम अधिवेशन हुआ।

द्विभाषी जनजातियाँ: वैरियार एल्विन ने (दि एबोरिजन्लस)। जनजातियों के ह्रास का एक कारण यह भी बताया है कि ये अपनी प्राचीन भाषा को छोड बैठी हैं और इस प्रकार प्राचीन भाषाओं के लोप के साथ एक पूरी संस्कृति का नाश हो गया है। जंगल के इन भोले-भाले निवासियों को अब बाध्य होकर सरकारी कर्मचारियों, जमींदारों और व्यापारियों से एक ऐसी भाषा में वार्तालाप करना पड़ता है, जो उनकी अपनी नहीं है। हाट-बाजार का इनलोगों के जीवन में अत्यधिक महत्व होने से अपने पड़ोसियों की भाषा सीख लेना अनिवार्य हो जाता है।

छोटानागपुर के अंचल में बसी मुंडा, उराँव, खड़िया, हो आदि जनजातियाँ अपनी-अपनी उपभाषाओं के अतिरिक्त "छोटानागपुरिया" भी उतनी ही सुविधा पूर्वक बोल लेती हैं। इस प्रकार ये बहुभाषा भाषी भी है क्योंकि स्कूलों में उनका शिक्षण हिन्दी माध्यम के द्वारा ही होता है। पढ़े-लिखे लोग अंग्रेजी भी बोलते-लिखते हैं। हो लोगों ने हिन्दी अपनायी है। संथाल लोग तो संताली के अतिरिक्त बंगला व उड़िया का आसानी से प्रयोग करते हैं। संताल परगना के माल पहाड़िया बंगला भी बोलते हैं। यह भी सत्य है कि जनजातियों के गोछकुल जो अपने निवासस्थलों से दूर अथवा शहरों में बहुत काल से आ बसे हैं, वे अपनी मातृभाषा भूल गये हैं या भूलते जा रहे हैं तथा नए प्रदेश की भाषाएं सीख गए हैं।

इसी सिलसिले में जनजातीय भाषाओं की लिपि के प्रश्न पर भी कुछ प्रकाश डालना अप्रासंगिक न होगा। इन लोगों द्वारा प्रयुक्त उ.भाषाओं की स्वतंत्र लिपियाँ नहीं हैं। ऐसी हालत में या तो ये देवनागरी लिपि में लिखी जाती रही हैं, या रोमन, बंगला और उड़िया में। मुंडारी, कुडुख, हो और मानभूम, सिंहभूम में संताली भी देवनागरी में ही लिखी जाती रही है और आज भी लिखी जाती है। डा० घुर्ये ने भी जनजातियों की भाषाओं को नागरी लिपि में ही लिखे जाने का समर्थन किया है और रोमन में लिखे जाने को व्यर्थ का दुहरा श्रम बताया है। वस्तुतः डा० घुर्ये की यह उक्ति बिहार की जनजातियों की भाषा को दृष्टिकोण में रखकर भी सत्य सिद्ध होती है।

बिहार के आदिवासियों सम्बन्धी

पुस्तक सूची

आदेर, ए० एच०:	१९४६,	दी कुमार भाग पहाड़ियाज, एम० आर० आई०, वर्ष २६, अंक ३—४
अलेनसोन, एच० एल० :	१९१०	फाइनल रिपोर्ट आफ दी सरभे एन्ड सेटलमेंट आपरेशन्स इन दी डिस्ट्रिक्ट आफ संताल परगनाज, कलकत्ता ।
आरचर, डब्लु० जी०:	१९४०	दी ब्लू ग्रोभ, लन्दन ।
	१९४८	दी डोम एन्ड दी यूल्पार्ड, लन्दन । 'दी बीमन्स हन्ट' एसेज इन एन्थोपांलजी में रायबहादुर शरत चन्द्र राय को समर्पित, लखनऊ ।
	१९४७	रीतूअल फ्रेन्डशिप इन संताल सोसाइटी, एम० आई० आई० वर्ष २७, अंक १
	१९४७	संथाल ट्रीटमेंट ऑफ बीचक्राफ्ट एम० इन० इन० जि० २७ न० २
एलबिन, भी०:	१९४७	दी मुरिया ऐन्ड देयर घोतुक, बम्बई ।
ओ, मैली, ऐल० एस० एस०	१९३६, १९१०	संताल परगनाज डिस्ट्रिक्ट गजुठियर, द्वितीय संस्करण, श्री मुखर्जी द्वारा पुनरावर्तित, पटना ।
	१९१०	सिंहभूम डिस्ट्रिक्ट गजेटियर, कलकत्ता ।
	१९२६	पलामू डिस्ट्रिक्ट गजेटियर, श्री पी० जी० टेलेन्ट्स द्वारा पुनरावर्तित, पटना ।
	१९४१	मॉडर्न इंडिया एन्ड दी वेस्ट में अन्तिम अध्याय के प्रिमिटिभ ट्राइब्स खंड में, लन्दन ।

कलशां, डब्लू० जे०		फोक कनससनेस ऑफ दी संताल्स 'ऐसेज इन एन्थोपालजी में, रायबहादुर शरत चन्द्र राय को समर्पित, लखनऊ ।
	१६४८	ट्राइबल हेरिटेज, लन्दन ।
कलशाँ, डब्लू० जे और आरचर डब्लू जी०	१६४५	दी संताल रिवेलियन, मैं० ह० ह०, वर्ष २५, अंक ४
कूपलैंड, एच०	१६११	मानभूम डिस्ट्रिक्ट गजेटियर कलकत्ता ।
कैम्पवेल:	१६१६	सकसेसन एन्ड पार्टिशन ऑफ प्रौपर्टी एमंग दी संताल्स, जे० बी० ओ० आर० एस०, वर्ष १
गन्टजेर, जे० एफ०:	१६३६	फाइनल रिपोर्ट ऑफ दी सरभे एन्ड सेट्लमेंट आपरेशन्स इन संताल परगनाज, पटना ।
गोखले, बी० के०:	१६२८	सरभे एन्ड सेट्लमेंट ऑपरेशन्स इन मानभूम १६१८ २५, पटना
घुरे, जी० एस०	१६४३	एबोरजिनिज, सोकॉल्ड एन्ड देयर फ्युचर पूना ।
चटर्जी, ए०एन० और टी दास	१६२८	दी होज ऑफ सरायकेला, कलकत्ता ।
टक्य, ए० डी:	१६२०	रिपोर्ट ऑभ सरभे सेट्लमेंट आपरेशन्स इन दी गभमेंट स्टेट कोलहन, पटना ।
टेलर, ऐफ० इ० ए०:	१६४०	फाइनल रिपोर्ट ऑफ दी रिभिजनल सरभे एन्ड सेट्लमेंट ऑपरेशन्स इन दी डिस्ट्रिक्ट ऑफ राँची, पटना ।
ठक्कर, ए० भी०:	१६४६	सभ प्रेसिंग प्रोबलम्ब ऑभ प्रीमीटीभ, ट्राइब, इ० ए० जि० इ० न० १
डालटन, इ० टी०	१८७२	डिसक्रिपटिभ ऐथनॉलौजी ऑफ बंगाल, कलकत्ता ।
ढीहोन, पी०	१६०५	रेलिजन एन्ड कस्ट्म्स ऑफ दी ओरांवज, मेम्वायर्स ऑफ दी ए० एस० बी०, वर्ष १

दत्त मजूमदार, एन० १९५५ दि संथाल, कलकत्ता।

दत्ता, के० के०: १९४० दी संताल इनसुरेक्सन, कलकत्ता।

दास, टी०: १९३१ दी वाइल्ड खाड़ियाज आफ मानभूम, कलकत्ता।

फर हेमनडार्फ, सी० भ न: १९५० युथ डारभिटौंरिज एन्ड कम्युनीटी हाउसेज इन इंडिया, एन्थोपौंस।

फ्रेजर, सर यन्ड्रड: १९०३ बबीकनेहिल रिपोर्ट आफ दी एडाभिनिस-ट्रेशन आफ बंगल बिहार एन्ड उड़ीसा।

बाउल्स, जी० टी०: १९४३ लिंगुस्टिक एन्ड रेसियल एसपेक्चुस आफ दी नुंडा प्राबलेम स्टडीज इन दी ऐन्थोपालजी आफ ओसियानियौं एन्ड एशिया में, श्री डिक्सन की स्मृति में समर्पित, कैम्ब्रिज, मैसचुस्ट्स।

बिस्वास, पी० सी०: १९३५ रेलिजन, ला एन्ड सोसल औरगेनिजेशन आफ दी संताल्स, जरनल ऑफ दी युनिवरसीटी वर्ष २६।

१९५७ दी संथाल, दिल्ली।

ब्रिज, टी० डब्लू०: १९२१ पलामू डिस्ट्रिक्ट सेटलमेंट रिपोर्ट, पटना।

ब्रैन ब्रिज, आर० बी०: १९०७ दी साउरियाज आफ दी राजमहल, मेम्वायर्स आफ दी ए० एस० बी०, वर्ष २ अंक ४

ब्रैडलेस बर्ट, एफ० बी०: १९०३ छोटानागपुर, लन्दन।

१९०५ स्टोर आफ एन अपलैन्ड, लन्दन।

बोडिंग, पी० ओ०: १९१६ रिमार्क्स आन दी पोजिसन आफ वीमन एमंग दी संताल्स, जे० बी० ओ० आर० एस०, वर्ष २, भाग ३।

१९४२ ट्रेडिशन एन्ड इन्स्टीट्युशन आफ दी संताल्स, ओसलो।

बोनर्जी, धीरेन: १९३० सोसल एन्ड सेरिमोनियल लाइफ आफ दी संताल्स, इंडियन एन्टीन्क्वीटी, भौल्युम ५९।

बोमपास, सी० एच०:	१९०९	फोकलोर ऑफ दी संताल परगनाज, लन्दन।
मजुमदार, डी० एन०:	१९३७	ए ट्राइब इन ट्रानजीशन, संशोधित और परिवर्धित संस्करण (१९५०) एफेयर्स ऑफ ट्राइब के रूप में, लखनऊ।
मित्रा, एस० सी०:	१९२६	२८ ह्यूमन सेक्रिफाइस एमंग दी संताल्स, जे० बी० ओ० आर० एस०
मित्रा, पी० के०:	१९५७	मुंडा फोक टेल्स, राँची।
मुकर्जी, सी एल०:	१९४३	दी संताल्स, कलकत्ता।
मेक्करसन, एच०:	१९०९	फाइनल रिपोर्ट ऑफ दी सर्वे एन्ड सेटलमेंट इन दी डिस्ट्रिक्ट ऑफ संताल परगेनाज, कलकत्ता।
मेक्फेल:	१९२२	दी स्टोरी ऑन दी संताल्स, कलकत्ता।
मेकालपिन, एस० सी०:	१९०६	ए रिपोर्ट ऑन दी कन्डीशन ऑफ संताल्स इन दी डिस्ट्रिक्ट ऑफ बीरभूम, बाँकुरा, मिदनापुर एन्ड नॉर्थ बालासोर, कलकत्ता।
राय, एस० सी०:	१९१२	दी मुंडाज एन्ड देयर कन्ट्री, कलकत्ता।
	१९१५	दी ओराँव्ज, राँची।
	१९२५	दी बिरहोर्स, राँची।
	१९२८	ओरांवज रेलिजन एन्ड कस्टम्स, राँची।
	१९३५	दी हिल भुयाज ऑफ ओरिसा, राँची।
	१९१५	ओरियेनटेशन ऑफ मेंभ स्टोन्स एन्ड हाउसेज इन छोटानागपुर, जे० बी० ओ० आर० एस०, वर्ष ६।
	१९२०	दी पहारियाज ऑफ छोटानागपुर, जे० बी० ओ० आर० एस०, वर्ष ६।
	१९२१	किनसिप एन्ड मैरेज औरगेनिजेशन ऑफ दि पहाडियाज, जे० बी० ओ० आर० एस०, वर्ष ७।
	१९३१	दि एफेक्ट ऑन दी एवारजिनल ऑफ छोटानागपुर ऑफ देअर कॉनटेक्ट विथ वेष्टर्न सिवलीजेशन, जे० बी० ओ० आर० एस०।

	१९४६	दि एबॉरिजिनल्स ऑफ छोटानागपुर, ऐम० आई० आई०, वर्ष २६, अंक–२ ।
राय० ऐस० सी०:	१९४६	दि मुंडा थ्योरी ऑफ रेन्ट ऐम० आइ० आइ० वर्ष२६ अंक ३—४ ।
राय, एस० सी० और राय, आर० सी० :	१९३७	दि खारियाज, २ भाग, राँची ।
रिकेट्स सर हेनरी :	१८५४	रिपोर्ट ऑन छोटानागपुर ।
विद्यार्थी, एल० पी०	१९५५	एजुकेशन इन ट्राइबल, बिहार, एम०एम० आइ, जिल्द ३५ नं० १
	१९५५	लैन्ड एन्ड लेवर एमंग दी मुंडा ऑफ बिहार, जे० बी० आर० जिल्द ४१ नं० ३
	१९५७	आन्थ्रपालोजी, ऑथोरटी एन्ड ट्राइबल वेलफेयर, इस्ट्रन आन्थोपालाजिस्ट, जिल्द ११ नं० १
	१९६०	दि बिरहोर : ए स्टडी इन इकोलाजी इकोनोमी एण्ड वाण्डरीङ्ग । एंथोनी एफ० सी० वालैस द्वारा सम्पादित सलैक्टेड पेपरस ऑफ दी अन्थोपोलोजिकल एण्ड इथनोलाजिकल साइंसेज, फिलाडेलफिया से प्रकाशित ।
	१९५८	कलचरल टाईप इन ट्रायबल बिहार ।
	१९५९	जे० एस० आर० जिल्द १ संख्या १ अन्थ्रोपोलोजी एण्ड एडमिनीस्ट्रेसन जे० एस० आर० जिल्द २ संख्या २-१
	१९५९	अन्थ्रोपोलोजी एण्ड ट्राइबल वेलफेयर कौंसिल ऑफ सोशल एण्ड कल्चरल रिसर्च, राँची । इन इण्डिया (सम्पादित पुस्तक)
रे, गौतम शंकर दास भुवन मोहन :	१९५३	ऐन आरौंव डेथ-राईटस, एम० इन० जि० ३३ नं० ३

लिस्टर, इ० :	१९१७	हजारीबाग डिस्ट्रिक्ट गजेटियर, पटना।
स्कीफ सन्ड, एल० ओ० और कारभेन, सी०एच० :	१९०८	फ्रैंटनेल पोलियान्ड्री एमंग दी संताल्स, जर्नल ऑफ दि ए० ०स० बी०।
सरकार एस० एस० :	१९३८	दि मलैर ऑफ दी राजमहल हिल्स, कलकत्ता।
		दि मलैर एन्ड माल पहाडियाज ऑफ दि राजमहल हिल्स, करेन्ट साइन्स, १ अंक २।
सिफटन, जे० डी० :	१९१७	हजारीबाग लैन्ड सेटेलमेंट रिपोर्ट, पटना।
सेन, बि० कान्त, ज्योति	१९३५	नोट्स ऑन बिरहोर, एम० इन० इन० जि० ३५ नं० ३ सेनसस ऑफ इंडिया, भाग, टेबुल्स।
हटन जे० एच० :	१९४१	"प्रिमीटिभ ट्राइब्स" मॉडर्न इंडिया एन्ड दी बेस्ट में, एल० एस० एस० ओ०, मैली द्वारा सम्पादित, लन्दन। सेनसस ऑफ इंडिया, भाग १, हिस्सा ३ इथनोग्राफिका।
हॉफमैन और एमलि	१९३०	इनसाइक्लोपियडीया मुंडारिका, १३ भाग में, पटना।

संक्षेप

ए० एस० बी० :	एसियाइटिक सोसाइटी आफ बंगाल।
ई० ए० :	इस्टर्न आन्थोपालाजिस्ट।
जे० बी० ओ० आर० एस० :	जर्नल ऑफ दि बिहार एन्ड ओडिसा रिसर्च सोसाइटी।
एम० आइ० आइ० :	मैन इन इंडिया।
जे० एस० आर०	जर्नल ऑफ सोश्ल रिसर्च, राँची।
सच्चिदानन्द	विरसा एन० आदिवासी फायइटर फॉर फ्रीटम
	१९५४ वन्य जाति जि० २ संख्या ४
	१९५८ दी धुमकुरिया देन एण्ड नाऊ जे० एस० आर० जि० १ न० १
सिन्हा, डी० पी०	१९५८ कल्चरल इकोलागी ऑफ दी बिरहोर जे० एस० आर० जि० १ न० १

पारिभाषिक

शब्द-कोष

अनुचित काम सम्बन्ध—(Adultery)
अस्थि—(Bone)
अन्तः हिमालय प्रदेश—(Cis-Himalayan Region)
अपराध वृत्ति—(Delinguency)
अन्तर्विवाह—(Endogamy).
अनुलोम (कुलीन विवाह)—(Hypergamy).
अवैयक्तिक—(Impersonal).
अन्तर्विवाह—(Inter-marriage).
अर्धांश—(Moiety).
अनधिकृत—(Marginal).
अहितकारी प्रेतात्माएं—(Malevolent spirits).
अप्रत्यक्ष सम्मोदन—(Negative sanction).
अशौच—(Pollution)
अनाकर्षण—(Repulsion)
अनुसूचित जन जातियां—(Sheduled Tribe)
अलौकिक शक्ति—(Supernaturalism)
अस्थाई खेती—(Shifting cultivation)
आदि प्रवासी—(Aborgines)
आतिथ्य—(Hospitality)
आसोम जन्म—(Still birth)
उपयोजन—(Adaptation)
उपकल्पात्मक—(Hypothetical)
उच्च कपालीय—(High Vault)
उत्तराधिकार—(Inheritance)
उद्भिद देवक—(Plant totem)
उपरूप—(Sub-Type)
एक विवाही परिवार—(Monogamous Family)

एक पक्षीय—(Unilateral)
एटिकी करण—(Secularisation)
औपहासिक सम्बन्ध—(Joking Relationship)
कन्या मूल्य—(Bride Price)
कपालीय परिमित प्रमाण—(Craniometry)
कपैर देशना—(Cranial Index)
कच्चा—(Crude)
कथा-कहानी—(Folk-Lore)
कपाल का आकार—(Head Form)
कनिष्ठत्व—(Junior)
कान्ता—(Mistress)
कठोर परिक्षाएं—(Ordeal)
कुण्डलित केश—(Pepper corn hair)
किशोरावस्था—(Puberty)
कपाल, करोटि—(Skull)
कद—(Stature)
खोई कडी—(Missing Link)
खेल का गुट्ट—(Play Group)
खूनी लड़ाई—(Sangninary)
गोट—'Class)
ग्रन्थियां—(Glands)
ग्रहपथ—(Orbit)
गर्भविधि—(Pregnancyrite)
गुप्त—(Potential)
गणचिन्ह—(Technology)
घटकैती—(Negotiation)
चिबुक—(Chin)
चर्वरयोग्य—(Mandible)
चिपटे नाक वाले—(Platyrrhini)
छेदन शास्त्र—(Anatomy)
जीवबाद—(Animism)

जरायम पेश—(Criminal Tribe)

जन गणना—(Census)

जाति प्रथा—(Caste System)

जनक सम्बन्ध—(Genetic Relationship)

जादू टोना—(Witch craft)

जनजाति—(Tribe)

जाति—(Species)

तत्व—(Element)

तंत्र यंत्र—(Spell)

दाम्पत्य—(Affinal)

द्विपक्षीय सम्बन्ध—(Bilateral)

दैनिक जीवन—(Course of life)

दीर्घ कपाल—(Dolicho cephalic)

देवी देवता—(Deities)

दोहरे गोत्र संगठन—(Duel-clan organisation)

दीक्षा—(Initiation)

दोगला—(Illegitimate)

देवर सम्बन्ध—(Levirate)

देशान्तर गमन—(Migration)

दो भाई या दो बहन के लड़के (लड़कियां आपस में सामान्तर) भाई व बहन कहाएंगे।—(Parallel cousin)

दैहिक, शारीरिक—(Physical)

नितल—(Bottom)

नर भक्षण वाद—(Cannibalism)

नृवंशीय वर्ग—(Ethnic Group)

निर वालक—(Fossil)

निम्न हेनु—(Lower Jaw)

नामकरण विधि—(Nomenclature)

नवपाषाण संस्कृति—(Neolithic Culture)

न्यष्टि परिवार—(Nuclear Family)

नासिका चिन्ह । नासिक देशना—(Nasal Index)

नाल रंजु—(Umbilical chord)

नमूना—(Sample)

परसंस्कृति ग्रहण, सांस्कृतिक संपर्क का प्रभाव—(Accutturation)

परिहार—(Avoidance)

पितृपूजा—(Ancestor Worship)

प्राणि शास्त्रीय—(Biological)

पृथु कपाल—(Brachy-cephalic)

प्राण विद्या—(Biology)

प्रसंकरणोत्पादक—(Cross-breeding)

पित्र प्रतिबन्ध—(Couvade)

पूजा—(Cults)

पवित्र संस्कार—(Consecration)

पशु त्योहार (Cattle Festival)

पशु पालन—(Domistication)

प्रसार—(Diffusion)

परिस्थिति शास्त्र—(Ecology)

प्रबन्ध कार्य—(Executive duties)

परिवार—(Family)

पैमाईस, जांच—(Survey)

प्रविद्या—(Technique)

प्राकृतिक निवास—(Gabitate)

पृथक् करण—(Isolation)

पौराणिक कथा—(Legend)

पैत्रिक दाय—(Law of Intreritance)

प्रवजन—(Migration)

प्राकृतिक चुनाव—(Natural selection)

प्रधान वर्ग—(Primate)

पितृ गृह—(Patrilocal Residence)

पितृ पिण्डक—(Patrilineal)

प्रधयत्नः सम्मोदन—(Positive Sanction)

प्रजनन —(Reproduction)

प्रभाव, परिमाण—(Reactions)

पृष्ठ वंशीय—(Vertictrate)

प्रतिभाग—(Sub-divide)

प्रेतात्माएं—(Spirits)

वहिर्विवाह—(Exogamy)

वहुविवाह—(Polygamy)

बहुपत्नीत्व—(Polygyny)

बहु पतित्व—(Polyandry)

बलिदान—(Sacrifice)

भाई बहन की सन्तति—(Cross Cousin)

भिन्न जातीय गुण—(Heterogenous)

भूमि अधिकार, भूमि पट्टा—(Land Tenure)

भाषा सम्बन्धी—(Linguistic)

भौतिक संस्कृति—(Material culture)

भ्रातृभाव—(Phralry)

मानव-मिति—(Anthropometry)

मानवीय उपकरण--(Artifact)

मानवसम—(Anthropoid)

मनो-विनोद -(Amusement)

मुर्दा गाड़ने का स्थान—(Burial Ground)

मेधावी मानव—(Homo-Sapiens)

महाजनक—(Grand Parent)

महाबाल—(Grand Children)

मातृसत्तात्मक—(Matriarchate)

मातृगृह—(Matrilocal Residence)

मिश्रित परिवार—(Mixed Family)

मध्यमाकार नाक वाला—(Mesorrhini)

मृतगृह समारोह—(Mortuary Ceremony)

यंत्रशास्त्र—(Technology)

यौन सम्बन्ध—(Sex Relation)

यज्ञोपवीत—(Sacred Thread)

रक्त समुदाय—(Blood Group)

रचना—(Composition)

रखेल वृति—(Concubinage)

रजस्वला—(Menstruation)

रक्त सम्बन्ध—(Kinship)

रति—(Sexual Inter course)

लक्षण—(Character)

ललाटास्थि—(Frontal Bone)

लेश—(Trace)

वानर, लंगूर—(Ape)

वस्तु विनिमय—(Barter)

वर्ण—(Caste)

वर्ग श्रेणी—(Class)

विभाग—(Classification)

वर्ग विभेदक—(Classificatory)

विच्छेद—(Divorce)

वातावरण—(Environment)

विस्तृत परिवार—(Entended Family)

वर्ग—(Group)

वशानुगत—(Inherited)

व्यक्तिगत परिवार—(Individual Family)

व्यक्तिगत स्वामित्व—(Individual ownership)

वंशीय—(Lineage)

वंश—(Lineal)

वैवाहिक पद—(Marital Status)

वामन जाति—(Pygmy)

विशेषाधिकार—(Privilege)

विपर्यय अथवा अन्ययावरण—(Variability)

वर्जित व निषिद्ध—(Taboo)

विवाहेच्छुक—(Suitor)

विपाटिकरण—(Splitting)

विशषोप योजना—(Sperialisation)

शीर्ष देशता, कपाल चिन्ह—(Cephalic-Index)

शयनागार—(Dormitory)

श्रम विभाजन—(Division of Labour)

शीलाचार सम्बन्धी—(Ethical)

शिल्प, दस्तकारी—(Handicraft)

श्रेणीबद्ध—(Hierarchical)
शुचि—(Purificatory)
शास्त्रोक्त—(Rituals)
शब्दावली—(Terminology)
श्याला सम्बन्ध—(Sororate)
स्थिर—(Static)
स्तरण—(Stratification)
समीकरण व्यवस्था—(Adjustment)
सात्मीकरण, स्वीयकरण—(Assimilation)
साहश्य—(Affiliation)
सांस्कृतिक मानव विज्ञान—(Cultural Anthropology
सांस्कृतिक चिन्ह—(Cultural Traits)
सांस्कृतिक सांकुल्य—(Cultural Complex)
सास्कृतिक प्रतिमान—(Culturel Pattern)
सामाजिक अपरात—(Crime)
सगोत्र—(Consanguine)
सभिन्ड—(Collateral)
सामूहिक स्वामित्व—(Communal Ownership)
समुदाय—(Community)
सिद्धान्त, प्रमाण—(Criteria)
समय निरूपण—(Chronological)
समारोह—(Ceremony)
सामाजिक स्थिति का विवेचन—(Demography)
सम्बन्ध, गोत्र—(Sib)
सेवाभूमि—(Service land)
सुप्रजनत - शास्त्र—(Eugenics)
समूह विवाह—(Group Marriage)

सजातीय—(Homogenous)

संघात—(Impact)

सारूपयता—(Identity)

समत्वयता—(Identical)

संयुक्त स्वामित्व—(Joint Ownership)

स्त्री प्रसाविका—(Midwife)

सेवा विवाह—(Marriage by Service)

स्तन्य त्यानन—(Weaning)

संमोदन विवाह—(Valid marriage)

सिद्धान्त—(Theory)

सामाजिक नियत्रंण—(Social control)

हीन भावना—(Inferiority Complex)

हठ विवाह—(Intrusion Marriage)

हरण विवाह—(Marriage by capture)

———

कपिल उरांव अपने प्रिय पत्नी के साथ

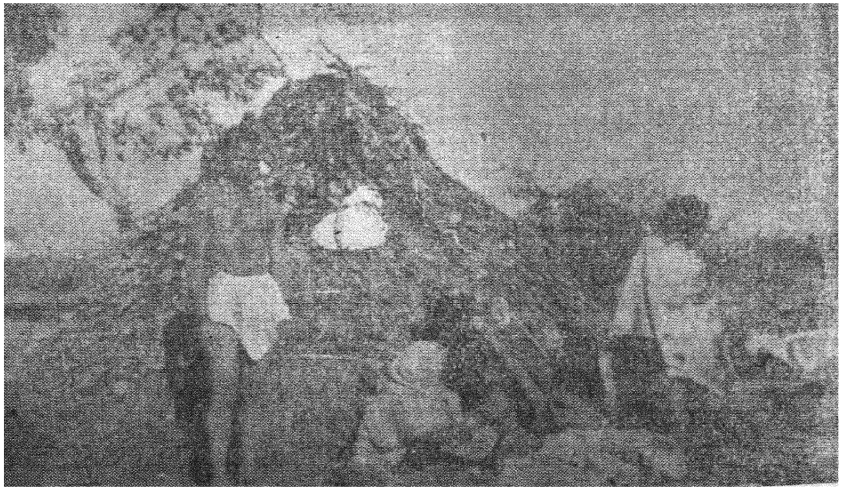

उथलू विरहोर की अस्थायी झोपड़ी-एक परिवार का दृश्य

उथलू विरहोर अपने प्रिय वाद्ययंत्र मांदर के साथ

छोटा नागपुर के उरांव का प्रिय मेला-यात्रा

एक संताल माँ

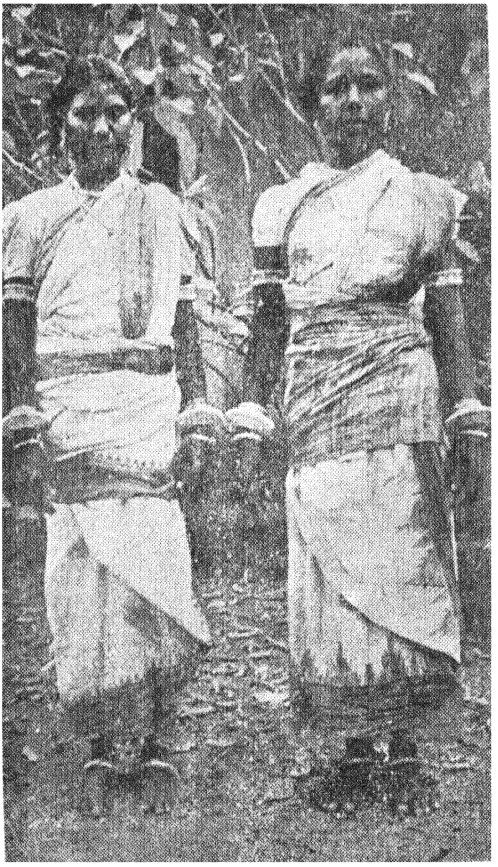

मुंडा युवतियाँ अपने शृंगारिक भेषभूशा में

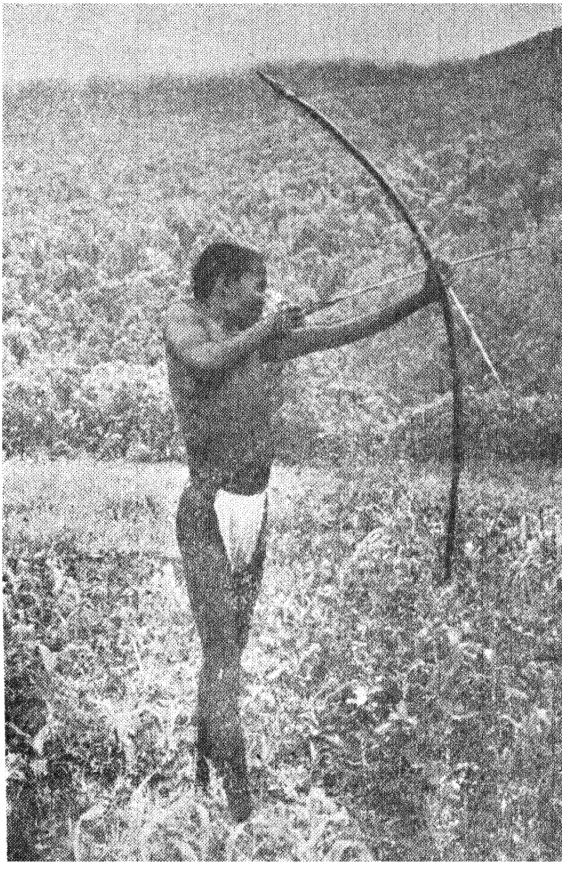

ये आदिवासी बचपन से तीर चलाते हैं। मुंडा

अनुक्रमणिका

अखाड़ा ४०, ४२, ४५, ८१, ६१, १०१, १२०
अगेरिया ४
अड़न्दी ७
अन्दी १२१
अनादर १२१, १२२
अपौरटुपी १२१, १२२
अम्बल अदेर १०६
अघोर २०
असली विवाह १३६
असुर २१, ३५, ३६, ४६, ७६, १२६
आइर्नल्ड डी वरीज २०
आक्सटेड २७
आखेट ८४-८६, (दे० शिकार)
आगमुक ६५
आडिंग ११७--११८
आड़िया ओसरा १५३
गांगि १५३
पुनु १५३
आतो सनाई ६०
आदिवासी (दे० जनजाति)
आदिवासियों की आर्थिक स्थिति २० १८२-१८३; १-५; ८३-८४; ६३-६६; ११५, १२६, १५६,-१६१
आदिवासी कला २१, २२, ३५-- ५०, १२६, ११३-११५,१२६
आदिवासियों की कलाप्रियता ३८-४२, १६३
आदिवासियों की कल्याण योजना (बिहार में) १६७, २०६
आदिवासी गाँव ८०, ८१-८३, ११२-११३, १२६-१२७, १४०-१४२-१४४-१४६,
अन्न भंडार २०३-२०४, १२७-१३१, ६२, ५३-५४, ११३-११४, अल्प व्यय २०३
औषधि तथा जन स्वास्थ्य २०७
कूपों का निर्माण २०७-२०८
चाईबासा यांत्रिक स्कूल २०१-२०२
छात्रावासों का निर्माण २०२-२०३
पहाड़िया जल संचय की योजना २०८
पहाड़िया विशेष योजना २०४-२०५
पहाड़ियों के लिये शैक्षिक योजना २०१,
पशु सुधार २०६
पुनर्वास का प्रश्न २०
मुर्गी पालन और विकास केन्द्र पृ० २०६
यातायात २०६-२०७
विविध २०८
सहयोग समितियाँ २०५-२०६ (दे० सहयोगिता)
आदिवासी जनजातीय जीवन समस्याएं १८४,-१८६
आदिम जातीय वर्गीकरण १८१
आदिम जातीय धर्म १८३, ८८, १०७ १०८, १२४, १३६-१४० १७५-१७६

आदिवासी नामकरण १८२
आदिमजातीय पुनरूत्थान समन्वय १८६-१८७
आदिमजातीय पुरातन शिक्षा १६१, १६३, ११६, १५४, ६६१, २०१,
आदिवासी संबंधी पुस्तक सूची २२२-२२६
आदिमजातियों की भाषा २२, १८१
आदिमजातियों के भाषीय संबंध २१६-२१
आदिमजातियों के लोकसाहित्य का अध्ययन २१, ३५-५०, ४३-४४, (दे० लोकगीत, लोकसाहित्य)
आदिमजाति के वास स्थान १६४, ८०-८३
आदिमजातियो के विभिन्न प्रकार १८०,-१८१
आदिवासी साहित्य और कला ३५-५०
आदिवासी संगीत प्रेमी क्यों ३५-३८
आदिवासियों का संपर्क और सांस्कृतिक परिवर्तन २२
आदिवासियों का सांस्कृतिक विकास २०६
आदिवासियों का सांस्कृतिक स्वरूप १८१-१८२,
आदिमजातीय सौंदर्य भावना १६३
आदिमजातीय सेवा मंडल १६७-२०२
आदिमजातीय शासन संबन्धी समन्वय १८७,-१६१, १५३-१५४,
आरचर, डब्ल्यू जी० ४६, ४७,४८,
आरूप जांगा ५८
आर्यिक भाषा १८१, २२०
आस्ट्रोल्वाइड वैड्डिक २७
आस्ट्रोएशियाटिक भाषाएं २७, २१६
इकीर बोंगा १०
इन्डोनौर्डिक २७
इरुला ७८
इली ११३ (दे० हड़िया)
इस्ट इंडिया कंपनी १४३
इष्ट चिन्ह ५
उड़िया १६
उराँव ४, ६, १५, १६, १७, १६ २१, २७, २६, ३०. ३५, ४६, ७७, ८८, २१२
आखेट ८४-८६
गाँव ८४-८६
ग्राम की स्थापना ८२
घाटी की बस्तियाँ ८१
जीवन यापन के साधन ८३-८४
धार्मिक प्रवृत्तियाँ ८८
परिभ्रमण ७६-८०
पहाड़ों की बस्तियाँ ८०-८१
पंचायत ८७-८८
मैदानी बस्तियाँ ८२
सामाजिक संगठन ८८
ओझा ६
ओटनवर्ग ३२
ओराबोंगा १७६
ओराबोंगाको १०७
एडवर्ड गेट १५
एडिंग १००, १०७
एरोक ७१
एलवीन २१, ४६, ६८, ६६ २२१
कवलेटा १३३, १४१
कोरिया ५, ६६, १०१, ११२, १७६,

१६३, १६४, १६७, १६८, १७०, १७६, १७७, १७८
उरांव कबीले ५
बिरहोर कबीले १६३
संताल कबीले ५
कमर रचा ६१
कर्मा ११, १०८
करम राजा ७८
करटाहा १३२
करमाली ४, २१
करसरा ७६
करिया २४, १५६
काड़ेमाला ४१
कानराम देवगम ४८
कादर ३७
किसान २१, २१५
कोली ६६, ११२, ११६, ११७, १२३, (दे० कबीला, गोत्र, टोटेम)
कुई १११
कुटुनोस १८६
कुड़ुख ७८, ७६
कुड़ुख़ कत्थ खोंड़हा २२०
कुमनी ४०
कुमार पालप्पा १४३
कुरवा (कोरवा) ३, १४५, १६०, २१४, १६०
कुल्ही ५२
कुली जाति १८३
कुसरायन १६७
कोटवार १५४
कोड बाहा काडा १५४
कोतवार १६१
कोमपाठ मुंडाको ६६
कोरवा ३, १८८ २१५
कोरा २१५
कोयरी १६
कोया शिक्षा योजना पृ० १६१
कोयास १८८
कोल्हान १८, २८, १११, ११२
कोल १११
कोलम १८८
कौतुक युद्ध ८
कैम्बेल १६
खरवार आन्दोलन २४, ७०
खंगार मुंडा ६६
खंडा १२७
खमेर भाषा १८१
खड़िया ४, ६, १२, १८, २१, २७, २६, ३४, ६६, १२६, १४२
उत्सव १३५-१३६, (दे० पर्व)
कृषि तथा भूमि १२६
ग्राम संगठन १२६-१२७, १४०-१४२
जादू, धर्म और पर्व १३६-१४०
जीवन चक्र १
प्रसाधन और परिधान १२८-१२६
भोजन १२७-१२८
शिकार १२६-१३६
सामाजिक संगठन
सामाजिक नियंत्रण १४०-१४२
हस्तकला १२६
दूध खड़िया १२१, ८६, २१३
ढेलकी खड़िया ३, १२६, २१३
हिल खड़िया, ३, १८, १२६, २१३
खतौरी १४३
खासी १८१
खुटकट

खुंकरी ४०
खुरो ३
खेतौअरी १६
खेरवार ३५, ४६
खेल ६१
खोंड १८८
गमी १७४
गड़ावा १८८
गर्डन वालम ६०
गाड़ी १४१
गारो १८१, १८२
ग्राम देवता
चांडी बोंगा, देसाउली बोंगा, हातु बोंगा १०
ग्रामीण एवं नागरिक संस्कृति २५
गितिओड़ा ६१, १०१, १०२, १५८, १६६, १७३ (दे० धुमकुड़िया),
गिरी १५४
गिरींग ६
ग्रिनार्ड ४७
ग्रियर्सन २२
गीतिओ १२६
गुहा, बी० एस० २७, ३१
गूटी १०१
गोड टंडी ७२
गोडाइत १५३
गोडेत ७४, ७५
गोदना ११४
गोत्र ६, ५७, १८२ (दे० कीली, कठौला) कबीला, टोटेम
गोनोंग ७
उरांव, मुंडा, संताल, हो ७
छरी १०७
गोरा ११५
गोराइत २१६
गोरिया बोंगा १०८
गोसाईं एरा ७०
जरमात्रे १५२
दरमारे १५२
बलपू १५२
बेरू १५२
भंडी १५०
लेहू पू० १५२
गोहाल पूजा ७२
गौड २१५
गृह उद्योग ४
गृह देवता १०
ओड़ा बोंगा १०
घटवाल १४३
घुर्ये (डा०) २२१
चंडी १७६
चमाइन ६
चाइबासा यांत्रिक स्कूल २०१
चीक बड़ाइक ४, २१५
चीरा १४१
चुंआ ८१
चुमान ६३, १७२
चौरासी होमरोम १७६
चेरो २१५
चेंचू २३
चैन १३६
छट्ठी १४७, १६७
छूत ६, ६
छोटानागपुर टेनेन्सी ऐक्ट ८४
छोटानागपुरिया २२१
जतरा ३८
जगदीश त्रिगुणायत १६
जटायु १६०

जनजाति (दे० आदिवासी)
बिहार की जनजातियों की अमूल्य थाती ११-१२
आबादी १
आर्थिक व्यवस्था १-५;२०;८३-८४; ६३-६६; ११५; १२६; १५६-१६१.
धर्म व्यवस्था ६-११; ६८-७४; ८८; १०७-१०८;१२४; १३८-१४०; १५२-१५३; १७५-१७६.
श्रेणियां २
सामाजिक व्यवस्था ५-६; ५६- ६८; ७४-७६; ८७-८८;६०-६१;६६ ६८; १३१-१३३; १४०-१४२; १४६-१४७; १६३-१६५.
सामाजिक संगठन ५६-५७; ८८; १०८-११०; ११६;१३१-१३३;
संक्षिप्त परिचय २१२, १८
संस्थाओं का अध्ययन २१; ७४-७५; ८७-८८;
सांस्कृतिक संपर्क: उनकी नई शिक्षा १२-१३
जनजातीय पोषण का प्रश्न २०
जरेहर एरा ७०
जाड बाहा ६६-६७
जादूगर ६, १२३
जान्पाड़ ७१, ७२
जानधोर १४०
जाले ७३
जीओम १३६
जीवन-चक्र ५६-६८; ६६-११०; ११८-१२४;१६५-१६६;
जुंगटोपा ६१,१०७
जोग जाति ७६
जोगपारानिक ७४, ७५
जोग मांझी ६२, ६४, ७२, ७४, ७५ ।
जोरडी शिक्षा योजना १६१
झरडी गोसाई १५०
झारखंड १८५
झिलपी ४१
झीमरी ४०
झुम प्रणाली ३, ४, ५, १२६
टंडा २, १५७, १६१, १६५, १७१, १७३
टंडा २, १५७, १६१, १६५, १७१, १७३ १७८
टांड़ ८१, ८५
टिकेल (लेफ्टिनेन्ट) १४
टोटेम ५ (दे० किल्ली, गोत्र)
टोटेमिक १०६
टोडा २३, १८२
ट्रोम्बटी २१६
ठक्कर बापा योजना १६७
डाल्टन १४, १६
डायन ६, ५६, १२२, १२३
डियनीली १००
डीगुआर १६१
डीटेरा २४
डीन्डा कांटा १५८
डीरडी कुड्डी १५८
डोमन साहू ४७
डेयोनबा १२४
डेहोन (फादर) ११५
ढांगर १६
तिब्बती बर्मन १८१
तीलगंज १३६
त्योहार (दे० पर्व)

थाथी १६७, १६८
थारू ३१
थुरई लुतुर १६८
दाणडिया १४१
दामिन ई कोह ५१, १४४
दायभाग ११५
दायर्स १८८
द्राविड़ भाषा २२, १८१
द्रार्विडियन भाषी ३०
दिक्कू अन्दी १२१, १२२
दिहरी ५६, ७५, ११६
दूतम १२१
देराली २०
देओंरा १४०
देवनमा १२३
देवरी १०, १२४
देवासी १५२
देहरी १४०, १४१
धर्मेस १०, ८८
धागु १३३
धुमकुड़िया ७, २१, ८४, ८७, ६१, (दे० गिरिक्रीड़ा युवागृह)
नामकरण ६
नायक १५३
नायके ७१, ७३ ७४
नाया १६१, १६७, १७५ १७७
निग्रीटो तत्व २७, १८१
निषाद २७, ३१
नोडिक २७
नृतत्वीय नाप (बिहार जनजाति की) ३३-३४

पंचायत, १०, ११, ७४-७५ ८०, ८७-८८, १०३, १०६, ११०
ग्रामपंचायत १०, ११
पाढ़ा पंचायत ११, ८०, ८७, ८८, १०६
धातु पंचायत १०६
पनभरा, १०६
पर्व पृ० ११, ६६-६७, ७१-७४, १०७-१०८, १२४-१२५, १३५-१४०, १५२-१५३, १६७-१६८,
परहा ८७, १८४
महतो ८७
मुंडा ८७
राजा ८७
परहैइया २१६
परिवार पितृसत्तात्मक ६
परिहास ७४-७५
पहाड़िया १२, १४, २१, ३०, ३५, कुमार भाग १४३
माल ३, ६, २४, १४३
सौरिया ३५ १४३-१५५
पहाड़िया जलसंचय योजना २०८
पहाड़िया विशेष योजना २०४-२०५
पहाड़िया के लिए शैक्षिक योजना २०१

पादरी (विदेशी) १२, २२, २१६
पार १३०
पारकोम ६२
पारगाना ७५
पारा १४५
पारानिक ७३, ७४, ७५
पारिवारिक जीवन ५८, ११६-११७ १६५ १६६
पारिस ५७
पाहन १०, ८२, ८८, १०६, १४०
पिन्डगी ३६
पितर ६६

पितृबंशज १८५
पिस्का १६०
पुजार १०, १०६
पोन ५६, ६२
पोनो मोसर १३३
पोरजात १८६
पोशाक ५४-५५, ६२-६३,
पैतृकदाय ३२
पैटर्सन २४
प्रजाति २६
प्रजातीय तत्व (बिहार में) २६, ३४
प्रोटोअ स्ट्रोलायड २८, ३१ ४५, १८१
प्रेत ६
फागू सेन्दरा ८४
फीका १२८
फीनों उग्रिक भाषा २१६
फूड़वीरा ४१
फादा १३४
बटोई ६२
बड़ाइक २०५
बंथुड़ी २१७
बनीता बोंगा १०७
बबीपर एफ० बी० ६०
बंजारा पृ० २१७
बाखेंड़ ७०
बाडे १४४
बाड़ी ६१, ११५
बापला ६२
गोलाइटी ६४
घरदी जावांय ६४
टुडकी दिंपिल ६४
सादाई ६४ (दो विवाह)
बाबेल्स २२० (दे० पर्व)
बारा तडेरा ८
बाहा ११, ७१, ७३, ७४, १२५
बिंझिया ३५, ४६
बिटलाहा ७६
बित १४८, १४६, १५० १५१
बिरजिया ३२
बिरसा आन्दोलन १७ २४,
बिरसा भगवान १०८
बिरहोर २, ५, ६. १२. १५, २१, २७, २६, ३०, ३२, ३५, ३६ ४६, ६६ १५६, १७६ २७०
उलूथ बिरहोर १५६ १५७, १६१, १७२, १७७
जांघी बिरहोर १५६, १७०, १७२, १७६, १७७
जीवनचक्र १६५-१६६
धार्मिक स्तर १७५-१७६
टंडा व्यवस्था १६१-१६३
पारिवारिक जीवन १६५-१६६
भौतिक एवं आर्थिक व्यवस्था १५६-१६१
मृत्यु संस्कार १७३-१७५
विवाह १६६-१७३
सामाजिक व्यवस्था १६३-१६५
बिसु सेन्दरा ८४
बिहरी ७५
बुचानन फ्रेंसीस १५
बुद्ध १६
बूढ़ी माई १७६
बोडिंग, पी० ओ० ६, ४७, ६६
बोंगा ६, २१, ६६, ६६, १३३
इकीर बोंगा १०
ओड़ाबोंगा १०
ओड़ाक बोंगा ७०
गारसी बोंगा ६६

चान्दी बोंगा १०
देसाउली बोंगा १०
बुरू बोंगा १०, ७०
मेनीता बोंगा १०७
सिंग बोंगा ६, १०, १०७, १२४, १७६
सोसो बोंगा ४३, १०८
हातु बोंगा १०, १०७
बोंगाइज्म ६६
बोंगा गुरू ७०
बोंगा मतावलम्बी ६
बोंगा होड़ ६६, ७०
बेड़िया २१४
बेरू ११५, १५०
बैगा १४०, १८८, २१७
भागसिम ७१, ७३
भान्डान ६५, ६७, ३८
भागीरथ बाड़ा ७०
भंडारी १५२, १५३
भील ५१
मुंईहरी ६४
भुईहार ६४
भुमती बारेत ६३
भूमिज ४, २१, २८, ३०, ३५ २१३
मेलवा ४४
मजुमदार ५,६, १८, १६, २७, ३६, ४८, ६६
मति ६, १६१, १७७
महतो १०६
महली ४, ६६, ६७
महाली मिट्टी १६७
मनीता १७६
मागाहिम ७३
माचे ११
माझी ओझा ६१
मातृ मूलक मुंडा १८२
माधुरी २२०
मानकी ६७, ११३
मान खमेर ६०
मोल एहाड़िया (दे० पहाड़िया)
मालतो भाषा १४४, २१४, २२०
मालेर १४, १४४
माही २४
मां सांकशेरी १४७
मांगोलायड ३१ १८१
मांझाहास ६४
मांझी १५६, २४, ७५
माझीथान ५२
मांडवा ६२
मिशन १७, १८४
मुंडा ४, ६, १०, १२, १५, १६, १६, २१, २७, २६, ३०, ३२, ३५, ४१, ७७, ८५, ८६, ११०

अर्थ परिचालन ६३-६६
कथा साहित्य ४३-४४
गांव की सामाजिक व्यवस्था ६०-६१
जीवन चक्र ६६-११०
दैनिक जीवन १०५-१०६
धर्म एवं त्योहार १०७-१०८
परिवार ६८-६६
पोशाक ६२-६३
बचपन ६६-१०२
भोजन ६२
मकान की बनावट ६१-६२
यौवनावस्था १०२-१०३
विवाह १०३-१०५
वृद्धावस्था १०६-१०७
सामाजिक नियंत्रण १०८-११०
सामाजिक व्यवस्था ६६-६८

मुंडा भाषा २८, १८१, २१२, २१३, २१६, २२०

मुंडा भाषी ३०
मुंडारिका शब्दकोष २२०
मोंडेको तुईको ७०
मोंडे मांझी ७५
मोंडे होड़ ७४
मेनीता बोंगा १०७
मेरिया घोटुल २१ (दे० युवागृह)
मेन्डल ३२
मेला ४१
मैक्समूलर २१६
मैलिनोस्की १८७
युवागृह ६
उरांवों के ६, ७
गितिओड़ा ६१, १०१, १०२, १५८, १६६, १७३
धुमकुड़िया ७, २१, ८४, ८७, ६१
मेरिया घोटुल २१
यौन जीवन ७
यौन सम्बन्ध ५
रक्त विश्लेषण के आधार पर जातीय वर्गीकरण ३१, ३४
रमेश चन्द्र राय १८
राजमहल १८
राम प्रसाद चन्दा २७, ३१
रायवारिच ६२
रिजले ५, १६, १७, २७, ३२ ७७
रुगरीन २७
रोपा ८५
रोहतासगढ़ ७६, ८६
लुतुरतुकई १००
लोकगीत ११
उरांव ४४-४५
खड़िया ४४
मुंडा ४३, ४८
संताली ४४
हो ४४
लोक साहित्य
मुंडा १६
लोक साहित्य का अध्ययन आवश्यक ४६, ५०
लोक साहित्य का विशाल भंडार ४२, ४६
खोंडरा ४०
लोमरी ३२
लोहरा ४
लैब्राडोर के एस्किमो ३२
वंबई १३४
बसन्तोत्सव ११
व्यक्ति, समाज एवं संस्कृति २३
वापला (विवाह)
उजरा उडरी १७२
नाप नापाम १७२, १७३
बोलो १७३
सदर १७०, १७२
सांधा १७०
सीमन्दर १७३
हेसम १७०
वाल्टर हैमिल्टन १६
विलियम जोन्स १४
विलियम स्मिट ६०
विवाह अन्दी १२१
अनादर १२१-१२२
ऋणौरटुपी १२१-१२२
असली १३६
आदान प्रदान ८

एक पत्नी ७
ज्येष्ठ भाई की पत्नी से ७
दिकु अन्दी १२१-१२२
पत्नी की छोटी बहन से ७
बहु पत्नी ८
राजी खुशी ८, १०३, १२१-१२२
सेवा ८, १०४
हठ १०४
हरण ८
वापला । उ० दे० ।
वोयाड् ३२
वेडडा ३०, ३१
वेहेसी २१६
वैडिड २७
शरत चन्द्र राय ६, १४, १७, १८, १६, ३२, ४७, ६६, ७७, ७८, ८६, १०७, १६३, १६४, १६८,
शहरी सभ्यता १
शादी पत्नी की छोटी बहन से ७
शेरवेल कर्नेल १४
शक्ति १७७
शिकार ५६, ७५,—७६, (दे० आखेट सेंदरा)
सकनचारी १०५
सच्चिदानन्द १६
सतीश कुमार कोड़ा ४८
सरकार, एस० एस०, १८, १६, २१, ३२,
सरदार १५३
सरना १०, ८२, १५७
सरहुल १०८, १७८
सन्तान ६१, ११२
सहयोगिता ५६, ५७, ११५
'ताल ८, ६, १०, ११, १६, १६, २१ २६, ३०, ३५, ५१, ७६, ८६, २१२
कर्म और श्रम ५५
खान पान ५३,-५४
खेल ६१
गाँव ५१,-५२
गोत्रीय विभाजन ५७,-५८ (दे० कबील कीली, गोत्र)
घर ५२,-५३
चाचो छठियार ६०
जीवन चक्र ५६-६८
धर्म ६८,-७४
पर्व त्योहार ७१,-७४
परिवार ५८
परिहास एवं परिहास के रिश्ते ५८
पंचायत एवं गांव क ओहदेदार ७४, ७५
बड़े घूटों का स्थान ६४
बीमारियों और उनकी चिकित्सा ६५
मछली मारना ५६
मुद्रा तथा विनिमय ५७
मृतक संस्कार ६५-६८
युवावस्था ६१, ६२
यौन प्रवृत्तियां एवं दैनिक जीवन में स्त्री-पुरुष का संपर्क ६१, ६२
वस्त्राभूषण ५४-५५
विवाह ६२
शिकार ५६
शिकार परिषद् ७५-७६
शिक्षा-दीक्षा एवं अनुशासन ६०-६१
शैशव एवं छठी संस्कार ५६-६०
शैशव का अन्त ६१
सामाज में स्त्रियों का स्थान ५६
समाजिक नियंत्रण ७४-७६

सामजिक संगठन ५७-५६
सिका और खोदा ६०
हाट बाट और सहयोगिता ५६-५७ २१२, २२०
संताली भाषा २१२, २२०
संथाल पहाड़िया सेवा मंडल ४७, १६७
संपर्क एवं सांस्कृतिक परिवर्तन २२
सबर १८८, १६०
संस्कृति प्राक्कथन (ख)
संस्कार अंतिम संस्कार ६, ६५, ६६, १५१, १५२, १७३, १७५, जन्म संस्कार ६, ५६, ६०, १४७, १४८
विवाह संस्कार ६२, १४८, १५१, १६६, १७३
मृत्यु संस्कार ६ (दे० अन्तिम संस्कार)
स्वतंत्रता के युद्ध में आदिवासियों की देन २३-२४
साकरात ७३
सांकिन १००
साबरमती २४
सांवर ४१, २१७
सांस्कृतिक परिषद् २०६
सांस्कृतिक स्तर (बिहार में) १
सिंगबोंगा ६, १०, १०७, १२४, १७६
सिदु १४८
लामू १४८, १४६
वेद १५६, १५७
स्त्रियों का स्थान ५६, ११७, ११८
सोसोबोंगा ४३, १०८, १७८,
सोहरांई ११, ६७, ७१, ७३, १०८, १७८
सौरिया पहाड़िया १४३, २१, १५५
उपसंहार १५४, १५५
गांव १४४, १४६
जन्म संस्कार १४७, १४८
पर्व त्योहार तथा धार्मिक विश्वास १५२ १५३
मृतक संस्कार १५१, १५२
विवाह संस्कार १४८-१५१
सामाजिक एवं राजनीतिक संस्थाएं १५३-१५४
सामाजिक व्यवस्था १४६-१४७
शिक्षा १५४
सेंदरा
दीसुम १६२
पागु ८४
बैसी ७५, ७६
सेन गुप्ता बी० एम० २०
हठ विवाह १०४
हण्टर ६६
हड़िया २८, ७२, ७३, १६५ (दे इली)
हागसन २१९
हातु पंचायत १०६
हातु बोंगा १०७
हापड़ानको ७०
हाफमैन ६, १०, १५, २२०
हूटन २६, २७
हो ४, ५, ७, ६, १०, १२, १४, १६, १८, २१, २४, २७, २८, ३०, ३२, ३५, ३६, ४१, ७७, ८६, ६६, १११-१२५, २१३
उद्योग और पारस्परिक सहयोगिता ११५
कृषि कार्य ११५
गाँव की बनावट ११२-११३
घर की बनावट ११३
जीवन चक्र ११८-१२४
त्योहार १२४-१२५

द्रव्य और विनिमय ११५-११६
धर्म १२४
परिवार ११६-११७
प्रारम्भिक शिक्षा और सभ्यता ११६
बचपन ११८
भोजन, वस्त्र एवं आभूषण ११३-११४
वास्तुकला ११४-११५
विवाह विधान १२०-१२२
वृद्धावस्था की व्याधि और चिकित्सा १२२-१२३
शुद्ध कार्य १२३-१२४
सामाजिक संगठन ११६
स्त्रियों का स्थान ११७-११८
होड़ ६६-७१
उय ७१
बोंगा ६६-७०
साफा ७०-७१
होड़ संवाद ४७, १२०
होयोन १७४, १७६
हैमैसी ६०

—:०(०)०:—

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२	२५	का भी	काठ की
२	३१	वस्तएं	वस्तुओं
४	३	स	इस
४	६	ह	हैं
४	३१	आ रहें हैं	आ रहीं हैं
७	२२	ल की विशे से	लड़की विशेष से
७	२६	जोनोंग	गोनोंग
११	८	माघी	माघे
११	१३	पाठा पंचायत	पाढ़ा पंचायत
१२	१४	पाठा पंचायत	पाढ़ा पंचायत
११	२०	माघी	माघे
१२	१३	बात……थे	बातें……थीं
१४	७	नेतृत्व विज्ञान	नृतत्व विज्ञान
१४	६	ऊनशीलन	अनुशीलन
१४	२१	"जनैल"	"जर्नल
१४	२४	"मालर"	मालेर"
१५	५	हांफमान	आफमैन
१५	२०	"मैन इन इंडियन"	"मैन इन इंडिया"
१६	१०	युक्ति	उक्ति
१६	२०	डिस्कीपरीम	डिस्कीपटिभ
१६	२३	इनका	इनकी
१८	६	सांगों ांग	सांगोपांग
१८	२२	लो ों	लोगों
१६	१४	न	ने
२२	२८	कारखान	कारखानें
२३	१४	मनष्य	मनुष्य
२७	१७	न	ने
२८	११	द्राविडिय	द्राविडियन
३५	१६	अभि चि	अभिरुचि
३५	२०	लेन	लेने
३५	२२	खदी जाय	खदी की जाय
३८	६	तन्माता	तन्मयता
३८	१३	उमां	उर्मंग
३८	२७	देखन	देखने
४०	५	ोनों	दोनों
४०	११	कुसुनियां	कुमनियां
४०	२५	केंडरा	केंदरा
४०	२७	गीन	रंगीन
४०	३०	चलन	चलने
४२	३१	कथाअ	कथाओं
४३	१	आधिगैदिक	आधिदैविक
४३	२३	जरा	जरगा
४६	१५	अकर	आकर
४६	२४	अधर	अंधकार
४६	१३	अपन	अपने
५१	७	महाल	महल
५२	२३	ढालुअ	ढालुआ
६०	१४	छयिार	छठियार
६०	२२	ाचो	चाचो
६२	७	खतों	खेतों
७०	१३	हापढामको	हापढानको
७०	२६	बनत	बनता
७०	३१	ोते	होते
७७	२५	बिहर	बिहार
७६	१७	नदनगढ़	नन्दनगढ़
७६	२४	भौमी	नौभी
८४	८	लबेदा	लेबदा
८४	६	आखेट क	आखेट का
८६	३	उरषों	उरांवों
८८	७	नहान	महान्
६७	१६	खुदकट्टी	खुंटकटी

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१०१	६	हा	हो
१०६	२३	पूजर	पुजार
११३	२४	रयत	रैयत
११५	१३	माध्य	माध्यम
११५	३०	परिश्रमिक	पारिश्रमिक
११६	१३	पाधों	पौधों
११७	६	प्रतिभू	प्रतिभा
११७	२२	प्रवृति	प्रवृत्ति
१२३	३०	कोली	कीली
१२७	४	लया	लाया
१२७	१३	जिने	जिन्हें
१३३	३	आर	और
१३६	६	प्रयगो	प्रयोग
१४४	५	'माल' या' मालोर'	'माले' या' मालेर'
१५०	५	बलघु गोसाई	बिलपु गोसाई'
१५२	२	हंड्डिया	हंड्डिया
१५२	११	बेन गोसांई	बेरू गोसांई
१५२	१२	बिल्ब गोसांई	बिलपु गोसांई
१५३	१८	'मांम्रा'	'माम्री'
१५८	२५	बन के लिए	बनाने के लिए
१६४	३०	अर्धक	अधिक
१८१	२३	आस्ट्रिक्र	आस्ट्रिक
१८१	२६	प्रोटो आस्ट्रोत्वायड	प्रोटो आस्ट्रोल्वायड्
१८४	६	'तो रोज फेयर'	'लैसे फेयर'
१६२	२५	शलाओं	शालाओं
१६३	११	रंगीत	संगीत
१६३	२४	अपन पंक्तियों	अपनी पंक्तियों
१६४	६	के गृहकला	की गृहकला
१६६	२६	प्रजचय	प्रश्रय
२०४	१६	दर कमें	दर में
२०८	१	याजना	योजना
२१२	२२	द्राविदियन	द्राविडियन
२१३	८	भाषा भी	भाषा की
२१५	१८	पला	पलामू
२१६	२६	पाट	पाठ
२१८	६	१६४६	१६४१
२२२	१६	द्यातुक.	धोढुल
२२२	१८	गजुठियर	गजेटियर
२२४	२३	स्टोर	स्टोरी
२२६	१३	जिव्द	जिल्द
२२७	२७	फीटम	फ्रीडम
२२६	१२	परिच्चाएं	परीक्षा
२२६	१७	कडो	कड़ी
२२६	२६	चिपटे नाक	चिपटी नाक
२३६	३	सारूपयता	सारूप्यता
२३६	८	स्तन्य त्यानन	स्तन त्यजन